पंडित दौलतराम कासलीवाल
और
उनका साहित्य

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर की
'पी-एच० डी०' उपाधि-हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

निर्देशक
डॉ० राधेश्याम जांगिड़
सह-आचार्य, हिन्दी-विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

प्रस्तुतकर्त्ता
वीरसागर जैन

हिन्दी-विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
1997

विषयानुक्रमणिका*

क्रम		पृष्ठ-संख्या
1.	प्राक्कथन	4 से 6
2.	पृष्ठभूमि **तत्कालीन परिवेश**	7 से 19
3.	प्रथम अध्याय **जीवनवृत्त एवं व्यक्तित्व**	20 से 49
4.	द्वितीय अध्याय **रचनाएँ : वर्गीकरण एवं परिचय**	50 से 118
5.	तृतीय अध्याय **चरितकाव्य**	119 से 157
6.	चतुर्थ अध्याय **विचारकाव्य**	158 से 224
7.	पंचम अध्याय **गद्य-विधाएँ**	225 से 263
8.	षष्ठ अध्याय **भाषा और छन्द**	264 से 303
9.	सप्तम अध्याय **उपसंहार**	304 से 308
10.	परिशिष्ट–1 **सहायक-ग्रन्थ-सूची**	309 से 315
11.	परिशिष्ट–2 **चतुर-चितारणी**	316 से 321

* विस्तृत विषयसूची प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में एक स्वतंत्र पृष्ठ पर दी गई है।

प्राक्कथन

इसे विडम्बना ही कहा जाएगा कि आज से लगभग 70 वर्ष पूर्व और वह भी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे विद्वान साहित्येतिहासकार द्वारा विशेष उल्लेख कर दिये जाने पर भी हिन्दी-जगत् पं० दौलतराम कासलीवाल और उनके साहित्य से अद्यावधि अपरिचित ही है; जबकि पं० दौलतराम कासलीवाल का साहित्य मात्रा एवं गुणवत्ता– दोनों ही दृष्टियों से समूचे हिन्दी-साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

हिन्दी-जगत् को वर्तमान में पं० दौलतराम के सम्बन्ध में मात्र इतना ज्ञात है कि वे खड़ी बोली गद्य के आदि लेखक हैं और उनकी कृतियों के नाम 'पद्मपुराण' व 'आदिपुराण' या 'महापुराण' हैं, किन्तु वे प्रौढ़-गद्य–लेखक होने के साथ–साथ उत्कृष्ट कवि भी हैं और उन्होंने एक नहीं, दस-दस अनूठी काव्य-कृतियाँ भी हिन्दी-जगत को भेंट की हैं– यह अद्यावधि कोई नहीं जानता। इसी प्रकार गद्य-लेखन के क्षेत्र में भी वे मात्र 'पद्मपुराण' व 'आदिपुराण' के ही कर्ता समझे जाते हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि उन्होंने एक से बढ़कर एक 10 अतिविशाल गद्य-कृतियों का निर्माण किया है। इस प्रकार गद्य एवं पद्य– दोनों के क्षेत्र में पं० दौलतराम का योगदान अविस्मरणीय है।

यहाँ यह और भी महत्त्वपूर्ण बात है कि पं० दौलतराम कासलीवाल का साहित्य रीतिकाल में लिखा जाकर भी और रचनाकार के राज-दरबार से जुड़े होने पर भी शृंगारिकता से मुक्त है, जन-जीवन से संपृक्त है और अत्यन्त निःस्वार्थ एवं जन-कल्याण की भावना से लिखा गया है; अतः उसका अध्ययन हिन्दी–साहित्य के लिए निश्चय ही बड़े काम का सिद्ध होगा।

भाषा की दृष्टि से भी पं० दौलतराम कासलीवाल का साहित्य अपना विशिष्ट महत्त्व धारण करता है, क्योंकि वह उस मिश्रित भाषा में रचा गया है जो तीन-तीन भाषाओं के सम्मिलन या एकीकरण से बनी है– ब्रज, राजस्थानी और खड़ी बोली। मिश्रित भाषा का ऐसा समवाय हिन्दी भाषा के इतिहास की महती अद्भुत घटना है। अतः यह अध्ययन तत्कालीन साहित्यिक हिन्दी के स्वरूप एवं अभिव्यक्ति-सामर्थ्य को आत्मसात् करने की दृष्टि से भी उपादेय सिद्ध होगा।

पं० दौलतराम कासलीवाल का साहित्य विशेषतः जैन-साहित्य की कोटि में आता है, अतः उसके शोधपूर्ण अध्ययन से हिन्दी-साहित्य के साथ-साथ जैन-साहित्य की भी श्रीवृद्धि होगी तथा मध्ययुगीन जैन-साहित्य की प्रवृत्तियों के परिज्ञान में भी विशेष सहायता प्राप्त होगी।

इन्हीं सब बातों का बारम्बार विचार करते हुए मैंने अपने प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का विषय "पण्डित दौलतराम कासलीवाल और उनका साहित्य" चुना।

मैं इसमें कहाँ तक सफल हो सका हूँ– यह तो नहीं जानता, किन्तु विनम्रतापूर्वक इतना अवश्य कहना चाहता हूँ कि मैंने इस दिशा में इस प्रकार का यह प्रथम प्रयास किया है और यद्यपि मेरा यह प्रयास अत्यन्त लघु है तथापि मुझे आशा है कि विद्वज्जनों को प्रस्तुत शोध-कार्य से दिशा एवं प्रेरणा प्राप्त होगी; क्योंकि अभी इस दिशा में शोध की अगणित संभावनाएँ और विद्यमान हैं। यथा, पं० दौलतराम के चरितकाव्य, विचारकाव्य और गद्य-विधाओं पर पृथक्-पृथक् शोध-प्रबन्ध तैयार किये जाने चाहिए, तभी उनका सर्वांग अध्ययन हो सकेगा। यहाँ तक कि उनकी 'अध्यात्मबारहखड़ी' आदि कतिपय कृतियाँ तो इतनी विशाल और इतनी अनूठी हैं कि स्वतंत्र शोध-कार्य के बिना उनका मूल्यांकन हो ही नहीं सकता। इसीप्रकार भाषा की दृष्टि से भी पं० दौलतराम के साहित्य का विस्तृत एवं स्वतंत्र शोध-अध्ययन अपेक्षित है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध 7 अध्यायों में विभाजित है, किन्तु उनके प्रारम्भ में पृष्ठभूमि और अन्त में 2 परिशिष्ट भी दिये गये हैं, जिनका परिचय 'विषयानुक्रमणिका' से प्राप्त हो जाता है। 'परिशिष्ट–2' में दी गई रचना 'चतुर-चितारणी' पं० दौलतराम की अद्यावधि अप्रकाशित ही नहीं, सर्वथा अज्ञात कृति भी रही है। यहाँ यह पं० दौलतराम के कविरूप को समझने के लिए नमूने का कार्य भी करेगी। यहाँ इसके सम्बन्ध में एक विशेष निवेदन यह है कि 'चतुर-चितारणी' का छन्द सोरठा है और सोरठे की लोक एवं शास्त्र-विहित पहचान यही है कि उसे दो पंक्तियों में लिखा जाए, किन्तु यहाँ परिशिष्ट में इसे स्थान के लोभ में एक पंक्ति में ही पूरा लिख दिया है।

पं० दौलतराम कासलीवाल की अधिकांश (20 में से 13) रचनाएँ अप्रकाशित हैं और देशभर के विभिन्न ग्रन्थालयों में हस्तलिखित रूप में उपलब्ध हैं। हस्तलिखित पाण्डुलिपियों को विभिन्न ग्रन्थ-भण्डारों से खोजना और प्राप्त करना कितना कठिन होता है– यह कोई भुक्तभोगी ही जान सकता है; किन्तु मुझे प्रायः सभी ग्रन्थालय-प्रबन्धकों का इतना अधिक सहयोग प्राप्त हुआ कि मैंने इस दुष्कर कार्य को पर्याप्त आसानी से पूर्ण कर लिया। श्री भट्टारक यशःकीर्ति दि० जैन सरस्वती भवन, ऋषभदेव के मंत्री पं० चन्दनलालजी शास्त्री, श्री दि० जैन बड़ा मन्दिर तेरापंथियान, जयपुर के ग्रन्थालय-प्रबन्धक श्री ब्रजमोहनजी, श्री विनयकुमारजी पापड़ीवाल व श्री सुरेन्द्रकुमारजी पहाड़िया, श्री दि० जैन मंदिर लूणकरण पांड्या का, जयपुर के ग्रन्थालय-प्रबन्धक श्री मिलापचन्दजी बगायतवाले, श्री दि० जैन मन्दिर, धर्मपुरा, दिल्ली के ग्रन्थालय-प्रबन्धक श्री लाला सुमतप्रसादजी और श्री दि० जैन मन्दिर बाबा भगीरथ वर्णी वालान, खतौली के ग्रन्थालय-प्रबन्धक श्री अशोककुमारजी जैन का मैं इस अवसर पर विशेष रूप से आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने मेरे साथ घण्टों तक ग्रन्थालयों

में रहकर पं० दौलतराम कासलीवाल के दुर्लभ ग्रन्थों को खोजा और फिर उनकी फोटोस्टेट प्रति भी मुझे उपलब्ध कराई।

इसके अतिरिक्त जैन-साहित्य एवं इतिहास के मनीषी विद्वान डॉ० कस्तूरचन्दजी कासलीवाल का भी मैं इस अवसर पर कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करता हूँ, जिन्होंने इस शोधकार्य हेतु मुझे बार-बार प्रबल प्रेरणा तो दी ही, समय-समय पर आनेवाली समस्याओं का अमूल्य समय निकालकर समाधान भी किया।

परम श्रद्धेय गुरुवर (डॉ० राधेश्यामजी जांगिड़) के सम्बन्ध में क्या लिखूँ ? यह सम्पूर्ण शोधकार्य उन्हीं के स्नेहपूर्ण आशीर्वाद और महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शन का परिणाम है। मैं इस अवसर पर उनके श्रीचरणों में कृतज्ञतापूर्वक प्रणाम करता हूँ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को निर्दोष व नयनाभिराम रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय रीयल टाइम प्रिण्ट्स, नई दिल्ली के स्वामी श्री राजीव बंसल को है, अतः मैं उनका भी हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ।

अन्त में, मेरा यह कार्य जैसा भी बन पड़ा है, इन शब्दों के साथ प्रस्तुत है:—

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधंति सज्जनाः।।

विनीत

(वीरसागर जैन)

संकेत-सूची

ई०	—	ईस्वी
उ०प्र०	—	उत्तर प्रदेश
गुज०	—	गुजरात
डॉ०	—	डॉक्टर
दि०	—	दिगम्बर
पं०	—	पण्डित
ब्र०	—	ब्रह्मचारी
म०प्र०	—	मध्य प्रदेश
राज०	—	राजस्थान
वि०सं०	—	विक्रम संवत्

पृष्ठभूमि

तत्कालीन परिवेश

क्रम.	पृष्ठ-संख्या
0.1 सामाजिक परिवेश	**8**
0.2 राजनीतिक परिवेश	**9**
0.3 साहित्यिक परिवेश	**14**
0.4 सांस्कृतिक परिवेश	**18**

पृष्ठभूमि

तत्कालीन परिवेश

0.0.साहित्य साहित्यकार की अन्तश्चेतना की कलात्मक शाब्दिक अभिव्यक्ति का नाम है और कलाकार की अन्तश्चेतना के निर्माण में अध्ययन-अभ्यास के अतिरिक्त युगीन परिवेश का भी बहुत योग होता है; अतः किसी भी साहित्यकार एवं उसके साहित्य के अध्ययन के लिए तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अवस्थाओं का ज्ञान होना अनिवार्य है।

0.1. सामाजिक परिवेशः-

पं० दौलतराम का समय सामाजिक दृष्टि से अधःपतन का युग कहा जा सकता है। इस समय देश की सामाजिक स्थिति अत्यन्त विषम थी। चारों ओर सामन्तवाद का बोलबाला था और सामन्तशाही के जितने भी दोष हुआ करते हैं, उनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव जनसामान्य के जीवन पर पड़ रहा था। सामाजिक व्यवस्था का केन्द्रबिन्दु बादशाह था और शेष सब कर्मचारी अपने पदानुसार उसके ही अधीन थे। ये सब कर्मचारी अपने से नीचेवाले को बहुत तुच्छ या मात्र अपनी सम्पत्ति समझते थे। वे उनका अस्तित्व केवल अपने लिए मानते थे। यह सब शासकों का वर्ग था। शासित वर्ग में एक ओर श्रमजीवी और कृषक आते थे और दूसरी ओर सेठ–साहूकारादि। इन दोनों से ही शासक वर्ग को कर के रूप में भारी आय प्राप्त होती थी। सेठ-साहूकारादि तो कृषकों और श्रमजीवियों की कमाई को नानाविध उपायों द्वारा प्राप्त कर लेते थे, लेकिन कृषक श्रमजीवियों का यह निम्नवर्ग समाज में सभी प्रकार से शोषित था। इसके बाद भी इस वर्ग की आय के एक मात्र साधन कृषि की भी युद्धों, सेना-प्रयाणों, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि के कारण हानि होती रहती थी।

इस समय में समाज में पंचायत-प्रथा का भी बहुत जोर था। पंचायत की आज्ञा बिना कोई भी विशेष आयोजन नहीं किया जा सकता था। समाज एवं जाति से बहिष्कृत करना पंचों का साधारण कार्य था।

इस प्रकार "इस युग में गरीबों की स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी और शासक एवं सम्पन्न वर्ग श्रम किये बिना ही सम्पन्न था। जनसाधारण की चिकित्सा, शिक्षा, सम्पत्ति–रक्षा आदि का भी इस काल में कोई प्रबन्ध न था।[1]"

---

1. हिन्दी-साहित्य का इतिहास (डॉ० नगेन्द्र), पृष्ठ 297

0.2. राजनीतिक परिवेशः–

पं० दौलतराम कासलीवाल का समय राजनीतिक दृष्टि से मुगलों के उत्तरोत्तर पतन और विनाश का युग था। दिल्ली की गद्दी पर औरंगजेब के पश्चात् उसका द्वितीय पुत्र शाह आलम (प्रथम) बैठा। वह यद्यपि कुछ उदार था, लेकिन अधिक समय जीवित नहीं रह सका। उसके बाद सन् 1712 ई० से इस साम्राज्य का पतन प्रारम्भ होता है। लगभग 50 वर्ष तक शासन एक प्रकार से स्थिर न हो सका। राजगद्दी पर अल्पकाल के लिए ही लोग आते रहे; जो कुछ अधिक समय के लिए आये, वे विलास में निमग्न रहने के कारण राज्य की देखभाल न कर सके; परिणामतः अव्यवस्था और अशांति इतनी बढ़ती गई कि छोटे–छोटे जागीरदार भी अपने–आपको स्वतंत्र घोषित कर बैठे और धीरे–धीरे केन्द्र की पकड़ इतनी शिथिल हो गयी कि साम्राज्य अब दिल्ली और आगरा के क्षेत्र तक ही सीमित रह गया। इसी बीच सन् 1738 ई० में नादिरशाह का आक्रमण हुआ, उसने इस शासन की नींव प्रायः हिला डाली। जो कुछ शेष रह गया था उसकी कमी अहमद शाह अब्दाली के 1761 ई० के आक्रमण ने पूरी कर दी। विदेशी व्यापारियों ने इस स्थिति का पूरा–पूरा लाभ उठाया और वे भीतर ही भीतर शक्ति का संचय करने लगे।[1]

केन्द्रीय शासन की भाँति प्रदेशों की स्थिति भी कुछ ऐसी ही रही। राजस्थान में भी विलास और बहुपत्नी-प्रथा इतनी बढ़ गई थी कि औरंगजेब के बाद राजपुरुष कुचक्रों, षड़यंत्रों और आन्तरिक कलह के शिकार होकर इतने निर्वीर्य हो गये कि अपना सारा ही पुराना गौरव भूल बैठे।

राजनीतिक दृष्टि से पं० दौलतराम कासलीवाल का सम्बन्ध राजस्थान में उदयपुर और जयपुर– इन दो नगरों से ही विशेष रहा है, अतः यहाँ प्रदेश के स्तर पर इन दो नगरों का ही राजनीतिक परिवेश अध्येतव्य है।

उदयपुर उस समय मेवाड़ की राजधानी थी। मेवाड़ और मुगलों के बीच कभी मित्रता के सम्बन्ध स्थापित हो गये थे, लेकिन वे औरंगजेब के समय में उसकी धार्मिक असहिष्णुता की नीति के कारण समाप्त हो गये। यह राजा अमरसिंह का समय था।

उसके बाद वहाँ महाराणा जगतसिंह (द्वितीय) का शासन प्रारम्भ हुआ। इनके विषय में इतिहासकार श्री जगदीशसिंह गहलोत ने लिखा है कि "महाराणा जगतसिंह के शासन-काल में राज्यप्रबन्ध शिथिल हो गया था। सरदार लोग मनमानी करने लगे थे। उनमें आपस में फूट पड़ गई। राज्य में चोरी–डकैती होने लगी। इधर महाराणा ऐश आराम में पड़े हुये थे। इसलिए वे राज्यप्रबन्ध

1. हिन्दी-साहित्य का इतिहास (डॉ० नगेन्द्र), पृष्ठ 296

ठीक नहीं चला सकते थे। हाथियों की लड़ाई, शिकार, गाने-बजाने में ही महाराणा मस्त रहते थे। इससे मरहठों की मेवाड़ में बन आई, जिन्होंने मेवाड़ से खिराज लेना शुरु किया। महाराणा का स्वर्गवास वि०सं० 1808 की आषाढ़ बदी 7 (ई० सन् 1751, दि० 5 जून) को हुआ।[1]"

इस समय तक पं० दौलतराम कासलीवाल उदयपुर से जयपुर आ चुके थे। उदयपुर--प्रवास में उन पर इन महाराणा जगतसिंह की विशेष कृपा थी। पण्डितजी ने स्वयं इसका उल्लेख किया है। यथाः--

"उदियापुर ता मांहि, राजधानी अति सोहै।
जगतसिंह महरांण, पाट सीसोदिन को है।।
रहै रांण के पास, रांण अति किरपा करई।
जानै नीकौ जाहि, भेदभाव जु नहिं धरई।। [2]"

महाराणा जगतसिंह के जयपुर के महाराजा सवाई जयसिंह से पहले बड़े अच्छे सम्बन्ध थे, जयसिंह के पुत्र माधोसिंह उदयपुर-महाराजा अमरसिंह की राजकुमारी चन्द्रकुँवरि के ही पुत्र थे; किन्तु बाद में जब सवाई जयसिंह ने अपने इकरारनामे के अनुसार माधोसिंह को अपना उत्तराधिकारी राजा नहीं बनाया और उसके स्थान पर ईश्वरीसिंह को ही राजा बना दिया तो उनकी जयपुर-राज्य से लड़ाई छिड़ गई। सवाई जयसिंह की तो मृत्यु हो ही चुकी थी, अतः लड़ाई ईश्वरीसिंह से प्रारम्भ हुई। मेवाड़ के महाराणा जगतसिंह ने कोटा-नरेश दुर्जनशाल और बूँदी-नरेश उम्मेदसिंह की सहायता से जयपुर पर आक्रमण कर दिया। बनास नदी के ऊपर राजमहल नामक स्थान पर दोनों पक्षों में युद्ध हुआ जिसमें ईश्वरीसिंह विजयी हुआ, किन्तु अगस्त 1748 ई. में बगरू नामक स्थान पर पुनः युद्ध हुआ, जिसमें जयपुर हार गया।[3]

इस प्रकार महाराणा जगतसिंह या तो ऐश-आराम में पड़े हुये थे या थोड़े समय के लिए इस भागदौड़ में लगे हुये थे। राज्य की सुव्यवस्था की ओर उनका कोई ध्यान नहीं था। इस सम्बन्ध में 'संक्षिप्त वीर-विनोद' का यह अंश पठनीय है:--

"महाराणा जगतसिंह (द्वितीय) चाहते तो थे कि राज्यप्रबन्ध बहुत अच्छा हो ..... लेकिन महाराणा को अपने ऐश और इशरत से ही समय नहीं मिलता था। इसलिए हुकूमत में ढील आ गई।

---

1. राजपूताने का इतिहास, पहला भाग, पृष्ठ 263
2. जीवन्धरस्वामिचरित, अंतिम ग्रन्थ-प्रशस्ति, छन्द 2 और 4
3. राजस्थान का इतिहास, पृष्ठ 192

उनकी बातों में स्थिरता नहीं थी। वे कभी सलूम्बर के रावत कुबेर सिंह की बातों पर अधिक विश्वास करते थे तो कभी रावत जसवंतसिंह को अपना सलाहकार बना लेते। कभी मराठों से मेल करते तो कभी उनको दुश्मन बना लेते। कभी जोधपुर के महाराजा अभयसिंह को अपना दोस्त बनाते तो कभी बख्तसिंह की सलाह पर चलते। कभी बूँदी के राव उम्मेदसिंह की मदद को तैयार होते तो कभी दलेलसिंह की तरफदारी करते। ऐसी बातों से लोगों का विश्वास उठता जा रहा था। इस पर भी माधवसिंह को जयपुर की गद्दी पर बिठाने का इरादा माल और मुल्क को बरबाद करने वाला हो गया।[1]

अब जयपुर का राजनीतिक परिवेश ज्ञातव्य है। जयपुर में उस समय सवाई जयसिंह (शासनकाल –सन्1699 से 1743 ई०) राज्य कर रहे थे। वे बहुत योग्य और दूरदर्शी शासक थे। उन्होंने केन्द्रीय मुगलसत्ता से आत्मरक्षा भी की और उसके विघटन का लाभ भी उठाया। उन्होंने मारवाड़ और मेवाड़ के राजाओं के सहयोग से अपने राज्य की शक्ति एवं व्यवस्था को सुदृढ़ बनाया और अपने राज्य के चहुँमुखी विकास के लिए बहुत कुछ किया। महाराजा सवाई जयसिंह केवल वीर योद्धा एवं कुशल राजनीतिज्ञ ही नहीं थे, किन्तु अच्छे नगर-निर्माता भी थे। वर्तमान जयपुर जो गुलाबी नगर के नाम से प्रसिद्ध है, का भव्य निर्माण उनकी ही देन है। अपने राज्य को जनकल्याणकारी और प्रगतिशील बनाने की दिशा में वे अपने समकालीन समस्त देशी-विदेशी शासकों की तुलना में बहुत आगे थे। वे सभी धर्मों के प्रति समानभाव से बहुत उदार थे और विद्वानों का इतना सम्मान करते थे, कि जिसकी बराबरी करने वाला दूसरा राजा इतिहास में शायद ही अब तक कोई हुआ हो। प्रसिद्ध इतिहासकार कर्नल टॉड ने लिखा है कि इस राजा को जैनधर्म के सिद्धान्तों एवं इतिहास का अच्छा ज्ञान था और उनकी विद्या-बुद्धि के कारण भी वह जैनियों का काफी सम्मान करता था। इस राजा की ज्योतिष-विषयक गवेषणाओं में भी उसका प्रधान सहायक विद्याधर नामक जैन विद्वान था।

महाराजा सवाई जयसिंह का समय (वि० सं० 1765 ई 1800 तक) ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा ही सुन्दर रहा है। उन्होंने देहली, बनारस, उज्जैन, मथुरा और जयपुर में ज्योतिष-यंत्रालय स्थापित किये, जिसमें फ्रैंच व पोर्तुगीज के ज्योतिषियों ने महाराज की बड़ी सहायता की।[2]

सवाई जयसिंह के पश्चात् उनका बड़ा पुत्र ईश्वरीसिंह (शासनकाल– सन् 1744 से 1750 ई० तक) राजगद्दी पर बैठा। उन दिनों जयपुर की राजगद्दी पर गृह-कलह की काली घटा छायी हुई थी। यद्यपि ईश्वरीसिंह एक सज्जन राजा थे, तथापि गृहशत्रुओं के कुचक्र से उनका अन्त हो गया। उनके पश्चात् उनका अनुज माधोसिंह (शासनकाल– सन् 1751 से 1767 ई०) राजा बना।

1. संक्षिप्त वीर-विनोद, पृष्ठ 130–131
2. हितैषी, जयपुर विशेषांक, पृष्ठ 153–154

साम्प्रदायिक उपद्रवों की दृष्टि से माधोसिंह का शासनकाल अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण रहा। इसमें जैनियों को दो बार साम्प्रदायिक विद्वेष का शिकार होना पड़ा। अपने समस्त उदार आश्वासनों के बावजूद शासन उन्हें सुरक्षा और न्याय देने में असमर्थ रहा। इस समय शासन पर पुरोहितों का अधिक प्रभुत्व रहा, राजा का ध्यान प्रजा की ओर से हट गया। वि०सं० 1818 से 1826 तक सारे राज्य में शैवों और जैनों में साप्रदायिक दंगे होते रहे। राज्य में शैवों का प्रभुत्व होने के कारण बहुत से जैन मन्दिरों को नष्ट कर दिया गया तथा कितने ही जैन मन्दिरों को शिव-मन्दिर में परिवर्तित कर दिया गया। केवल आठ-नौ वर्ष में ही इस प्रकार के भयंकर उपद्रव तीन बार हुये।

वि०सं० 1818 (सन् 1761ई०) में जिस समय पानीपत के मैदान में मराठा और अफगानों का युद्ध चल रहा था, उस समय राजा माधोसिंह का मुँह लगा पुरोहित श्याम तिवारी जयपुर के जैनियों को साम्प्रदायिक द्वेष की ज्वाला में भून रहा था। तत्कालीन कवि बखतराम शाह ने अपने 'बुद्धिविलास' (वि०सं० 1827) में लिखा है कि उसने किसी प्रयोग से महाराजा माधोसिंह को अपने वश में कर लिया। महाराजा ने उस श्याम तिवारी को सभी धर्मगुरुओं का प्रधान बना दिया और आचमन (संकल्प) करके राज्य का पूरा भार ही उसे सौंप दिया। इससे सारे राज्य में ही उत्पात होने लगे। महाराजा से मनमाना आदेश लेकर जैनों को रात्रिभोजन करने पर मजबूर किया जाने लगा तथा उनके मन्दिरों को तोड़-फोड़ दिया गया। राज्य के समस्त जैनों को इतना आतंकित कर दिया गया कि उनका दर्शन, स्वाध्याय एवं पूजा-पाठ भी बन्द हो गया। किसी मन्दिर को आधा और किसी को पूरा ही नष्ट कर दिया गया। चारों ओर श्याम तिवारी के अत्याचार होने लगे। किसी से कोई उपाय नहीं बन सका; लेकिन जब महाराजा माधोसिंह को श्याम तिवारी के इन अत्याचारों की असलियत का पता चला तो उन्हें बहुत क्रोध आया। उन्होंने उसे यथोचित दण्ड दिया एवं भरी दुपहरी में राज्य से निकलवा दिया। वह अपने साथ केवल एक धोती और एक दुपट्टा ले जा सका। 'बुद्धि-विलास' का सम्बन्धित मूल पाठ इस प्रकार है:-

"संवत् अट्ठारह से गये, ऊपरि जकैं अठारह भये।
तब इक भयो तिवाड़ी श्याम, डिंभी अति पाखंड को धांम।।1289।।

* * * *

करि प्रयोग राजा वसि कियो, माधवेस नृप गुरपद दियौ।।1290।।
लियो आचमन पाव पखार, सौप्यो ताहि राज सब भार।
दिन कितेक बीते हैं जबैं, महा उपद्रव कीनों तबै।।1291।।

हुक्म भूप को लेकै चाहि, निस जिमाय देवल दिय ढाहि।
अमल राज को जैनी जहां, नॉव न ले जिनमत को तहाँ।।1292।।

* * * *

कोए आधों कोऊ सारो, वच्यौ जहां छत्री रखवारो।
काहू मै सिवमूरति धर दी, अैसी मची स्याम की गरदी।।1295।।

* * * *

अकस्मात कोप्यो नृप भारी, दियो दुपहरा देश निकारो।
दुपटा धोति धरे द्विज निकस्यो, तिय जुत पापनि लखि जग विकस्यौ।।1299।।"

बखतराम शाह के अतिरिक्त अन्य भी अनेक तत्कालीन साहित्यकारों ने इस घटना का स्पष्ट उल्लेख किया है। तत्कालीन श्रावक ब्र० रायमल ने अपनी 'जीवन-पत्रिका' में इस घटना का उल्लेख इस प्रकार किया है:—

"संवत् 1817 के सालि अषाढ़ के महिने एक स्यामराम ब्राह्मण वाके मत का पक्षी पापमूर्ति उत्पन्न भया। सजा माधवसिंह का गुर ठाहरया, ताकरि राजानै वसि कीया, पीछैं श्री जिनधर्म सूँ द्रोह करि या नग्र के वा सर्व ढूंढाड़ देश का जिन मंदिर तिनका विघ्न कीया। सर्व कूं वैसनूं (वैणव) करने का उपाय कीया। ताकरि लाखां जीवां नै महा घोरानघोर दुख हूवा अर महापाप का बंध भया सो एह उपद्रव वरस ड्यौढ़ पर्यन्त रहा।[1]"

सन् 1790 ई० में लिखित 'सुबुद्धि प्रकाश' में कवि थानसिंह ने भी इस घटना का बड़ी स्पष्टवादिता और निर्भीकता से उल्लेख किया है:—

"माधव आगै सिव धरमी मुखियौ भयो।
जैन्यां सौं करि द्रोह बच में लै लियो।।
देव धर्म गुरु श्रुत को विनय विगारियौ।
कीयो नांहि विचारि पाप विस्तारियौ।।[2]"

इस घटना के बाद राज्य में शनैः शनैः पूर्ण शान्ति की स्थापना हो गई, लेकिन इसके बाद वि.सं. 1823–24 में राजा माधोसिंह के राज्यकाल में ही ये सांप्रदायिक उपद्रव एक बार पुनः भड़क

---

1. जीवन–पत्रिका, पृष्ठ 4
2. राजस्थान पत्रिका (दैनिक), दि० 3 अक्टूबर 1990, पृष्ठ 5 (स्थायी स्तंभ 'नगरपरिक्रमा' के अंतर्गत)

उठे जिनकी अन्तिम परिणति तत्कालीन महाविद्वान् प० टोडरमल के निर्मम प्राणान्त के रूप में हुई।

पं० टोडरमल के बलिदान के बाद राज्य में शान्ति स्थापित हुई ही थी कि महाराज माधोसिंह के पश्चात् शासन की बागडोर पृथ्वीसिंह[1] (शासनकाल– सन् 1768 से 1777 ई०) के हाथ में आई और उनके शासनकाल में वि० सं० 1826 में फिर वही साम्प्रदायिक उपद्रव हुआ, जिसमें जैनियों को अपार क्षति उठानी पड़ी। उनके मन्दिर लूट लिये गये और मूर्तियाँ नष्ट कर दी गईं। इस घटना का भी उल्लेख 'बुद्धि-विलास' में इस प्रकार मिलता है:–

"फुनि भइ छब्बीसा के साल, मिले सकल द्विज लघुर विसाल।
सबनि मतौ यक पक्को कियौ, सिव उठान फुनि दूसन दियौ।।1307।।
द्विजन आदि बहुमेल हजार, बिना हुकम पाये दरबार।
दौरि देहुरा जिन लिए लूटि, मूरति विघन करी बहु फूटि।।1308।।
काहू की मांनि नही कांनि, कही हुकम हमकौं है जांनि।
उरी म्लेच्छनि हू नहीं करी, बहुरि दुहाई नृप की फिरी।।1309।।"

उक्त वर्णनों से ज्ञात होता है कि जयपुर का तत्कालीन राजनीतिक वातावरण घोर अशान्तिपूर्ण रहा।

0.3. साहित्यिक परिवेश:-

आलोच्य काल साहित्य की दृष्टि से पर्याप्त समृद्ध कहा जा सकता है। यद्यपि औरंगजेब के रूक्ष स्वभाव के कारण मुगल दरबार से कवियों का सम्बन्ध कट गया था, किन्तु साहित्य पर इसका प्रभाव इसलिए विशेष रूप से न पड़ सका, क्योंकि देशी राजा और नवाब उन्हें आश्रय देते ही रहे।

इस काल के कवि यद्यपि साधारण वर्ग के व्यक्ति हुआ करते थे तथापि अपने आश्रयदाता देशी राजा-नवाबों से उन्हें इतना सम्मान मिलता था कि उनकी गणना समाज के प्रतिष्ठित लोगों में होती थी। यही कारण है कि इन कवियों ने अपनी कला का गुण और परिमाण – दोनों की दृष्टि

---

1. पंडित दौलतराम कासलीवाल ने महाराजा पृथ्वीसिंह के शासनकाल का वर्णन इस प्रकार किया है–

"नगर सवाई जयपुरा, जहां बसे बहु न्यात।
राजा पृथिवीसिंह है; जो कछुवाहा जाति।।3।।
शिरोभाग राजान में, ढूंढाहड़ पति सोय।
ताके मंत्री श्रावका, और न्यातहु होय।।4।।"– हरिवंशपुराण-वचनिका, अन्तिम ग्रंथप्रशस्ति।

से अधिकाधिक विकास किया। किन्तु दुर्भाग्य की बात यह रही कि इन्हें वह स्वतन्त्रता प्राप्त न हो सकी जो काव्य-निर्माण के लिए अनिवार्य है। इन्हें आश्रयदाताओं की अभिरुचि का विशेष ध्यान रखना पड़ता था, जिसका परिणाम यह होता था कि प्रतिभावान होते हुए भी इस काल के राज्याश्रित कवि अपने काव्य का सर्वोत्तम रूप प्रस्तुत कर सकने में असमर्थ रहते थे।

किन्तु इस काल में जन-समुदाय में ऐसे कवि भी विद्यमान थे, जो स्वतन्त्र रूप से काव्य की रचना कर रहे थे। अतएव उनकी रचनाएँ काव्यशास्त्रीय उपकरणों के बलात् समावेश से सर्वथा अछूती रही। यही कारण है कि इनका काव्य राजाश्रित कवियों के काव्यों की तुलना में अधिक प्रभाव-शाली है।

कुल मिलाकर इस युग में राजाश्रित कवियों और जनकवियों द्वारा रचित साहित्य गुण और परिमाण दोनों की दृष्टि से इतना समृद्ध है कि उस पर हिन्दी भाषा सहज ही गर्व कर सकती है।

राजाश्रित कवियों में बिहारी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं तथा जनकवियों में जायसी, तुलसी, कबीर, सूरदास, मीराबाई आदि कुछ समय पूर्व हो चुके थे और इस आलोच्य काल में दरिया सहाब, जगजीवनदास, सन्त चरणदास, पलटू सहाब, बाबा धरणीदास, दयाबाई, सहजोबाई आदि साहित्य-रचना कर रहे थे। आलोच्य काल के नीति-काव्यकारों में गिरधर कविराय और दीनदयाल का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

राजाश्रय से दूर रहकर जीवनोपयोगी साहित्य का निर्माण करने वाले कवियों में जैन-कवियों का बड़ा भारी योगदान है। आगरा और जयपुर इनके प्रमुख केन्द्र थे।

आगरा में इस समय भूधरदास, द्यानतराय, भैया भगवतीदास आदि अनेक जैन साहित्यकार हुये, जो वहाँ पं० बनारसीदास द्वारा स्थापित 'अध्यात्म-सैली' में तैयार हुये थे और जनकल्याण हेतु अथक परिश्रम करके भरपूर साहित्य-निर्माण कर रहे थे और देश के सभी भागों में उसका जोरदार स्वागत भी हुआ। दिल्ली, राजस्थान, मध्यप्रदेश आदि के सभी स्वाध्याय-प्रेमियों में इनकी रचनाओं का पठन-पाठन होने लगा। ये लोग शृंगार के नाम पर लिखे जा रहे अश्लील साहित्य का विरोध भी कर रहे थे। उनका कहना था कि इसका नाम काव्य नहीं है। उन्हें आश्चर्य होता था कि लोग सरस्वती के वरदान का कैसा दुरुपयोग कर रहे हैं। उन्होंने स्पष्ट रूप से 'रसिक प्रिया' जैसी पुस्तकों की नाम लेकर आलोचना की। बनारसीदास और भैया भगवतीदास के निम्नलिखित दो छन्द यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य हैं:—

"मांस की गरंथि कुच कंचन-कलश कहें,
कहें मुख चन्द्र जो सलेषमा को घरु है।
हाड़ के दशन आंहि हीरा मोती कहें तांहि,
मांस के अधर ओंठ कहें बिम्बफरु है।
हाड़ थंभ भुजा कहें केल नाल काम जुधा,
हाड़ ही की थंभा जंघा कहें रंगातरु है।
यों ही झूठी जुगति बनावैं औ कहावैं कवि,
एते पै कहैं कि हमें शारदा का वरु है।। [1]"

"बड़ी नीति लघु नीति करत है, बाय सरत बदबोय भरी।
फोड़ा आदि फुन गुनी मंडित, सकल देह मनु रोग दरी।।
शोणित हाड़ मांस मय मूरत, ता पर रीझत घरी-घरी।
ऐसी नारि निरख कर केशव ! रसिक प्रिया तुम कहा करी।। [2]"

शृंगार-विषयक साहित्य की ऐसी ही स्पष्ट आलोचना जैनेतर संतों ने भी की है। इस विषय में एक छन्द दादूपंथी सुन्दरदास का भी प्रस्तुत है:—

"रसिक प्रिया रस मंजरी, और सिंगारहिं जानि।
चतुराई करि बहुत विधि, विषै बनाई आंनि।।
विषै बनाई आंनि, लगत विषयनि कौ प्यारी।
जागै मदन प्रचण्ड, सराहैं, नखशिख नारी।।
ज्यौं रोगी मिस्ठान खाई, रोगहिं बिस्तारै।
'सुन्दर' यह गति होई, जुतौ रसिक प्रिया धारै।। [3]"

आगरा के लगभग सभी जैन साहित्यकार आत्मतत्त्व के प्रेमी थे, अध्यात्मवादी थे; जैसा कि वि० सं० 1780 में निर्मित 'धर्मविलास' के निम्नलिखित छन्द से स्पष्ट है:—

---

1. समयसार नाटक, अंतिम प्रशस्ति, छन्द 18
2. ब्रह्मविलास, छन्द 184
3. सुन्दर ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, छन्द 339

"ग्यानवान जैनी सबै, बसै आगरे मांहि।

अंतरग्यानी बहु मिलैं, मूरख कोऊ नांहि।। [1]"

आगरा की भाँति जयपुर में भी आमेर और सांगानेर में जैनकवियों द्वारा विपुल मात्रा में साहित्य-निर्माण किया जा रहा था। जयपुर के तत्कालीन जैन साहित्यकारों में आचार्यकल्प पं० टोडरमल, दीपचन्द कासलीवाल, पं० जयचन्द छाबड़ा, अजयराज पाटनी, ब्रह्म रायमल्ल, जोधराज गोदीका, किशनसिंह, नेमिचन्द, खुशालचंद काला, पाण्डे हेमराज, कवि टेकचन्द, नथमल बिलाला, महाकवि थानसिंह आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

पं. टोडरमल (वि. सं. 1778 से 1823 तक) उस समय के क्रान्तिकारी समाज-सुधारक और अद्‌भुत विद्वान थे। उनमें समाज को रूढ़ियों और अन्धविश्वासों से निकालकर सम्यक् मार्ग पर लाने की प्रबल भावना थी। उनके द्वारा लिखित सम्यग्ज्ञानचंद्रिका, मोक्षमार्ग-प्रकाशक एवं आत्मानुशासन और पुरुषार्थसिद्धि-उपाय की भाषा-टीकाएँ तत्कालीन जैन-साहित्यकारों का पथ-प्रदर्शन कर रही थीं। पं० दौलतराम कासलीवाल पं० टोडरमल के समकालीन विद्वान तो थे ही, घनिष्ट मित्र भी थे। पुराण-ग्रंथों की भाषावचनिकाएँ उन्होंने पं० टोडरमल की विशेष प्रेरणा के कारण ही सफलतापूर्वक की थी।[2] पं० टोडरमल द्वारा अधूरी छूटी हुई पुरुषार्थसिद्धि-उपाय की टीका को पं० दौलतराम कासलीवाल ने ही पूर्ण किया था।

पं० टोडरमल के परवर्ती प्रायः सभी साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं में पं० टोडरमल का उल्लेख बहुत बहुमान के साथ किया है। स्वयं पं. दौलतराम कासलीवाल ने भी पं० टोडरमलजी की विद्वत्ता का उल्लेख निम्न प्रकार किया है:–

"भाषाटीका ता ऊपर, कीनी टोडरमल्ल।

मुनिवर वृति वाकी रही, ताके मांहि अचल्ल।। [3]"

इस काल में जैन-साहित्यकारों ने हिन्दी-गद्य में भी पर्याप्त मात्रा में साहित्य-रचना की। प्राकृत, अपभ्रंश और संस्कृत के ग्रंथों की हिन्दी-गद्य में इतनी लोकप्रिय टीकाएँ लिखीं कि उन हिन्दी-भाषा के ग्रंथों की प्रतियाँ देश के कोने-कोने में सुलभ हो गईं। लोग उनका चाव से स्वाध्याय करने लगे। यद्यपि इन जैन-साहित्यकारों का प्रमुख केन्द्र राजस्थान (जयपुर) ही था, किन्तु उनकी रचनाओं का

---

1. धर्मविलास, सुबोध पंचासिका, पृष्ठ 48
2. महाकवि दौलतराम कासलीवालः व्यक्तित्व एवं कृतित्व, प्रस्तावना, पृष्ठ 20
3. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-भाषाटीका, अंतिम ग्रन्थ-प्रशस्ति, छन्द 3

पठन-पाठन गुजरात और बिहार तक में भी होने लगा। हिन्दी भाषा और उसके गद्य के प्रचार-प्रसार में इन जैन-साहित्यकारों का योगदान अविस्मरणीय है।

इन साहित्यकारों ने साहित्य-साधना से धन-प्राप्ति का यत्न कभी नहीं किया। लोकेषणा के लिए भी वे साहित्य-निर्माण के उज्ज्वल क्षेत्र में नहीं आये थे। साहित्य को वे जनकल्याण का उत्कृष्ट निमित्त समझते थे और उसके प्रति मात्र मनोरंजन जैसा हल्का दृष्टिकोण नहीं रखते थे। साहित्य-रचना वे केवल लोगों का भला करने के लिए करते थे। इस विषय में तत्कालीन जैन-साहित्य के प्रमुख सूत्रधार आचार्यकल्प पं० टोडरमल का यह कथन द्रष्टव्य है:–

"बहुरि इहाँ जो मैं यहु ग्रन्थ बनाऊं हूँ सो कषायनि तैं अपना मान बधावनैं कौं वा लोभ साधने कौं वा यश होने कौं वा अपनी पद्धति राखने कौं नाहीं बनाऊँ हूँ। ..... इस समय विषै मंदज्ञानवान जीव बहुत देखिये हैं तिनिका भला होने के अर्थि धर्मबुद्धि तैं यह भाषामय ग्रन्थ बनाऊँ हूँ।[1]"

0.4. सांस्कृतिक परिवेश:-

सामाजिक एवं राजनीतिक अवस्था की भाँति इस काल में देश की सांस्कृतिक अवस्था भी अत्यन्त शोचनीय थी। हिन्दी–साहित्य के भक्तिकाल में अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ की उदारतावादी नीति तथा सन्तों व सूफियों के उपदेशों के परिणामस्वरूप हिन्दू–मुस्लिम सम्प्रदायों के पारस्परिक मेल-जोल का जो प्रयत्न प्रारम्भ हुआ था, वह औरंगजेब की कट्टरता के कारण इस काल में समाप्त प्राय: हो चला था तथा विलास-वैभव के भारी प्रदर्शन के कारण लोग अपनी-अपनी धार्मिक आस्थाओं का भी दृढ़ता से पालन नहीं कर पा रहे थे।

यद्यपि "इस्लाम धर्म पर इस विलास-वैभव का सीधा प्रभाव नहीं था; किन्तु रूढ़िवादिंता के अत्यधिक बढ़ जाने के कारण वह जीवन की वास्तविकता से हट गया था। कुरान को हिफ़्ज करने अथवा नमाज–रोजा आदि के यथाविध पालन को ही धर्म समझने के कारण उसका वह आध्यात्मिक प्रभाव नहीं पड़ रहा था, जिससे व्यक्ति के संस्कारों में उदारता आती है।[2]"

हिन्दू-सम्प्रदाय के पीठाधीश भी लोभवश राजाओं और श्रीमानों को दीक्षा देने लगे, जिनका सम्बन्ध तत्त्वचिन्तन और धर्म से कहीं दूर का भी नहीं था, उनके मन में दीक्षा के बाद भी भौतिकता ही वास कर रही थी, अत: धर्मक्षेत्र में उनके आ जाने से मन्दिरों में भी ऐश्वर्य और विलास की लीला होने लगी थी। "यह स्थिति यहाँ तक पहुँच गई थी कि हिन्दू अपने आराध्य राधा-कृष्ण का अतिशय

---

1. मोक्षमार्ग-प्रकाशक, पृष्ठ 29
2. हिन्दी-साहित्य का इतिहास (डॉ० नगेन्द्र), पृष्ठ 298

शृंगार ही नहीं करने लगे थे, उनकी लीलाओं में अपने विलासी जीवन की संगति खोजने लगे थे। हिन्दू और मुसलमान–दोनों ही, धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों से दूर पड़ गये थे, केवल बाह्याचरण ही धर्म-पालन रह गया था।[1]"

दूसरी ओर समाज का वह वर्ग, जो इस विलास के साधनों से रहित था, अंधविश्वासों से बहुत घिर गया था, क्योंकि धर्म के मूलतत्त्व का ज्ञान उसे स्वयं तो था ही नहीं, बताने वाले गुरु भी उसे अपने विलास की पुष्टि हेतु विपरीत ही बता रहे थे। यही कारण है कि इस काल में हिन्दू, मंदिरों में और मुसलमान, पीरों के तकियों पर जाकर मनोरथ प्रकट करने लगे थे तथा ये मनोरथ भी कोई धार्मिक नहीं होते थे, बल्कि लौकिक सुख-सुविधा के ही होते थे। पुजारी और मुल्ला जनता के इस अन्धविश्वास का अनुचित लाभ उठाते थे।

यद्यपि पुरानी परम्परा के सूफी और सन्त अब भी विद्यमान थे, लेकिन उनमें कबीर और जायसी जैसा प्रभाव डालने की क्षमता नहीं थी।

इस प्रकार इस काल में भारत के अधिकांश धर्मस्थान भी पापाचार और घोर अज्ञानता के केन्द्र बन गये थे; किन्तु जयपुर में जैनियों अहिसात्मक संस्कृति स्पष्ट प्रतिबिम्बित थी, तथा शासकीय आदेश से जीवहिंसा, वेश्यावृत्ति एवं मद्यपान निषिद्ध थे। जैसा कि तत्कालीन श्रावक ब्र० रायमल्ल के निम्नलिखित कथन से स्पष्ट है:–

"और ई नग्र विषै सात विसन का अभाव है। भावार्थ–ई नग्र विषै कलाल कसाई वेश्या न पाईए है। अर जीव हिंसा की भी मनाई है। राजा का नाम माधवसिंह है। ताके राज विषै वर्तमान एते कुविसन दरबार की आज्ञातैं न पाईए हैं अर जैनी लोग का समूह वसै है। दरबार के मुतसद्दी सर्व जैनी हैं। और साहूकार लोग सर्व जैनी हैं। यद्यपि और भी है परि गौणता रूप है, मुख्यता रूप नांही। छह सात वा आठ दस हजार जैनी महाजनां का घर पाईए हैं।[2]"

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि पं० दौलतराम कासलीवाल का युगीन परिवेश समाज, राजनीति, साहित्य, संस्कृति आदि सभी दृष्टियों से अत्यन्त विषम था। उस समय राजनीति का सिंहासन अस्थिरता और ऐय्याशी ने सँभाल रखा था, साहित्यकार राजाश्रित हो रहे थे अतः साहित्य का जनकल्याणकारी प्रभाव भी समाप्त होता जा रहा था और समाज का सामान्य वर्ग सबसे निराश होकर किसी ऐसे साहित्य–पुरुष की प्रतीक्षा कर रहा था जो उन्हें उनकी ही भाषा में उनके परम कल्याण का मार्ग बतलाये। □□□

---

1. हिन्दी-साहित्य का इतिहास (डॉ० नगेन्द्र), पृष्ठ 298
2. इन्द्रध्वज विधान महोत्सव पत्रिका, पृष्ठ 6

क्रम.	रचना का नाम	रचना–काल					रचना–स्थान	रचना का स्वरूप	मुख्य विषयवस्तु	प्रकाशित/अप्रकाशित	अनुयोग	परिमाण
		मास	पक्ष	तिथि	वार	वि०सं०						
1.	पुण्यास्रवकथाकोश–भाषा	भाद्रपद	कृष्णा	5	–	1777	आगरा	अनूदित गद्य	56 धर्मकथाएँ	अप्रकाशित	प्रथमानुयोग	266 पृष्ठ
2.	श्रेणिकचरित	चैत्र	शुक्ला	5	सोम	1982	अज्ञात	मौलिक चरितकाव्य	श्रेणिक–चरित्र	अप्रकाशित	प्रथमानुयोग	92 पृष्ठ
3.	क्रियाकोश	भाद्रपद	शुक्ला	12	मंगल	1795	उदयपुर	मौलिक विचारकाव्य	श्रावकाचार	प्रकाशित	चरणानुयोग	2504 छन्द
4.	अध्यात्मबारहखड़ी	फाल्गुन	शुक्ला	2	गुरु	1798	उदयपुर	मौलिक विचारकाव्य	भक्ति व अध्यात्म	अप्रकाशित	द्रव्यानुयोग	860 पृष्ठ
5.	समयसार–कलश–टब्बाटीका	आसोज	कृष्णा	5	शनि	1804	उदयपुर	टीका गद्य	अध्यात्म	अप्रकाशित	द्रव्यानुयोग	278 श्लोक
6.	जीवंधरस्वामिचरित	आषाढ़	शुक्ला	2	गुरु	1805	उदयपुर	मौलिक चरितकाव्य	जीवंधर–चरित्र	प्रकाशित	प्रथमानुयोग	72 पृष्ठ
7.	वसुनन्दि–श्रावकाचार–टब्बाटीका	कार्तिक	शुक्ला	14	सोम	1808	उदयपुर	टीका गद्य	श्रावकाचार	अप्रकाशित	चरणानुयोग	268 पृष्ठ
8.	श्रीपालचरित	फाल्गुन	शुक्ला	11	–	1822	अज्ञात	मौलिक चरितकाव्य	श्रीपाल–चरित्र	अप्रकाशित	प्रथमानुयोग	98 पृष्ठ
9.	पद्मपुराण–वचनिका	माघ	शुक्ला	9	शनि	1823	जयपुर	अनूदित गद्य	राम–चरित्र	प्रकाशित	प्रथमानुयोग	21000 श्लोक–प्रमाण
10.	आदिपुराण–वचनिका	आसोज	कृष्णा	11	शुक्र	1824	जयपुर	अनूदित गद्य	ऋषभ–चरित्र	प्रकाशित	प्रथमानुयोग	8000 श्लोक–प्रमाण
11.	कार्तिकेयानुप्रेक्षा–टब्बाटीका	ज्येष्ठ	कृष्णा	12	–	1826	जयपुर	टीका गद्य	बारह भावनाएँ	अप्रकाशित	द्रव्यानुयोग	
12.	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय–भाषाटीका	मार्गशीर्ष	शुक्ला	2	सोम	1827	जयपुर	टीका गद्य	श्रावकाचार	अप्रकाशित	चरणानुयोग	198 पृष्ठ
13.	विवेक–विलास	पौष	शुक्ला	3	गुरु	1827	जयपुर	मौलिक विचारकाव्य	अध्यात्म	प्रकाशित	द्रव्यानुयोग	924 दोहे
14.	हरिवंशपुराण–वचनिका	चैत्र	शुक्ला	30	शुक्र	1829	जयपुर	अनूदित गद्य	नेमिनाथ–चरित्र	प्रकाशित	प्रथमानुयोग	19000 श्लोक–प्रमाण
15.	परमात्मप्रकाश–वचनिका	रचनाकाल अज्ञात है।					अज्ञात	अनूदित गद्य	अध्यात्म	अप्रकाशित	द्रव्यानुयोग	6890 श्लोक–प्रमाण
16.	चौबीस–दण्डक	रचनाकाल अज्ञात है।					अज्ञात	मौलिक विचारकाव्य	चतुर्गति–भ्रमण	प्रकाशित	करणानुयोग	57 छन्द
17.	चतुर–चितारणी	रचनाकाल अज्ञात है।					अज्ञात	मौलिक विचारकाव्य	चतुर्गति–भ्रमण	अप्रकाशित	द्रव्यानुयोग	149 सोरठे
18.	तत्त्वार्थसूत्र–टब्बाटीका	रचनाकाल अज्ञात है।					अज्ञात	टीका गद्य	सात तत्त्व	अप्रकाशित	द्रव्यानुयोग	176 पृष्ठ
19.	सार–समुच्चय	रचनाकाल अज्ञात है।					अज्ञात	मौलिक विचारकाव्य	अध्यात्म	अप्रकाशित	द्रव्यानुयोग	103 दोहे
20.	सिद्धपूजाष्टक	रचनाकाल अज्ञात है।					अज्ञात	मौलिक विचारकाव्य	भक्ति	अप्रकाशित	चरणानुयोग	12 दोहे

प्रथम अध्याय

जीवनवृत्त एवं व्यक्तित्व

क्रम. पृष्ठ-संख्या

1.0 दौलतराम नाम के अन्य साहित्यकार **21**

1.1 जीवनवृत्त **23**

1.1.1. जन्मभूमि 23

1.1.2. जन्मतिथि 24

1.1.3. वास्तविक नाम 24

1.1.4. जाति, गोत्र एवं धर्म 25

1.1.5. शिक्षा एवं ज्ञानप्राप्ति 25

1.1.6. विवाह 26

1.1.7. परिवार 26

1.1.8. कर्मस्थली एवं कर्म 28

1.1.9. निधन 33

1.2.व्यक्तित्व **33**

1.2.1. विद्वत्ता 34

1.2.2. स्वभाव 37

1.2.3. अभिरुचि 41

1.2.4. आचरण 43

1.2.5. सम्पर्क में आनेवाले प्रमुख व्यक्तित्व 43

1.2.5.1. राजनीतिक व्यक्तित्व 44

सवाई जयसिंह, सवाई माधोसिंह, महाराणा जगतसिंह सवाई पृथ्वीसिंह, दीवान रतनचन्द्र, दीवान वृद्धिचन्द्र।

1.2.5.2. साहित्यिक एवं सामाजिक व्यक्तित्व 45

भूधरदास, ऋषभदास, हेमराज, पं० टोडरमल, ब्र० रायमल, पं० नवलराम, ब्र० घासीराम, बेलजी सेठ, अमरपाल, चतुर्भुज, फतेचन्द, बिहारीलाल, सदानन्द, पृथ्वीराज, चतुर्भुज अग्रवाल, चीमा पंडित, कर्णदास, बख्तावरदास, मनोहरदास, हरिदास, सीताराम, सवाईराम।

प्रथम अध्याय

जीवनवृत्त एवं व्यक्तित्व

1.0. हिन्दी–साहित्य में अब तक 'दौलतराम' नाम के अनेक साहित्यकार प्रसिद्ध हो चुके हैं और उन सब का काल भी लगभग एक है– विक्रम की अठारह-उन्नीसवीं शताब्दी। ऐसी स्थिति में आलोच्य दौलतराम के विषय में भ्रम हो जाना स्वाभाविक है। अनेक शोधार्थियों और इतिहासकारों को हुआ भी है, क्योंकि उन्होंने किसी अन्य दौलतराम की रचनाओं को इनकी अथवा इनकी रचनाओं को किसी अन्य दौलतराम की बता दिया है।[1] अतः यहाँ सर्वप्रथम दौलतराम नाम के अन्य साहित्यकारों के विषय में अतिसंक्षिप्त जानकारी प्रस्तुत है।

1. **दौलतराम** :– इनका दूसरा नाम दिलाराम भी था। ये जैन साहित्यकार थे, जो बूँदी (राजस्थान) के रहनेवाले थे। ये बूँदी नरेश राव रतनसिंह हाड़ा (सन् 1605 से 1688 ई) के प्रिय कवि थे।[2] इनके पिता का नाम चतुर्भुज था तथा ये खंडेलवाल वंश में पाटनी गोत्र के धर्मात्मा श्रावक थे। इन्होंने विक्रम संवत् 1763 में 'व्रतविधान रासो' तथा वि० सं० 1768 में 'दिलाराम विलास' एवं 'आत्मद्वादशी' नामक कृतियाँ लिखी थीं।[3]

2. **दौलतराम** :– ये मारवाड़-नरेश महाराजा मानसिंह के आश्रित थे। इनका समय वि० सं० 1863 के आसपास माना जाता है। इनकी एक ही रचना उपलब्ध होती है, जिसका नाम है–"जालंधरनाथ जी रो गुण"।[4]

3. **दौलतराम** :– ये जैनेतर साहित्यकार थे जो असनी (फतेहर) के निवासी थे। इनके पिता का नाम शिवनाथ था। इन्होंने लगभग वि० सं० 1897 में 'अलंकार संग्रह' एवं 'कविप्रिया' पर टीका लिखी थी।[5]

4. **दौलतराम** :– ये मैनपुरी के रहनेवाले थे। जाति से कायस्थ थे। इनकी एक लघु कृति "ज्योनार" नाम से मिलती है।[6]

---

1. देखिए– अनेकान्त (मासिक), जून 1972, पृष्ठ 131 पर डॉ० गजानन मिश्र का लेख।
2. कविवर पं० दौलतराम – कृतित्व एवं व्यक्तित्व, पृष्ठ XIV
3. महावीर जयन्ती स्मारिका-1963, पृष्ठ 90
4. महाकवि दौलतराम कासलीवाल–व्यक्तित्व एवं कृतित्व, प्रस्तावना, पृष्ठ 9
5. वही, वही, पृष्ठ 9
6. वही, वही, पृष्ठ 9

5. **दौलतराम** :– ये एक उत्कृष्ट जैन-साहित्यकार हैं जो हाथरस के रहनेवाले थे। इनका जन्म संवत् 1855-56 में हुआ था। ये जन्म से ही विलक्षण प्रतिभा के धनी थे। ये कपड़े का व्यापार करते थे। जिस समय ये छींट का थान छापने बैठते थे, उस समय चौकी पर गोम्मटसार, त्रिलोकसार, आत्मानुशासन आदि प्रचीन जैन ग्रन्थों को विराजमान कर लेते थे और प्रतिदिन कपड़ा छापने के काम के साथ-साथ सत्तर-अस्सी श्लोक या गाथाएँ भी कंठाग्र कर लेते थे। इनके जीवन का कुछ समय सासनी (अलीगढ़) और लश्कर में व्यतीत हुआ। इनका निधन मार्गशीर्ष कृष्णा अमावस्या, वि० सं० 1923 को मध्याह्न में दिल्ली में हुआ था।[1] इनकी दो रचनाएँ उपलब्ध हैं :– 'छहढाला' और 'पदसंग्रह'। 'छहढाला' में कवि ने सम्पूर्ण जैनागम का सार भरकर गागर में सागर भर देने वाली उक्ति को चरितार्थ किया है। 'छहढाला' आकार में छोटी होकर भी भाव, भाषा और अनुभूति की दृष्टि से बड़ी बेजोड़ रचना है। इसका काव्यसौन्दर्य किसी भी सुधी पाठक को मंत्रमुग्ध कर देनेवाला है।'छहढाला' की भाँति 'पदसंग्रह' भी साहित्यिक सौन्दर्य से भरपूर है। 'पदसंग्रह' में कवि के 123 पद संगृहीत हैं, जिनमें कवि का भावावेश, उन्मुक्त प्रवाह, आन्तरिक संगीत, रसानुभूति की गम्भीरता एवं तत्त्व-प्रतिपादन की स्पष्टता का अद्‌भुत समन्वय विद्यमान है।

6. **दौलतराम वर्णी** :– इनके समय और निवास-स्थान की जानकारी तो नहीं मिल सकी है, लेकिन इतना अवश्य है कि ये जैन साहित्यकार थे। इनकी तीन रचनाएँ प्राप्त होती हैं :– चम्पापुर पूजा, पावापुर पूजा और नयनागिरि पूजा। ये तीनों ही भक्तिकाव्य हैं और इनकी भाषा ब्रजभाषा है। इनकी कविता का एक उदाहरण प्रस्तुत है:–

"चरम तीर्थ करतार श्री, वर्द्धमान जगपाल।
कलमल दलविध विकल ह्वै, गाऊँ तिन जयमाल।।"

7. **दौलतराम उजियारे** :– ये रीतिकाव्य के निर्माता कवि हैं। इन्होंने वि. सं. 1837 में "रस चन्द्रिका" और 'जुगल प्रकाश' नामक ग्रन्थों की रचना की है। नागरी-प्रचारिणी-सभा काशी से प्रकाशित हिन्दी-साहित्य का वृहद् इतिहास, षष्ठ भाग में इनका उल्लेख प्राप्त होता है।

8. **दौलतराम ओसवाल** :– श्री अगरचन्द नाहटा ने इनको 'मुलतानी ओसवाल दौलतराम' लिखा है।[3] इन्होंने वि० सं० 1818 में 'मल्लिनाथ-चरित्र-वचनिका' लिखी है जिसकी एक प्रतिलिपि वर्तमान में दिल्ली के सेठ के कूचे के जैन मंदिर में प्राप्त होती है।

1. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परंपरा, खण्ड 4, पृष्ठ 289
2. वृहज्जिनवाणीसंग्रह, पावापुर पूजा, पृष्ठ 255
3. वीरवाणी (पाक्षिक पत्रिका), 18 जनवरी 1960, पृष्ठ 12/110

9. **दौलतराम आँसेरी** :– इनकी दो रचनाएँ प्राप्त होती हैं:–श्रेणिक-चरित्र एवं ऋषि मंडल पूजा। 'श्रेणिक-चरित्र' की रचना वि० सं० 1834 में की गई है।[1]

ध्यान रहे, जिन पं० दौलतराम कासलीवाल के विषय में प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध लिखा जा रहा है, वे उपर्युक्त सभी दौलतरामों से भिन्न हैं। उनके जीवनवृत्त का अनुसंधान अब प्रारम्भ होता है।

1.1. जीवनवृत्त :–

महाकवि पंडित दौलतराम कासलीवाल के जीवनवृत्त के विषय में कोई आद्योपान्त और व्यवस्थित जानकारी नहीं प्राप्त होती है, किन्तु उनकी रचनाओं की प्रशस्तियों में इस विषय के कुछ प्रमाणिक तथ्य प्राप्त होते हैं, जो अन्तःसाक्ष्य के रूप में उद्धृत किये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त विविध पत्र-पत्रिकाओं, जैन-साहित्य के इतिहास-ग्रंथों और हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रंथों से भी कुछ बिखरी हुई जानकारी प्राप्त होती है; किन्तु वह पर्याप्त नहीं है और सर्वथा प्रमाणिक भी नहीं है। जैन साहित्य और इतिहास के प्रख्यात विद्वान डॉ० कस्तूरचंद कासलीवाल ने भी अपनी पुस्तक "महाकवि दौलतराम कासलीवाल : व्यक्तित्व एवं कृतित्व" की प्रस्तावना में पं० दौलतरामजी के जीवनवृत्त पर शोधपूर्ण प्रकाश डाला है। यहाँ उन सभी के आधार से कुछ लिखा जा रहा है।

1.1.1. जन्मभूमि:–

पं० दौलतराम कासलीवाल का जन्म राजस्थान के एक जिले दौसा के तहसील स्तर के ग्राम बसवा में हुआ। बसवा राजस्थान के प्राचीन नगरों में गिना जाता है। यह बसवा नामक नगर वर्तमान में दिल्ली से अहमदाबाद जाने वाली पश्चिमी रेलवे लाइन का एक स्टेशन है, जो दिल्ली से 205 किलोमीटर एवं जयपुर से 103 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है।

पण्डित दौलतराम कासलीवाल ने स्वयं अपनी रचनाओं की अन्तिम प्रशस्ति में अपनी जन्मभूमि के रूप में बसवा का नामोल्लेख किया है। यथा–

(क) "बसुवा को वासी इहै[2]"

(ख) "बसवे वास विशाल[3]"

(ग) "वासी बसवा को जु[4]"

---

1. राजस्थान के जैन शास्त्र-भंडारों की ग्रंथ-सूची, पञ्चम भाग, पृष्ठ 788 एवं 405
2. अध्यात्मबारहखड़ी, अन्तिम ग्रन्थ-प्रशस्ति, छन्द 12
3. हरिवंशपुराण-वचनिका, अन्तिम ग्रन्थ-प्रशस्ति, छन्द 24
4. जीवन्धरस्वामिचरित, अन्तिम ग्रंथ-प्रशस्ति, छन्द 3

(घ) *"बसवै वास हमारौ जांनि। घरि आगै जिन मंदिर मांनि।।*

जैनी लोक वसै चहुं पास। अर्चा चर्चा कौ परगास।।"

उक्त में से 'घ' उद्धरण से यह भी स्पष्ट है कि बसवा में पं० दौलतराम कासलीवाल के घर के सामने ही जैन मन्दिर था और उसके चारों और अनेक जैन परिवार रहते थे, जिससे वहाँ का वातावरण सदैव धर्म की 'अर्चा-चर्चा' से प्रकाशित रहता था। बार-बार 'बसवा' का उल्लेख पं० दौलतराम के जन्मभूमि-प्रेम को सूचित करता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल[2] ने और उनके अनुसरण पर उनके परवर्ती इतिहास-लेखकों[3] ने इस बसवा को मध्यप्रदेश में बताया है, जो सत्य नहीं है; क्योंकि पण्डितजी ने स्वयं अपनी जन्मभूमि बसवा को राजस्थान में बताया है।

1.1.2. जन्म-तिथि—

डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री[4] और डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य[5] ने पण्डित दौलतराम कासलीवाल का जन्म वि० संवत् 1745 में बताया है, किन्तु डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल ने राजस्थान के जैन शास्त्र-भण्डारों की ग्रन्थ-सूची, चतुर्थ भाग, पृष्ठ संख्या 283 का उल्लेख करते हुए उनका जन्म विक्रम संवत् 1749 की आषाढ़ कृष्णा चर्तुदशी को हुआ बताया है, जो अधिक प्रामाणिक जान पड़ता है। कवि ने स्वयं अपनी जन्मतिथि का कहीं कोई उल्लेख नहीं किया है।

1.1.3. वास्तविक नाम :—

यद्यपि पं० दौलतराम ने स्वयं अपना नाम अनेक स्थलों पर संक्षेप में अथवा काव्यानुरोधवश मात्र 'दौलत', 'दौलति' आदि बताया है, किन्तु उनका वास्तविक नाम निश्चित रूप से 'दौलतराम' ही है; जैसा कि 'पुण्यास्रवकथाकोश' की अन्तिम प्रशास्ति की निम्न पंक्ति से भलीभाँति स्पष्ट होता है :—

"जो कोऊ पूछे कवि को नाम। दौलत आगे मांड्यौ राम।। [6]"

---

1. पुण्यास्रवकथाकोश-भाषा, अन्तिम प्रशस्ति, छन्द 14
2. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 377
3. हिन्दी-साहित्य कोश, भाग–2, पृष्ठ 268
4. ज्ञानानन्द-श्रावकाचार, प्रस्तावना, पृष्ठ 6
5. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग 4, पृष्ठ 281
6. पुण्यास्रवकथाकोश-भाषा, अन्तिग प्रशस्ति, छन्द 11

अन्य अनेक दौलतरामों से पृथक्ता दिखाने के लिए इनके नाम के साथ इनका गोत्र 'कासलीवाल' भी जोड़ा जाता है। पं० दौलतराम ने अनेक स्थलों पर अपने नाम को एक विशेष आध्यात्मिक अर्थ के साथ श्लेषालंकार बनाकर प्रस्तुत किया है, जिससे प्रतीत होता है कि उन्हें अपने नाम का गर्व था अथवा वे उससे भी कोई आध्यात्मिक प्रेरणा अवश्य पाते थे। उदाहरणार्थ निम्न छन्द द्रष्टव्य है :–

"जिन-दिनकर की किरण जो, सोई पद्मा जानि।
दौलति भाषा मैं कहैं, और न दौलति मांनि।। [1]"

1.1.4. जाति, गोत्र एवं धर्म :–

पंडित दौलतराम कासलीवाल का जन्म वैश्य जाति के खण्डेवाल वंश में हुआ था, उनका गोत्र कासलीवाल था और वे दिगम्बर जैनधर्म के अनन्य उपासक या श्रावक थे; जैसा कि उन्होंने स्वयं अपनी रचनाओं में अनेक स्थलों पर उल्लेख किया है। प्रमाणस्वरूप "पुण्यास्रवकथाकोश" की प्रशस्ति की निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :–

"जात बानियां श्रावक सोय, खण्डेलवाल जानहुं सब कोय।
अलि कहिए कासलीवाल, आनन्दराम सुत वचन रसाल।192।।"

1.1.5. शिक्षा एवं ज्ञानप्राप्ति :–

पण्डितजी का बाल्यकाल कैसे बीता; उनकी शिक्षा कहाँ और कैसे हुई, उनके शिक्षा गुरु कौन थे अथवा उन्होंने कहाँ तक अध्ययन किया था— इन सब के बारे में कोई प्रामाणिक जानकारी नहीं प्राप्त होती। स्वयं कवि ने भी इनका कहीं कोई स्पष्ट संकेत नहीं किया है। परन्तु इनकी रचनाओं से यह एकदम स्पष्ट है कि ये संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी इन तीनों ही भाषाओं के बहुत अच्छे ज्ञाता थे; उन भाषाओं में लिखित ग्रन्थों की अत्यधिक सरल, सुबोध परन्तु तलस्पर्शी टीका या व्याख्या करने की उनमें आश्चर्यजनक क्षमता थी। प्रमाणस्वरूप उनकी तत्त्वार्थसूत्रादि की टब्बा-टीकाएँ एवं हरिवंशपुराणादि की भाषावचनिकाएँ देखी जा सकती हैं।

डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन ने इनको 'उच्चशिक्षित' लिखा है, परंतु यह नहीं बताया है कि वह उच्च शिक्षा कहाँ और कैसे हुई।[2] इनके पिता उच्च पद पर कार्यरत थे, इससे भी यह सहज सम्भव लगता है कि उनकी शिक्षा किसी विद्वान् गुरु के पास व्यवस्थित रूप से हुई हो, लेकिन इस विषय में प्रमाणसहित कुछ नहीं कहा जा सकता।

1. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द - ३/१६०
6. प्रधान ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ, पृष्ठ 318

किन्तु तत्कालीन शिक्षा–पद्धति को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि पं० दौलतराम की शिक्षा आगरा की 'अध्यातम सैली' में ही हुई होगी, क्योंकि "तत्कालीन समाज में धार्मिक अध्ययन के लिए आज के समान सुव्यवस्थित विद्यालय, महाविद्यालय नहीं चलते थे। लोग स्वयं ही सैलियों के माध्यम से तत्त्वज्ञान प्राप्त किया करते थे। तत्कालीन समाज में जो आध्यात्मिक चर्चा करनेवाली दैनिक गोष्ठियाँ होती थीं, उन्हें सैली' कहा जाता था। ये सैलियाँ सम्पूर्ण भारतवर्ष में यत्र–तत्र थीं। महाकवि बनारसीदास भी आगरा की एक सैली में ही शिक्षित हुये थे।[1]

पं० दौलतराम की ऐसी शिक्षा का संकेत हमें उनकी प्रथम कृति 'पुण्यास्रवकथाकोश-भाषा' की निम्नलिखित पंक्तियों से भी प्राप्त होता है :–

"कारण पाय आगरे गये। पुण्यास्रव सुनि अति सुख भये।
रिषभदास × उपदेस × सौं, × हमें भई परतीत।
कुबुधि घट सौं त्यागिकें, लगी धर्म सौं प्रीति।।
रिषभदेव जयवंत जग, सुखी होहु तस दास।
जिन हमको जिनमत विषैं, कीयों महा गढ़ास।"[2]

1.1.6. विवाहः–

पण्डितजी का विवाह कब हुआ। उनकी पत्नी का नाम क्या था – इसकी कोई जानकारी नहीं मिलती।

1.1.7. परिवारः–

पितामह :-राजस्थान के अभिलेखागार में एक कौमवार रजिस्टर मिलता है जिससे मात्र इतना ज्ञात होता है कि पं० दौलतराम कासलीवाल के पितामह का नाम घासीराम था।[3]

पिताः- पं० दौलतराम कासलीवाल ने अपने सभी ग्रंथों में स्वयं को 'पुत्र आनंद को'[4] 'आनन्दसुत'[5] 'आनन्दराम सुत'[6] इत्यादि शब्दों से व्यक्त किया है, जिससे ज्ञात होता है कि उनके पिता का नाम

---

1. पं० टोडरमल–व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व, पृष्ठ 58
2. पुण्यास्रवकथाकोश-भाषा, अंतिम प्रशस्ति, छन्द 13, 18 व 19
3. महाकवि दौलतराम कासलीवाल व्यक्तित्व एवं कृतित्व, प्रस्तावना, पृष्ठ 4
4. जीवन्धरस्वामिचरित, अंतिम प्रशस्ति, छन्द 3
5. पद्मपुराण-वचनिका, अंतिम प्रशस्ति, छन्द 8
6. पुण्यास्रवकथाकोश-भाषा, अंतिम प्रशस्ति, छन्द 12

आनन्दराम था। प्रत्येक कृति में पिता के नाम क़ा सविनय उल्लेख पं० दौलतराम की पितृभक्ति का सूचक है।

पण्डितजी के पिता आनन्दराम जी जयपुर राज्य की ओर से जोधपुर के महाराजा अभयसिंह के पास दिल्ली में रहते थे। वे राज्यकार्य में अत्यन्त कुशल थे और इसी कारण से उन्हें अनेक बार राजकीय सम्मान भी प्राप्त हुआ था। उनका निधन आषाढ़ सुदी 14 वि० सं० 1792 को हुआ।

माताः-पण्डित दौलतराम की माता के सम्बन्ध में कोई जानकारी प्राप्त नहीं है।

भाईः-पण्डित दौलतराम के दो भाई थेः—निर्भयराम और बख्तावरलाल; जैसा कि 'अध्यात्मबारहखड़ी' की निम्न पंक्तियों और उनकी स्वलिखित टिप्पणी से स्पष्ट होता हैः

"मोहि देहु अनंददेवा दौलति करण जु धीर त्वं।
बखतावर अति है जु तु ही सुगतिदाता वीर त्वं।।
तू जु आनंदी स्वच्छंदो जगत वीर अरोधत्वं।
निर्भयराम करे जु मोहैं जिनदासैः देवो धत्वं।।
अजित करौ जु अजीत स्वांमी शुंभुनाथ आधार त्वं।
जादूराय सुधारि मोकों सीतल करि जिनसार त्वं।।

ई में श्री जी की भक्ति प्रार्थना आई अर कवि का कबीला को नांव आयो। आनंद पिता, दौलत इत्यादि पुत्र, अजितदास च्यारि दौलति का पुत्र।[1]"

पण्डित दौलतराम के बड़े भाई निर्भयराम भी अपने पिता के समान महाराजा की ओर से अभयसिंह के पास दिल्ली में ही रहते थे। उन्हें अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् जयपुर-महाराजा की ओर से मातमी का सिरोपाव देकर दिल्ली भेजा गया था। पण्डितजी के छोटे भाई बख्तावरलाल के बारे में कोई जानकारी नहीं मिलती।

बहिनः- पं० दौलतराम कासलीवाल की बहिनों के सम्बन्ध में भी कोई जानकारी प्राप्त नहीं है।

पुत्रः- पण्डित दौलतराम कासलीवाल के 6 पुत्र थेः— अजितदास, शम्भुनाथ, जादूराम, शीतलदास, जोधराज और गुलाबदास। जोधराज अपने पिता के समान एक उत्कृष्ट साहित्यकार थे जिन्होंने संवत 1884 में 'सुखविलास' नाम एक विशाल ग्रन्थ की रचना की थी। इस कृति में इन्होंने अपना परिचय निम्न प्रकार दिया हैः—

1. अध्यात्मबारहखड़ी छन्द—इ/94—95—96

"दौलत सुत कामां बसै, जोध कासलीवाल।

निज सुख कारन यह कियो, सुखविलास गुणमाल।।"

पण्डितजी ने अपने चार पुत्रों का उल्लेख अपनी विशाल रचना 'अध्यात्मबारहखड़ी' के उपरि-उद्धृत तीन छन्दों और उनकी स्वलिखित टिप्पणी में भी किया है।

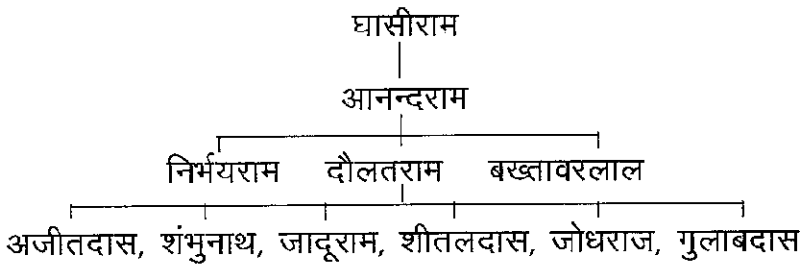
'अध्यात्मबारहखड़ी' की रचना वि० स० 1798 में हुई थी, अतः सिद्ध होता है कि उनके अन्तिम दो पुत्र जोधराज एवं गुलाबदास वि० स० 1798 के पश्चात् हुए।

दौलतराम के प्रथम पुत्र अजीतदास अपने पिता एवं पितामह के समान जयपुर-महाराजाओं के अत्यधिक कृपापात्र थे। उन्हें उनकी कार्यकुशलता के कारण समय–समय पर सम्मानित किया गया था। अजीतदास का सर्वप्रथम उल्लेख संवत 1801 का मिलता है, जब उन्हें वहात्र परगना की वसूली का कार्य कुशलतापूर्वक सम्पन्न करने के कारण सिरोपाव दिया गया। संवत 1804 में उन्हें राज्य सेवा में सिरोपाव से सम्मानित करके उदयपुर भेज दिया गया। इस समय स्वयं कवि दौलतराम भी वहीं थे। ऐसा मालूम पड़ता है कि इसके एक दो वर्ष बाद ही दौलतराम जयपुर आ गये और उनके स्थान पर अजीतदास कार्य करने लगे।

पुत्री :– पं० दौलतराम कासलीवाल की पुत्रियों के विषय में किसी प्रकार की कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती।

इस प्रकार स्पष्ट है कि पण्डित दौलतराम कासलीवाल का परिवार जयपुर-राजदरबार से अच्छी तरह जुड़ा हुआ था।

अंत में हम पं० दौलतराम कासलीवाल की वंशावली को तालिका के रूप में इस प्रकार देख सकते हैं:–



1.1.8. कर्मस्थली एवं कर्म :–

पं० दौलतराम कासलीवाल ने अपने ग्रन्थों में स्वयं को 'ढूंढाहड़ पतिराज कौ सेवक दौलतराम उकील[1]', 'सेवक नरपति को[2]' इत्यादि लिखा है, जिससे ज्ञात होता है कि वे अपने पिता के समान

1. जीवन्धरस्वामिचरित, अन्तिम प्रशस्ति, छन्द 3
2. हरिवंशपुराण-वचनिका, अन्तिम प्रशस्ति, छन्द 25

जयपुर–राजदरबार में वकील या मंत्री के पद पर कार्यरत थे। साहित्य-सेवा का सम्पूर्ण कार्य उन्होंने राज्यकार्य करते हुए ही किया था; किन्तु यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि ये बिहारी आदि रीतिकालीन कवियों की भाँति राज्याश्रित कवि नहीं थे। साहित्यसेवा तो उनकी निःस्वार्थ परोपकार वृत्ति का सहज परिणाम था।

पण्डितजी जयपुर-नरेश के आदेशानुसार इस राजसेवा हेतु क्रमशः मथुरा, उदयपुर और जयपुर–इन तीन प्रसिद्ध नगरों में लम्बे–लम्बे समय तक रहे।

राजसेवा में पण्डितजी की नियुक्ति आषाढ़ बुदी 8, वि० सं० 1787 के शुभ दिन हुई थी, जब इन्हें जोधपुर–महाराजा अभैसिंह की सेवा में मथुरा भेजा गया था।

मथुरा जाने के समय तक पण्डितजी की अवस्था 38 वर्ष की होने जा रही थी। ज्ञात नहीं हो सका है कि ये तब तक क्या कार्य करते थे। इनकी प्रथम कृति 'पुण्यास्रवकथाकोश-भाषा' की अन्तिम प्रशस्ति से इतना अवश्य ज्ञात होता है कि ये उससे पूर्व अनेक वर्ष आगरा में रहे। 'पुण्यास्रवकथाकोश' की रचना पण्डितजी ने विक्रम संवत् 1777 में आगरा में ही पूर्ण की थी। इस कृति के पीछे आगरा की 'अध्यातम सैली' के भूधरदास, हेमराज, ऋषभदास आदि सदस्यों की विशेष प्रेरणा थी।

आगरा में वे वहाँ चलने वाली 'अध्यातम सैली' से बहुत प्रभावित हुये थे और उसमें नियमित रूप से जाने लग गये थे। अपनी विशेष प्रतिभा के बल पर कुछ समय पश्चात् ही आप इस सैली के प्रमुख सदस्यों में गिने जाने जगे। वहाँ सभी लोग इनकी विद्वत्ता के प्रशंसक हो गये। फिर तो उसी सैली में वे स्वयं शास्त्र पढ़ने लगे। सभी श्रोता उनकी व्याख्यान–शैली से बहुत प्रभावित थे। आगरा की इस अध्यातम सैली का पंडितजी के जीवन–निर्माण में बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। यहीं आकर उनके हृदय का मिथ्यात्वरूपी अंधकार दूर हुआ था और उनमें सर्वप्रथम धर्मानुराग उत्पन्न हुआ था। साहित्यसेवा के क्षेत्र में उनका प्रथम चरण भी इसी सैली की देन है। हालांकि बसवा में पण्डितजी के घर के सामने ही जैन मन्दिर था [1] और वहाँ प्रतिदिन जिनेन्द्र-भक्ति, स्वाध्याय आदि के कार्यक्रम भी चलते थे।[2] किन्तु उस समय उनकी विशेष रुचि स्वाध्यायादि के प्रति प्रायः नहीं थी। आगरा की अध्यात्म सैली के सम्पर्क में आने के बाद ही उनके जीवन में यह सुखद परिवर्तन आया। पण्डित जी ने स्वयं इस परिवर्तन के लिए 'पुण्यास्रवकथाकोश-भाषा' की प्रशास्ति में आगरा की 'अध्यातम सैली' का और उसके एक विशेष सदस्य ऋषभदास का आभारपूर्वक स्मरण किया है।

1. पुण्यास्रवकथाकोश-भाषा, अन्तिम प्रशस्ति, छन्द 13-14

2. वही, वही, छन्द 14

इतने पर भी यह निश्चित रूप में नहीं कहा जा सकता है कि वे आगरा क्यों गये थे, कब गये थे, वहाँ कब तक रहे थे और वहाँ आजीविका सम्बन्धी क्या कार्य करते थे।

पण्डितजी ने स्वयं भी आगरा जाने का कारण स्पष्टतया नहीं लिखा है। मात्र इतना ही कहा है कि कारण पाय आगरैं गये।[1]"

पण्डितजी ने अपनी प्रथम कृति 'पुण्यास्रवकथाकोश-भाषा' की रचना वि० सं० 1777 में आगरा की 'अध्यातम सैली' की प्रेरणा से ही की थी, इससे यह प्रतीत होता है कि वे उससे लगभग दो-तीन वर्ष पूर्व ही आगरा गये होंगे।

पण्डितजी ने आगरा की 'अध्यातम सैली' की बहुत प्रशंसा की है, जिससे प्रतीत होता है कि इनका मन वहाँ बहुत लगा होगा और आषाढ बुदी 8, वि० सं० 1787 तक, जब उनको सवाई जयसिंह ने अपनी सेवा में बुलाया था, वे वहीं आगरा में ही रहे होंगे।

अर्थात् ऐसा प्रतीत होता है कि लगभग वि० सं० 1775 से 1787 तक पं० दौलतराम कासलीवाल आगरा में ही आध्यात्मिक शास्त्र सभा के सम्पर्क में रहे।

उसके पश्चात् 1787 में राजसेवा में नियुक्त होकर वे मथुरा गये, जहाँ लगभग छः माह रहे।

उसके पश्चात् पौष बुदी 10 वि० सं० 1793 को इन्हें महाराजा सवाई जयसिंहजी के पुत्र कुँवर माधोसिंहजी की सेवा में उनके मंत्री के रूप में उदयपुर भेजा गया। पं० दौलतराम कासलीवाल ने स्वयं भी अपने ग्रन्थों में लिखा है कि वे जयपुर के राजा जयसिंह के 'अनुचर' हैं और उनके पुत्र का 'मंत्री' बनकर उदयपुर में रह रहे हैं। यथाः—

(क) *'बसुवा को वासी इहै, अनुचर जय को जानि।*
मंत्री जयसुत को सही, जाति महाजन मांनि।। [2]"

(ख) *'आनन्दसुत जयसुत कौ मंत्री, जय कौ अनुचर जाहि कहै।* [3]"

(ग) *"दौलतराम उकील, पुत्र आनन्द कौ होई।*
ढूढाहड़ पतिराज, तिनौ कौ सेवक सोई।। [4]"

---

1. पुण्यास्रवकथाकोश-भाषा, अन्तिम प्रशस्ति, छन्द 13
2. अध्यात्मबारहखड़ी, प्रशस्ति, छन्द 12
3. क्रियाकोश, छन्द 2504
4. जीवन्धरस्वामिचरित, अन्तिम प्रशस्ति, छन्द 3

उक्त कथनों से ज्ञात होता है कि पण्डित दौलतराम कासलीवाल उदयपुर-दरबार में जयपुर–नरेश की ओर से मंत्री या वकील थे। तत्कालीन प्रसिद्ध श्रावक ब्र० रायमल ने भी उनको उदयपुर में राजा जयसिंह का वकील लिखा है:–

"पीछैं रांणां का उदयपुर विषै दौलतराम तेरापंथी जयपुर के जयस्यंघ राजा के उकील तासूं धर्म अर्थि मिले।[1]"

उदयपुर में आप पूरी निष्ठा के साथ अपने राजकर्तव्य का निर्वाह करते थे। सुप्रसिद्ध इतिहासकार डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल ने अपनी शोध–खोज के आधार पर लिखा है कि "कवि का उदयपुर में बहुत सम्मान था। शासक एवं शासित दोनों ही वर्गो में ये लोकप्रिय थे।[2]"

उदयपुर में आप प्रतिदिन धानमंडी के दिगम्बर जैन मंदिर में जाते थे और आगरा की भाँति यहाँ भी प्रतिदिन शास्त्र–प्रवचन करते थे। आपके प्रयासों से यहाँ एक सुशोभित आध्यात्मिक 'सैली' की स्थापना हुई, जिसमें प्रतिदिन अनेक स्त्री–पुरुष नियमित रूप से शास्त्राभ्यास किया करते थे। इस शास्त्रसभा में आपने शनैः शनैः अनेक ग्रन्थों का सामूहिक स्वाध्याय कर लिया था। इन सब तथ्यों की जानकारी हमें उन्हीं की कृति 'जीवन्धरस्वामिचरित' की अन्तिम प्रशस्ति की निम्न पंक्तियों से प्राप्त होती है:–

"मंडी धान की नगर मांहि, जहां जैन मन्दिर महा।
सो जिनमंदिर आय, वांचई जिनमत ग्रंथा।
सुनैं विवेकी जीव, सरदहै जिनवर पंथा।।
कैयक के रुचि बहुत नीकी, आगम अध्यातम तनी।
वांचे ग्रंथ कितेक तानैं, सैली अति शोभित बनी।।[3]"

तत्कालीन व्रती श्रावक ब्र० रायमल ने इस सभा को प्रत्यक्ष देखने के उपरान्त अपनी 'जीवन-पत्रिका' में उसका उल्लेख इस प्रकार किया है:– "उहां दौलतराम के निमित करि दस बीस साधर्मी वा दस बीस बायां सहित सैली का बणाव बणि रह्या।[4]"

पृथ्वीराज, चतुर्भुज, मनोहरदास, हरिदास, बखतावर, कर्णदास, चीमा पंडित, वेलजी सेठ आदि उनकी दैनिक शास्त्रसभा के प्रमुख श्रोता थे।[5]

---

1. जीवन-पत्रिका, पृष्ठ 4
2. महाकवि दौलतराम कासलीवालः व्यक्तित्व एवं कृतित्व, प्रस्तावना, पृष्ठ 8
3. जीवन्धरस्वामिचरित, अन्तिम प्रशस्ति, छन्द 2 व 4
4. जीवन-पत्रिका, पृष्ठ 4
5. अध्यात्मबारहखड़ी अन्तिम प्रशस्ति, छन्द 6–7

उदयपुर में आपने क्रियाकोश, अध्यात्मबारहखड़ी और जीवन्धरस्वामिचरित नामक तीन विशाल काव्य-ग्रंथों की रचना की, जिससे आपकी ख्याति दूर-दूर तक पहुँच गई। लोग इनकी रचनाओं को बड़े चाव से पढ़ने लगे। अच्छे-अच्छे विद्वान भी इनकी काव्य–प्रतिभा का लोहा मानने लगे।

पण्डितजी को उदयपुर में भी बड़ा आदर-सम्मान प्राप्त था। वे वहाँ अत्यन्त प्रतिष्ठित लोगों में गिने जाते थे। उदयपुर के महाराणा तक भी इनसे हार्दिक अनुराग रखते थे। 'जीवन्धरस्वामिचरित' की प्रशस्ति में पण्डितजी ने स्वयं महाराणा जगतसिंह की कृपा का उल्लेख इस प्रकार किया है :–

"रहै रांण के पास, रांण अति किरपा करई।
जानै नीकौ जाहि, भेदभाव जु नहिं धरई।।"[1]

उदयपुर में आप कब तक रहे– इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल ने अनुमान के आधार पर लिखा है कि संवत् 1807 तक वे जयपुर आ गये होंगे – ऐसा जान पड़ता है।[2] किन्तु यह सत्य नहीं है, क्योंकि वि० सं० 1808 में 'वसुनन्दि श्रावकाचार-टव्वाटीका' नामक रचना को पण्डितजी ने उदयपुर में ही पूर्ण किया था, जैसा कि उसकी अन्तिम प्रशस्ति के "उदियापुर में कियौ बखान[3]" वाक्य से सुस्पष्ट है, अतः इतना तो निश्चित है कि वे वि० सं० 1808 तक उदयपुर में ही रहे थे। डॉ० प्रेमसागर जैन लिखते हैं कि वे संवत् 1808 तक उदयपुर में रहे और माधवसिंहजी के जयपुराधीश होने पर जयपुर में आकर रहने लगे[4]" जो संभव प्रतीत होता है, क्योंकि पण्डितजी उदयपुर में माधवसिंहजी के ही मंत्री थे। जयपुर आने के पश्चात् वे कहीं नहीं गये। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन जयपुर में ही व्यतीत किया। जयपुर में भी आपके पास उदयपुर की ही भाँति दो प्रमुख कार्य थे– राजसेवा और साहित्यरचना। राजसेवा तो आप पूरी निष्ठा के साथ करते ही थे, किन्तु जो समय राजसेवा से शेष बचता था, उसे व्यर्थ न गँवाकर सम्पूर्णतः साहित्यनिर्माण में लगा देते थे। प्रतीत होता है कि जयपुर आने पर इनके राजसेवा के उत्तरदायित्व कुछ कम हुए होंगे, क्योंकि यहाँ आपकी साहित्य-साधना और तेजी से चलने लगी जो जीवन पर्यन्त निराबाध रूप से चलती रही। आपने यहाँ अल्प समय में ही अनेक विशालकाय ग्रन्थों की रचना की, जिनका आधुनिक प्रमाण लगभग 5000 पृष्ठ होता है। आश्चर्यचकित कर देनी वाली बात ये है कि जब आपकी अवस्था 80 वर्ष की होने वाली थी तब भी आप बड़े मनोयोग और कठोर परिश्रम से जनोपयोगी साहित्य के

---

1. जीवन्धरस्वामिचरित, अन्तिम प्रशस्ति, छन्द 4
2. महाकवि दौलतराम कासलीवाल–व्यक्तित्व एवं कृतित्व, प्रस्तावना, पृष्ठ 8क
3. वसुनन्दि-श्रावकाचार-टव्वाटीका, अंतिम प्रशस्ति, छन्द 28
4. हिन्दी-जैन-भक्तिकाव्य और कवि, पृष्ठ 353

निर्माण में लीन थे। 'हरिवंशपुराण-वचनिका' नामक विशाल गद्य कृति की रचना उन्होंने इस वृद्धावस्था में ही की थी। इससे ये अनुमान किया जा सकता है कि साहित्य-साधना के माध्यम से जनसेवा की कितनी गहरी भावना उनके हृदय में थी। जयपुर में निर्मित रचनाओं में पद्मपुराण-वचनिका, आदिपुराण-वचनिका, हरिवंशपुराण-वचनिका, पुरषार्थसिद्ध्युपाय-भाषाटीका और विवेक-विलास प्रमुख हैं।

जयपुर में पं० दौलतराम को उस समय के प्रकाण्ड विद्वान आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी की संगति का लाभ भी मिला था। उनके निधन के बाद 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' नामक ग्रंथ की अधूरी टीका को आपने ही पूर्ण किया था। 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' लगभग 1000 वर्ष पूर्व आचार्य अमृचन्द्र द्वारा लिखित संस्कृत भाषा का एक आचारविषयक उत्कृष्ट ग्रन्थ है। आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी ने इसकी भाषाटीका प्रारम्भ तो की, किन्तु असामयिक निधन के कारण वे उसे पूर्ण न कर सके। इसलिए जब उसे पूरी करने का प्रश्न आया तो रतनचन्द्र दीवान ने अत्यधिक विनय के साथ पं० दौलतराम से प्रार्थना की कि वे उसे पूरा करें। पं० दौलतराम ने उनकी प्रार्थना स्वीकार करके वि० सं० 1827 में उसे पूर्ण किया।

1.1.9. निधन :–

पं० दौलतराम कासलीवाल का निधन जयपुर में ही 80 वर्ष, 2 माह और 3 दिन की उम्र में भाद्रपद शुक्ला द्वितीया वि० सं० 1829 को हुआ; जैसा कि राजस्थान राज्य के अभिलेखागार में संगृहीत रिकॉर्ड के निम्नलिखित कथन से ज्ञात होता है :–

"संवत् 1829 मिती भादवा सुदि 2 वाके मिती फागुण सुदी 11 ने बाबति मुसारन अलह का बाप की मातमी को सिरोपाव बखस्यों कीमती साबिक थान 3।"[1]

1.2. व्यक्तित्व :–

पं० दौलतराम कासलीवाल के जीवनवृत्त एवं साहित्य के अध्ययनोपरान्त हमारे समक्ष उनके व्यक्तित्व के अनेक रूप उभर कर सामने आते हैं, जिन्हें हम निम्नलिखित 5 बिन्दुओं में वर्गीकृत करके भली-भाँति समझ सकते हैं :–

1. विद्वत्ता, 2. स्वभाव, 3. अभिरुचि,
4. आचरण, 5. सम्पर्क में आनेवाले प्रमुख व्यक्तित्व।

---

1. महाकवि दौलतराम कासलीवाल : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, प्रस्तावना, पृष्ठ 8ख

1.2.1. विद्वत्ता :–

पं० दौलतराम कासलीवाल अद्भुत प्रतिभाशाली विद्वान थे। उनकी विद्वत्ता की ख्याति दूर-दूर तक पहुँची हुई थी। अनेक जिज्ञासु लोग धर्म चर्चा हेतु आपसे मिलने आते थे। जयपुर-वासी ब्र० रायमल भी धर्मचर्चा हेतु आपसे मिलने उदयपुर तक गये थे और आपकी विद्वत्ता से काफी प्रभावित हुए थे[1]। उस समय के प्रसिद्ध वचनिकाकार पं० जयचन्द छाबड़ा ने भी आपकी विद्वत्ता की प्रशंसा करते हुए आपको 'पण्डितराय' शब्द से सम्बोधित किया है :–

*"दौलतराम गुणी अधिकाय, **पंडितराय** राज में जाय।*

ताकी बुद्धि लखै सब खरी, तीन पुरान वचनिका करी॥[2]"

पं० दौलतराम की विद्वत्ता का पता इस बात से भी लगता है कि जब तत्कालीन महाविद्वान आचार्यकल्प पं० टोडरमल अपनी 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-भाषाटीका' को अपूर्ण छोड़कर परलोकवासी हो गये थे तो उसे पूर्ण करने के लिए दीवान रतनचन्द्र आदि ने–यद्यपि जयपुर में ही अन्य भी अनेक विद्वान थे फिर भी– इन्हीं से निवेदन किया था :–

"तासूं रतन दीवान में, कही प्रीति धरि एह।

करिए टीका पूरणा, उर धरि धर्म सनेह॥[3]"

अपनी विद्वत्ता के लिए दूर–दूर तक विख्यात जयपुर की विद्वन्मण्डली में आचार्यकल्प पं० टोडरमल के बाद दूसरा आदरणीय स्थान पं० दौलतराम कासलीवाल को ही प्राप्त था। तत्कालीन जितने भी लेखकों ने जयपुर की विद्वन्मण्डली का वर्णन लिखा है, प्रायः उन सभी ने आचार्यकल्प पं० टोडरमल के बाद दूसरा नाम पं० दौलतराम कासलीवाल का ही गिनाया है।

पं० दौलतराम की अगाध विद्वत्ता का ज्ञान हमको उनकी रचनाओं से भी स्पष्ट होता है। जैन–साहित्य को जैन ग्रन्थों में चार अनुयोगों में विभाजित किया गया है :– प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। प्रथमानुयोग का विषय महापुरुषों का चरित्र-निरूपण है, करणानुयोग का विषय त्रिलोक आदि का गणितीय निरूपण है, चरणानुयोग का विषय गृहस्थ एवं मुनि के आचरण का निरूपण है और द्रव्यानुयोग का विषय षट्द्रव्य, सप्ततत्त्व एवं आत्मज्ञान आदि का निरूपण है।[4]

---

1. जीवन्त-पत्रिका, पृष्ठ 4
2. सर्वार्थसिद्धि-वचनिका, अन्तिम ग्रन्थ-प्रशस्ति, छन्द 7
3. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-भाषाटीका, अन्तिम ग्रन्थ-प्रशस्ति, छन्द 10
4. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, द्वितीय अध्याय, श्लोक 2 से 5

पं० दौलतराम कासलीवाल ने इन चारों ही अनुयोगों से सम्बन्धित साहित्य की रचना की है[1], जिससे सिद्ध होता है कि वे चारों अनुयोगों के गहन ज्ञाता थे।

पं० दौलतराम कासलीवाल संस्कृत और प्राकृत भाषा के भी अधिकारी विद्वान थे। वे इन भाषाओं में लिखित ग्रन्थों को न केवल पढ़ और समझ सकते थे, अपितु उनका प्रामाणिक अनुवाद और उनकी प्रामाणिक व्याख्या करने की भी उनमें अद्भुत सामर्थ्य थी। इतना ही नहीं, वे स्वयं उन भाषाओं में काव्य–रचना करने की क्षमता भी रखते थे। प्रमाणस्वरूप 'अध्यात्मबारहखड़ी' में स्थान-स्थान पर रचित प्राकृत एवं संस्कृत के शताधिक–काव्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं; किन्तु स्थानाभाव के कारण यहाँ केवल एक संस्कृत-काव्य प्रस्तुत हैं जो द्रुतविलंबित छंद में लिखा गया है:–

"यैर्न श्रुता त्वद्गदिता सुवाणी, नाराधिता त्वद्गतराजधानी।

हृता न पीड़ा च निपीड़िताना, तेषां वृथा जन्म तनुभृतानां॥[2]"

प्राकृत-काव्यरचना के प्रमाणस्वरूप 'अध्यात्मबारहखड़ी' के छन्द-ण/ 14 से 19 तक को विशेषतया देखा जा सकता है।

इसी प्रकार 'अध्यात्मबारहखड़ी' के प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में आने वाली विस्तृत पुष्पिकाओं को भी उन्होंने संस्कृत–गद्य में ही लिखा है। यथा– "इति श्रीभक्त्यक्षरमालिका बावनीस्तवन-अध्यात्मबारहखड़ी नामध्येये जिनसहस्रनाम-एकाक्षरीनाममालादि - अनेक - ग्रंथानुसारेण भगवद्भजनानंदाधिकारे आनन्दरामसुतदौलतरामेन अल्पबुद्धिना उपायनीकृते ककारादि-ङकारान्तपंचाक्षरप्ररूपको नाम तृतीयः परिच्छेदः।[3]"

पं० दौलतराम कासलीवाल ने अपनी रचना 'अध्यात्म बारहखड़ी' में ही अनेक स्थलों पर संस्कृत–शब्दों की व्याकरणसम्मत व्युत्पत्ति दिखलाई है तथा निश्चित क्रम में कारक-प्रत्ययों और धातु–प्रत्ययों का भी उल्लेख किया है जिससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन्होंने संस्कृत के व्याकरण आदि का भी विधिवत् ज्ञान प्राप्त किया था। एक स्थल पर वे लिखते हैं कि:–

"ङेभ्यांभ्यस्ङसिभ्यांभ्यसो, ङसि ओस जुआंमो जु।

ङीवोसजुसुप् शब्द ए, व्याकरणी रांमो जु।[4]"

---

1. उनकी कौन सी रचना किस अनुयोग की है–यह जानने के लिए रचनाओं की परिचयात्मक सारिणी इसी शोध-प्रबन्ध के पृष्ठ52पर देखें।
2. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द–य/69
3. वही, तृतीय परिच्छेद की अंतिम पुष्पिका
4. वही, छन्द–ङ/23

संस्कृत–व्याकरण के व्यवस्थित अध्ययन बिना ऐसा नहीं लिखा जा सकता था।

पं० दौलतराम कासलीवाल शब्दकोश के भी बड़े विद्वान थे। 'अध्यात्म-बारहखड़ी' में प्रयुक्त हजारों अप्रचलित शब्दों के प्रयोग, उनके अर्थ–प्रतिपादन और एक शब्द के अनेकार्थ स्पष्टीकरण से यह भी भलीभाँति प्रतीत होता है कि उन्होंने अमरकोष, नाममाला आदि शब्दकोशों का भी गहन ज्ञान प्राप्त किया था। प्रमाणस्वरूप निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं–

"गो कहिए इंद्रीनिकौं, गो कहिए जल नाम।
गो कहिए वाणी जु कौ, गो कहिए सुरधाम।।
गो इंद्रायुध है सही, गो खग अरु गो छंद।
गो कहिए पृथ्वी जु कौ, गो किरण जु नहिं मंद।।
गो है नांव अकास कौ, गो कहिए तरु नाम।
ए सब गो कहिए सही, तू सबमय सिवधाम।।[1]"

इसी प्रकार के और भी अनेकानेक स्थल 'अध्यात्म-बारहखड़ी' में भरे पड़े हैं; किन्तु स्थानाभाव के कारण उन सबको यहाँ उद्धृत करना संभव नहीं है। कतिपय प्रमुख स्थल हमारी हस्तलिखित प्रति के पत्र-संख्या 69, 312, 320 और 422 पर देखे जा सकते हैं, जिनमें हंस, भूत, मधु आदि शब्दों के अनेक अर्थ बताये गये हैं।

भाषा, कोश, व्याकरण के अतिरिक्त पं० दौलतराम कासलीवाल ज्योतिष, न्याय, योग आदि विषयों के भी ज्ञाता थे। प्रमाणस्वरूप उनकी रचनाओं से दो उद्धरण प्रस्तुत हैं:–

1. *"जबै उत्तरा भाद्र नक्षत्रा, शुक्ल जोग शुभकारी।*
बालव नाम करण तब वरतै, गायो ज्ञान बिहारी।।
एक महूरत दिन जब चढ़ियो, मीन लगन तव सिद्धा।[2]"

2. *"तु ही यम आसन नेम प्रकास। तु ही सब पूरक रेचक भास।*
तु ही इक कुंभक भासक देव। तु ही इक प्रत्याहार अभेव।[3]"

उक्त दोनों उद्धरण पं० दौलतराम कासलीवाल के ज्योतिष एवं योग सम्बन्धी ज्ञान को प्रमाणित करते हैं।

1. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द–ग/82 से 84
2. वही, अन्तिम ग्रन्थ-प्रशस्ति, छन्द 31-32
3. वही, छन्द–य/16

पं० दौलतराम कासलीवाल को जैन सिद्धान्तों का ज्ञान बहुत व्यापक एवं निर्मल था जो उनकी रचनाओं में पदे–पदे प्रतिबिम्बित हो रहा है। उन्होंने अपनी रचनाओं में अपनी बात को पुष्ट करने के लिए ज्ञानार्णव, रयणसार, समयसार, प्रवचनसार आदि अनेक सैद्धान्तिक ग्रन्थों के उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। अपनी अगाध विद्वत्ता के कारण ही पं० दौलतराम कासलीवाल को स्वाध्याय–प्रेमियों में बहुत आदर प्राप्त था।

पं० दौलतराम कासलीवाल ने अपनी रचनाओं में शताधिक ग्रन्थों के सन्दर्भ प्रस्तुत किये हैं, जिससे प्रतीत होता है कि उन्होंने उन ग्रन्थों का न केवल अध्ययन किया होगा, अपितु उन्हें स्मृति में भी रखा होगा।

पं० दौलतराम कासलीवाल की विद्वत्ता की प्रशंसा अनेक आधुनिक समीक्षकों और इतिहासकारों ने भी की है जिनमें डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य[1], पं० परमानंद शास्त्री[2], डॉ० गजानन मिश्र[3], डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन[4], डॉ० प्रेमसागर[5], डॉ० हुकमचंद भारिल्ल[6], डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल[7], डॉ० जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल[8] आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

1.2.2. स्वभाव :–

इतने विद्वान होने पर भी पं० दौलतराम कासलीवाल को तनिक भी अहंकार नहीं था। वे अपनी रचनाओं में स्वयं को 'अलपमति[9]', जिन दासों का दास[10], और 'कछुयक श्रुत परिचै जिसे[11], आदि कहते हैं। विनम्रता और सरलता उनके स्वभाव की अभिन्न विशेषताएँ हैं। 'अध्यात्मबारहखड़ी' जैसी अत्यन्त विशाल और विद्वत्तापूर्ण कृति का निर्माण करने के बाद भी वे उसकी प्रशस्ति में निरभिमानता एवं सरलता पूर्वक लिखते हैं कि मैं तो छन्द, अलंकार, कोश, शब्द, युक्ति, परमागम, सिद्धान्त, पुराण आदि कुछ नहीं जानता हूँ और कोई बुद्धिबल, तपबल, श्रुतिबल, दानबल आदि भी मुझमें नहीं है; मैंने तो

---

1. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग 4, पृष्ठ 282
2. अनेकान्त, अगस्त 1972, पृष्ठ 122
3. अनेकान्त, जून 1972, पृष्ठ 131
4. प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ, पृष्ठ 318–319
5. जैन भक्तिकाव्य और कवि, पृष्ठ 352
6. राजस्थान का जैन साहित्य, पृष्ठ 249
7. महाकवि दौलतराम कासलीवालः व्यक्तित्व एवं कृतित्व, प्रस्तावना, पृष्ठ 83
8. ब्रजभाषा गद्य का विकास, पृष्ठ 225-226
9. क्रियाकोश, छन्द 2012
10. अध्यात्मबारहखड़ी अंतिम ग्रंथ-प्रशस्ति छन्द 27
11. जीवन्धरस्वामिचारित, अंतिम ग्रंथ-प्रशस्ति, छन्द 3

केवल अध्यात्मरुचि के धारक जिनदासों की भक्ति के प्रसाद से ही इस ग्रन्थ की रचना की है; रचना भी क्या की है, वीतराग प्रभु का स्तवन किया है। उनका वह कथन मूलतः इस प्रकार है :–

"छंदभेद जाने नहीं, समुझि न ग्रन्थनि मांहि।
अलंकारविज्ञान कौ, अलंकार हू नांहि।।
कोसनि मैं लेस न धरै, परिचय काव्य न ज्ञान।
शब्द युक्ति परमागमा, ए त्रय धरे न कान।।
श्रुति सिद्धान्त सुने नहीं, देखे नांहि पुरान।
पेखे नांहि कदापि हू, सिंगारादिक आन।।
स्व पर न समय लखाव कछु, लौकिक कला न कोय।
नहिं पाई अनुभवकला, केवल चिन्मय सोय।।
योगाभ्यास अभ्यास नहिं, यमनियमादिक आठ।
बूझि न तत्त्वातत्त्व की, सूत्र न शास्त्र न पाठ।।
बुद्धिबल हू ऐसो नहीं, तपबल श्रुतिबल नांहि।
दानादिक को बल नहीं, छलबल नांहि जु पांहि।।
केवल अध्यातममयी, रुचिधर प्रभु के दास।
दासनि के दासानि की, क्रमरज शुभमति भास।।
ताकी भक्ति प्रसाद तैं, पूरन कीनों ग्रन्थ।
वीतराग प्रभु गाइया, गायो भगति सुपंथ।।"

पं० दौलतराम कासलीवाल धर्मानुरागी पुरुष थे। उनका विश्वास था कि धर्म ही जीव को सुख-शान्ति प्रदान करनेवाला है अतः उसको अपने हृदय में धारण करना चाहिए और पापबुद्धि महादुःखदायी है अतः उससे बचना चाहिए। वे अपनी रचनाओं में भी यत्र-तत्र ऐसी ही प्रेरणा अपने पाठकों को भी देते हुए दिखाई दते है। इस सन्दर्भ में 'श्रीपालचरित' के अन्त में लिखी हुई निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं जो उनके करुण हृदय से सार वाक्य की तरह फूट पड़ी जान पड़ती हैं:–

---

1. अध्यात्मबारहखड़ी, अंतिम ग्रंथ-प्रशस्ति, छन्द 17 से 24

"धर्म सकल सुखदाय है, ताते भवि उर आन।

पापबुद्धि दुखदां सही, छांडन की बुधि ठान।।"

धर्मानुरागी होने के कारण पं० दौलतराम अत्यन्त दयालु प्रकृति के मानव थे। उनके मन में प्राणी मात्र के प्रति दया और प्रेम का भाव भरा था। साहित्य–निर्माण भी उनकी हार्दिक करुणा का ही परिणाम था, क्योंकि वे किसी स्वार्थ या राज्याश्रय से प्रेरित होकर साहित्य-निर्माण नहीं कर रहे थे। अत्यन्त वृद्धावस्था में भी वे अपनी परोपकार–भावना से ही दिन-रात साहित्य-लेखन में जुटे हुए थे। तीन महापुराणों की वचनिका, 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' की भाषाटीका एवं 'विवेक विलास' आदि मौलिक ग्रन्थ—जिनका कुल परिमाण लगभग 8000 पृष्ठ है– तो उन्होंने तब लिखे, जब वे 68 वर्ष से ऊपर हो चुके थे। उनके मन में इस बात की बड़ी तड़प थी कि आज के युग में लोग प्राकृत-संस्कृत के ग्रन्थों को नहीं समझ पाते हैं जबकि उनमें जीवों के परम कल्याण का मार्ग बतलाया गया है, अतः यदि उनका आधुनिक भाषा में व्याख्यान हो जाय तो लोग उनका अध्ययन कर सकते हैं।[2] फलस्वरूप उन्होंने उन प्राकृत–संस्कृत के ग्रन्थों की सरल–सुबोध भाषा में वचनिकाएँ एवं टीकाएँ लिखीं। उन्होंने 'नरभाषा' के रूप में हिन्दी का ही कथन किया है। संस्कृत और प्राकृत तो उनके अनुसार क्रमशः 'देवभाषा' और 'अहिभाषा' हैं।[3]

पं० दौलतराम की इन हिन्दी–वचनिकाओं और टीकाओं का आम जनता पर इतना प्रभाव पड़ा कि अब उन ग्रन्थों के पाठक सम्पूर्ण देश के कोने-कोने में दिखाई देने लगे। गुजरात एवं दक्षिण भारत के अहिन्दी प्रान्तों में भी इनकी रचनाओं को लोग बड़े चाव से पढ़ने लगे[4] और धर्म की ओर उन्मुख होने लगे। वास्तव में इन रचनाओं ने जनता के स्वाध्याय का क्रम ही बदल दिया।लोग इनके दीवाने हो गए। हर मन्दिर और हर 'अध्यातम–सैली' में इन ग्रन्थों की प्रतियाँ तैयार की गईं। एक बार पं० दौलतराम के परम मित्र ब्र० रायमल मालवा प्रदेश में गए और उन्होंने वहाँ की समाज को पं० दौलतराम द्वारा रचित आदिपुराण एवं पदमपुराण की वचनिकाओं को पढ़कर सुनाया, जिससे वहाँ के श्रावकों को अपार हर्ष हुआ। उन्होंने इन ग्रन्थों को बार–बार सुनने की इच्छा प्रकट की तथा

---

1. श्रीपालचरित, छन्द 753
2. (क) क्रियाकोश, छन्द 2501
   (ख) अध्यात्मबारहखड़ी अंतिम ग्रंथ-प्रशस्ति, छन्द 4
   (ग) जीवन्धरस्वामिचरित, अंतिम ग्रंथ-प्रशस्ति, छन्द 6
   (घ) समयसार-कलश-टब्बाटीका, अंतिम ग्रन्थ-प्रशस्ति, छन्द 26
3. वसुनन्दि-श्रावकाचार-टब्बाटीका, अंतिम ग्रंथ-प्रशस्ति, छन्द 26–27
4. हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ 181

वहीं से पं० दौलतराम को पत्र भी लिखवाया कि वे इसी प्रकार 'हरिवंश पुराण' की भाषा वचनिका भी लिखें।[1]

इस घटना से पं० दौलतराम की वचनिकाओं के व्यापक प्रचार का प्रमाण मिलता है।

पं० दौलतराम कासलीवाल की आस्था पूर्णतः दिगम्बर जैन धर्म में थी। वे अनेक स्थलों पर स्पष्ट कहते हैं कि मुझे केवल एक वीतराग देव, दिगम्बर गुरु और दयामयी जिन धर्म का ही आश्रय है।[2] दिगम्बर जैन धर्म में भी वे शुद्धाम्नाय 'तेरापंथ' में ही विश्वास करते थे। ब्र० रायमल ने भी अपनी 'जीवन-पत्रिका' में स्पष्ट लिखा है कि :– "उदैपुर विषैं दौलतराम तेरापंथी सूं धर्म अर्थि मिले[3]" इत्यादि।

बाबू ज्ञानचन्द्र जैनी ने भी इनको 'तेरापंथी' लिखा है। न केवल तेरापंथी लिखा है, अपितु यह भी लिखा है कि तेरापंथ वि० सं० 1777 में उनकी राय से ही अलग हुआ।[4]

दिगम्बर जैन धर्म और शुद्धाम्नायी तेरापंथ में पूर्ण आस्था रखते हुए भी पं० दौलतराम साम्प्रदायिक संकीर्णता से मुक्त और लोक-कल्याण की भावना से युक्त थे। वे सबका भला चाहते थे। उनके अन्तर्मन में किसी के प्रति कोई दुर्भाव नहीं था। प्रमाणस्वरूप उनकी रचनाओं से अनेक उद्धरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। यथा:–

1. *"सुख सौ जीवौं जीव सहु, क्लेश कष्ट मति होहु।*
   तजौ पाप को सर्व ही, तजौ परस्पर द्रोह।।
   काहू को हू पराभवा, कबहु करौ मति कोइ।
   इह हमरी वांछा फलौ, सुख पावौ सहु लोइ॥[5]"
2. *"सुखी होहु राजा अर लोक। मिटो सबनि के दुख अरु शोक।।*
   वरतो सदा मंगलाचार। उतरो बहुजन भवजल पार।।[6]"

पं० दौलतराम कासलीवाल के स्वभाव में खण्डन-मण्डन की भावना भी नहीं थी। वे उससे सर्वथा दूर ही रहे। भट्टारकवाद या बीसपंथ या किसी अन्य के खण्डन में उन्होंने अपना अमूल्य समय

---

1. हरिवंशपुराण-वचनिका, अंतिम ग्रंथ-प्रशस्ति, छन्द 8 से 14
2. अध्यात्मबारहखड़ी, अंतिम ग्रंथ-प्रशस्ति, छन्द 14
3. जीवन-पत्रिका, पृष्ठ 4
4. जैनबाल गुटका, प्रथम भाग, पृष्ठ 86
5. क्रियाकोश, छन्द 394–395
6. पद्मपुराण-वचनिका, अंतिम ग्रंथ-प्रशस्ति छन्द 9

नष्ट नहीं किया। वे तो निरंतर श्रेष्ठ साहित्य के निर्माण में ही स्वयं को लगाए रहे और उस युग को देखते हुए यह उनके व्यक्तित्व की महती विशेषता मानी जानी चाहिए; क्योंकि यदि वे किसी के खण्डन-मण्डन के चक्कर में पड़ते तो वे इतनी विशाल मात्रा में जनोपयोगी साहित्य का निर्माण नहीं कर पाते। यह भी हो सकता था कि पं० टोडरमल की तरह वे भी साम्प्रदायिकता के शिकार हो जाते। हमारी दृष्टि में उन्होंने खण्डन-मण्डन के चक्कर में न पड़कर बड़ी समझदारी का कार्य किया।

वस्तुतः पं० दौलतराम कासलीवाल अत्यन्त शांतिप्रिय व्यक्ति थे। घोर अशांति के काल में भी वे अनवरत साहित्य–निर्माण और आत्मसाधना में ही लगे रहने को अपना श्रेष्ठ कार्य समझते थे। यही कारण है कि वि० सं० लगभग 1818 से 1826 तक जयपुर राज्य में घोर साम्प्रदायिक अशांति रही, फिर भी वे अपने सृजनात्मक कार्यों से विचलित नहीं हुए।

1.2.3 अभिरुचि :–

पं० दौलतराम की रुचि का विषय मुख्यतः सत्साहित्य का अध्ययन, लेखन और प्रवचन ही था। उनके पास राज्यकार्यों के बाद जितना भी समय मिलता था, उसे वे व्यर्थ नहीं गँवाते थे, किसी की निन्दा-प्रशंसा में भी नहीं खर्च करते थे; अपितु उसका उपयोग इन्हीं उत्तम कार्यों में करते थे, क्योंकि उनके मन में साहित्य-सेवा की भावना कूट-कूट कर भरी थी। सत्साहित्य के अध्ययन में उनकी गहरी रुचि थी। यद्यपि वे राज्यसेवा के बड़े उत्तरदायित्वों को सँभाल रहे थे और उस युग में विद्युत आदि की आज-जैसी सुविधाएँ भी नहीं थीं, तथापि उन्होंने सैकड़ों ग्रन्थों का स्वाध्याय कर लिया था, जिसका संकेत हमें ब्र० रायमल की 'जीवन-पत्रिका' के "सदैव सौ पचास शास्त्र का अवलोकन किया।"[1] वाक्यांश से भी प्राप्त होता है। उनकी रचनाओं में तो उनकी गहन अध्ययनशीलता पद-पद पर झलक ही रही है।

अध्ययन की भाँति लेखन में भी पं० दौलतराम की विशेष रुचि थी। जनकल्याण की भावना से प्रेरित होकर वे साहित्य-लेखन में दिन-रात अथक परिश्रम करते थे। उनकी कुछ रचनाओं की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि उनका लेखन रात्रि में पूर्ण हुआ। दिनभर राजकार्य करने के बाद भी रात में जागकर सत्साहित्य का लेखन करना उनकी विशेष रुचि के कारण ही हो सका। उन्होंने पद्य और गद्य दोनों में ही विपुल साहित्य का लेखन किया है। उस युग में पद्य-लेखक तो अनेक थे, पर गद्य में लिखना टेढ़ी खीर थी। यह पं० दौलतराम की हार्दिक रुचि ही थी कि उन्होंने गद्य भी लिखा और वह भी इतना परिमार्जित कि आगामी लेखकों के लिए मार्गदर्शक सिद्ध हुआ।

---

1. जीवन-पत्रिका, पृष्ठ 4

पं० दौलतराम की रुचि शास्त्र-प्रवचन में भी थी, क्योंकि वह भी जन-कल्याण का एक उत्तम माध्यम है। आगरा, उदयपुर, जयपुर– सभी स्थानों पर वे प्रायः प्रतिदिन जन-जागृति के लिए शास्त्र-प्रवचन करते थे। वे कुशल वक्ता थे। उनकी वाणी में रस था। वे अपने विचारों को प्रभावशाली ढंग से सभा में प्रस्तुत करने की बड़ी रोचक कला जानते थे। उनके प्रवचनों ने देश की शास्त्र–सभाओं में अद्‌भुत उत्साह भर दिया था। उदयपुर में आपके प्रवचनों से ही एक नवीन दैनिक शास्त्र-सभा की स्थापना हुई। आपके प्रवचनों में विद्वत्ता और रोचकता का इतना सुन्दर सामञ्जस्य होता था कि कई बड़े-बड़े लोग भी आपके समक्ष स्वयं प्रवचन नहीं करते थे, अपितु आप से ही निवेदन करते थे। एक बार उदयपुर में ब्र० घासीराम तपस्वी आए थे, किन्तु सभा में शास्त्र पढ़ने का काम पं० दौलतराम को ही करना होता था। ब्र० घासीरामजी तो समक्ष बैठकर सुनने को ही अधिक लाभप्रद समझने लगे। पं० दौलतराम के व्याख्यानों से वे इतने प्रभावित हुए कि बहुत दिनों तक उदयपुर रुके और पं० दौलतराम के मुख से अनेक ग्रंथों पर व्याख्यान सुनते रहे।[1]

पं० दौलतराम को अध्यात्म की भी विशेष रुचि थी। अध्यात्मचर्चा में उनको बड़ा रस आता था। वे अध्यात्मरुचि के बल पर ही रीतिकाल और उसमें भी राजदरबार के वातावरण में रहकर भी उससे जल में कमल की भाँति निर्लिप्त रह सके और मनोयोग पूर्वक 'विवेक-विलास' आदि आध्यात्मिक ग्रन्थों की रचना करते रहे। पं० दौलतराम की आध्यात्मिक रुचि का एक प्रमाण यह भी है कि उनकी बीस रचनाओं में से छः रचनाओं का तो मुख्य विषय ही अध्यात्म है और शेष रचनाओं में भी यत्र-तत्र अध्यात्म का पुरजोर प्रतिपादन किया गया है। 'क्रियाकोश'तो एक आचरणपरक ग्रन्थ है, किन्तु उसमें भी अपने विषय को आध्यात्मिक स्वर दिया है। जैसे– बात चल रही है चोरी की, किन्तु वे आध्यात्मिक शैली में लिखते हैं कि निश्चय से अपने आत्मा को छोड़कर परपदार्थों से अनुराग करना ही चोरी है, अतः समस्त परपदार्थों की ममता छोड़कर अपने चैतन्यधन को प्राप्त करना चाहिए :–

"निश्चै चोरी इह भाई, तजि आतम जड़ लव लाई।
पर परिणति प्रणमन चोरी, छांड़ें ते जिनमत धोरी।।
तातें सुनि के अध्यातम, छोडो ममता सब आतम।
अपनो चेतनधन लेहो, पर की आसा तजि देहो॥[2]"

'चौबीस दण्डक' जैसी गणित प्रधान कृति में भी उन्होंने अध्यात्म पर बड़ा बल दिया है।[3]

---

1. समयसार-कलश–टब्बाटीका, अंतिम ग्रन्थ-प्रशस्ति, छन्द 43 से 46
2. क्रियाकोश, छन्द 576 व 579
3. देखिए, चौबीस दण्डक, छन्द 4–5

स्वयं को अध्यात्म की रुचि होने के क़ारण ही पं० दौलतराम को अन्य आध्यात्मिक व्यक्तियों से विशेष अनुराग था। एक स्थल पर वे यह तक कहते हैं कि मैं तो अध्यात्मरुचिवन्त जीवों का मन-वचन-काय से दास हूँ :– "अध्यातम रोचीनि कौ, दासा मन वच काय।[1]"

1.2.4. आचरण :–

अध्यात्मरसिक होते हुए भी पं० दौलतराम पूर्णतः सामाजिक और सदाचारी महामानव थे। वे अध्यात्मिकता के नाम पर सामाजिक कर्त्तव्यों से विमुख नहीं थे। वे अपने राज्यकार्यों को पूरी निष्ठा से करते थे। यही कारण है कि उनको अनेक बार राज्य की ओर से सम्मानित किया गया था। डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल भी लिखते हैं कि"इनकी सेवाओं से प्रसन्न होकर महाराजा जयपुर ने संवत् 1794 एवं 1800 में उदयपुर में ही सिरोपाव भेजकर इनकी सेवाओं का मूल्यांकन किया।[2]" उनकी सामाजिक भावना को तो हम विगत पृष्ठों में भलीभाँति उजागर कर ही चुके हैं, और अब जहाँ तक आचरण का प्रश्न है तो इस विषय में हम उनकी 'क्रियाकोश' आदि आचारप्रधान रचनाओं को पढ़कर यह विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि उनका आचरण अत्यन्त उत्कृष्ट था। वे मद्य, मांस, मधु का सेवन और रात्रिभोजन तो बहुत दूर, कभी जल भी बिना छाने नहीं पीते थे। उनका मानना था कि बिना छने जल में अपार जीव-राशि होती है,अतः उसकी हिंसा से बचने के लिए पानी को छानकर ही काम में लेना चाहिए। इसके अतिरिक्त चमड़ा, अचार, मुरब्बा, द्विदल,चलित रस आदि अभक्ष्य पदार्थों के भक्षण का उन्होंने जैसा निषेध किया है उससे यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि वे उन पदार्थों का भी सेवन नहीं करते थे।

पं० दौलतराम के व्यक्तित्व में अध्यात्म और आचरण का बड़ा अद्‌भुत सुमेल था। एक ओर वे अध्यात्म के रसिया थे, किन्तु दूसरी ओर बाह्य सदाचार का भी अधिक से अधिक पालन करते थे। सदाचार और संयम के प्रति उनके मन में बड़ा आदर भाव था। उन्होंने संयम व सदाचार के धारक जीवों को अपनी रचनाओं में प्रणाम किया है।[3]

1.2.5. सम्पर्क में आने वाले प्रमुख व्यक्तित्वः–

मनुष्य के व्यक्तित्व-निर्माण में उन व्यक्तियों का भी अवश्य योग होता है जो उसके सम्पर्क में आते हैं; अतः यहाँ पं० दौलतराम कासलीवाल के सम्पर्क में आने वाले प्रमुख व्यक्तित्वों का अध्ययन भी न्यायसंगत है।

---

1. अध्यात्मबारहखड़ी, अंतिम ग्रंथ-प्रशस्ति, छन्द 15
2. महाकवि दौलतराम कासलीवालः व्यक्तित्व एवं कृतित्व, प्रस्तावना, पृष्ठ 8
3. क्रियाकोश, छन्द 2014 व 2432

1.2.5.1. राजनीतिक व्यक्तित्व:—

पं० दौलतराम कासलीवाल राजसेवा से जुड़े हुये थे, अतः उनका सम्पर्क अनेक प्रभावशाली राजनीतिक व्यक्तित्वों से हुआ था। उनमें कतिपय प्रमुख राजनीतिक व्यक्तित्व निम्नलिखित हैं:—

(क) **सवाई जयसिंह** :— ये जयपुर के निर्माता एवं प्रथम शासक थे। ये अपनी वीरता और सूझ—बूझ के लिए विख्यात थे। साहित्य, कला और संस्कृति के भी विशेष प्रेमी थे। इनका शासन काल वि० सं० 1758 से 1800 तक था। पं० दौलतराम कासलीवाल वि० सं० लगभग 1786—87 से लेकर 1800 तक इनके 'अनुचर' रहे।[1]

(ख) **सवाई माधोसिंह** :— ये जयपुर-नरेश सवाई जयसिंह के पुत्र थे। और पहले वि० सं० 1808 तक तो उदयपुर में रहे, किन्तु बाद में वि० सं० 1808 से लेकर 1824 तक जयपुर की राजगद्दी पर विराजमान रहे। पं० दौलतराम कासलीवाल इनके साथ उक्त पूरी अवधि में उदयपुर और जयपुर दोनों स्थानों पर रहे।

(ग) **महाराणा जगतसिंह** :— ये उदयपुर के महाराणा थे और सवाई माधोसिंह के नाना भी थे। पं० दौलतराम कासलीवाल पर महाराणा की बड़ी कृपा थी। वे उदयपुर में इन्हीं के साथ रहते थे। यथा—

"रहै रांण के पास, रांण अति किरपा करई।
जाने नीकौ जाहि, भेदभाव जु नहिं धरई।।"[2]

(घ) सवाई पृथ्वीसिंह :— ये भी जयपुर के राजा थे, जो सवाई माधोसिंह के बाद राजगद्दी पर बैठे थे। इनका शासनकाल वि० सं० 1824 से 1834 तक है। पं० दौलतराम कासलीवाल ने इनकी प्रशंसा इस प्रकार की है:—

"नगर सवाई जयपुरा, जहाँ बसे बहु न्याति।
राजा पृथ्वीसिंह है, जो कछुवाहा जाति।।
शिरोभाग राजान में, दूढ़ाहड़ पति सोय।
ताके मंत्री श्रावका, और न्यात हू होय।।"[3]

---

1. क्रियाकोश, अन्तिम छन्द।
2. जीवन्धरस्वामिचरित, अंतिम प्रशस्ति, छन्द 4
3. हरिवंशपुराण-वचनिका, अंतिम प्रशस्ति, छन्द 3,4

(ङ) **दीवान रतनचन्द्र** :—ये जयपुर-नरेश सवाई माधोसिंह के और उसके बाद सवाई पृथ्वीसिंह के प्रमुख दीवान थे। इनका दीवान-काल वि० सं० 1813 से 1825 है। ये आचार्यकल्प पंडित टोडरमल की सभा के प्रमुख श्रोता थे और अत्यन्त धर्मानुरागी थे। पं० दौलतराम कासलीवाल से भी इनका घनिष्ठ सम्पर्क था। उन्होंने अपनी रचना 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-भाषाटीका' की प्रशस्ति में इनका परिचय इस प्रकार दिया है:—

"साधर्मिन में मुख्य है, रतनचन्द दीवान।
पृथ्वीसिंह नरेश को, श्रद्धावान सुजान।।
तिनके अतिरुचि धर्म सौं, साधर्मिन सौं प्रीति।
देव-शास्त्र-गुरु की सदा, उर में महा प्रतीति।।"

पं० दौलतराम कासलीवाल ने अपनी 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-भाषाटीका' की रचना दीवान रतनचन्द की प्रेरणा से ही की थी।[2]

(च) **दीवान वृद्धिचन्द्र** :— ये दीवान रतनचन्द्र के भाई थे। पं० दौलतराम कासलीवाल ने इनको 'शुभमति' और अपना घनिष्ठ मित्र लिखा है तथा यह भी कहा है कि 'हरिवंशपुराण-वचनिका' की अनुपम रचना उन्हीं के आग्रह से सम्पन्न हुई है:—

"रतनचंद दीवान इक, भूपत के परधान।
तिन के भाई शुभमती, विधीचंद परवान।।
सो दौलत के मित्र अति, भये जु उद्यम रूप।
तिनके आग्रह तें भई, टीका यहै अनूप।।[3]"

1.2.5.2. साहित्यिक एवं सामाजिक व्यक्तित्व:—

पं० दौलतराम कासलीवाल साहित्य-सेवा के माध्यम से जनसेवा का महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे थे, अतः उनका सम्पर्क उस काल के अनेक साहित्यिक एवं सामाजिक व्यक्तित्वों से भी हुआ था। उनमें से कतिपय साहित्यिक एवं सामाजिक व्यक्तित्व निम्नलिखित हैं:—

(क) **भूधरदास** :- ये आगरा की 'अध्यातम सैली' के प्रमुख विद्वान थे। इन्होंने वि० सं० 1781 में 'जैनशतक' और वि० सं० 1789 में पार्श्वपुराण' नामक महाकाव्य की रचना की थी। पं० दौलतराम

---

1. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-भाषाटीका, अंन्तिम प्रशस्ति, छन्द 6,7
2. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-भाषाटीका, अंन्तिम प्रशस्ति, छन्द 10
3. हरिवंशपुराण-वचनिका, अन्तिम प्रशस्ति, छन्द 18,19

कासलीवाल का इनसे बहुत अच्छा सम्पर्क था। वे इनसे प्रभावित भी थे। अपनी प्रथम कृति 'पुण्यास्रवकथाकोश-भाषा' में उन्होंने इनका प्रशंसात्मक परिचय इस प्रकार दिया है:—

"भूधरमल जिनधर्मी ठीक। रहे स्याहगंज में तहकीक।
जिनसुमरण पूजा परवीन। दिन प्रति करै असुभ कौ छीन।।"[1]

(ख) ऋषभदास:— ये भी आगरा की 'अध्यातम सैली' के प्रमुख विद्वान थे। पं० दौलतराम कासलीवाल इनसे अत्यधिक प्रभावित थे। वे इन्हें अपना गुरु स्वीकार करते थे और इनके प्रति अपने हृदय में असीम आदर एवं कृतज्ञता का भाव धारण करते थे; क्योंकि इनके उपदेश से ही उनको मिथ्यात्व का त्याग करके धार्मिक जीवन की ओर लगने की प्रेरणा प्राप्त हुई थी। 'पुण्यास्रवकथाकोश-भाषा' की प्रशस्ति में ऋषभदास का गुणानुवाद करते हुए वे लिखते हैं कि—

"रिषभदास उपदेस सौं, हमें भई परतीत।
मिथ्यामत को त्यागिकें, लगी धर्म सौं प्रीत।।
रिषभदेव जयवन्त जग, सुखी होहु तसु दास।
जिन हमको जिनमत विषैं, कीयौ महा गढ़ास।।"[2]

'पुण्यास्रवकथाकोश-भाषा' की अंतिम प्रशस्ति (छन्द 20 से 24 तक) में पं० दौलतराम ने रिषभदास के उस उपदेश को भी संक्षेप में व्यक्त किया है, जिससे उन्हें पवित्र प्रेरणा मिली थी।

(ग) **हेमराज** :— ये भी आगरा की 'अध्यातम सैली' के प्रमुख विद्वान थे और सदैव अध्यात्मचर्चा एवं प्रभु-भक्ति में लीन रहते थे। पं० दौलतराम कासलीवाल ने इनका प्रशंसात्मक उल्लेख इस प्रकार किया है:—

"हेमराज साधर्मी भले। जिनवच मानि असुभ दलमले।
अध्यातम चरचा निति करै। प्रभु के चरण सदा उर धरै।।"[3]

(घ) **पं० टोडरमल** :— ये जयपुर के सर्वाधिक प्रसिद्ध विद्वान थे। जो अत्यन्त तीक्ष्ण प्रज्ञा और बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। इन्होंने अल्पायु में ही अनेक विशाल ग्रन्थों की रचना की जिनमें सम्यग्ज्ञानचंद्रिका, मोक्षमार्गप्रकाशक, रहस्यपूर्ण चिट्ठी आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। पं० दौलतराम का

---

1. पुण्यास्रवकथाकोश-भाषा, अन्तिम प्रशस्ति, छन्द 15
2. वही, अन्तिम प्रशस्ति, छन्द 21,22
3. वही, अन्तिम प्रशस्ति, छन्द 16

जयपुर में इनसे लगभग 15 वर्ष तक घनिष्ठ सम्पर्क रहा। पं० दौलतराम अभी तक प्रायः पद्य ही लिख रहे थे, किन्तु इनके समागम में आने पर उनका झुकाव गद्य-लेखन की ओर विशेष हुआ।

पं० टोडरमल की अपूर्ण रचना 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-भाषाटीका' को उनके निधन के बाद पं० दौलतराम ने ही पूर्ण किया था।

(ङ) **ब्र० रायमल** :— ये तत्कालीन श्रावक थे जिनके हृदय में साहित्य–प्रचार की अत्यधिक भावना भरी थी। घूम–घूम कर विद्वानों से मिलना और उन्हें जनोपयोगी साहित्य-लेखन के लिए प्रेरित करना ही इनका मुख्य कार्य था। वि० सं० 1805 से पूर्व ये पं० दौलतराम से भी मिलने उदयपुर गये थे और बहुत प्रभावित भी हुये थे।[1] पं० दौलतराम के जयपुर आ जाने पर तो ये दोनों परस्पर घनिष्ठ मित्र बन गये। पं० दौलतराम ने अपनी 'पद्मपुराण–वचनिका' और 'हरिवंशपुराण–वचनिका' नामक कृतियों की रचना तो ब्र० रायमल की प्रेरणा से ही की। पं० दौलतराम ने अपनी उक्त दोनों रचनाओं की प्रशस्ति में ब्र० रायमल का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है:—

(1) *"रायमल्ल साधर्मी एक। जाके घट में परम विवेक।।*
दयावंत गुणवंत सुजान। पर उपकारी परम निधान।।
दौलतराम सु ताको मित्र। तासों भाष्यों वचन पवित्र।।[2]"

(2) *"रायमल्ल के रुचि बहुत, व्रत किरिया परवीन।*
गये देश मालव विषैं, जिनशासन लवलीन।।[3]"

(च) **पं० नवलराम**:—"ये बसवा के निवासी थे। महापण्डित दौलरामजी कासलीवाल से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। इन्हीं की प्रेरणा से नवलराम की साहित्य की ओर रुचि हुई थी। ये मुख्यतया भक्ति–कवि थे।[4]" "इनका समय 1790 से 1855 माना जाता है। इनके दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं :— वर्द्धमान-पुराण और बुद्धि-विलास। एक तीसरी रचना फुटकर पदों के रूप में है।[5]"

(छ) **ब्र० घासीराम**:— ये कोई गृहत्यागी, उत्कृष्ट आचारी और तपस्वी व्यक्ति थे जो एक बार घूमते-घूमते उदयपुर में आकर वहाँ के जैनमन्दिर में ठहरे थे। उस समय पं० दौलतराम प्रतिदिन

---

1. देखिए-जीवन-पत्रिका, पृष्ठ 4
2. पद्मपुराण-वचनिका, अन्तिम प्रशस्ति, छन्द 4,5
3. हरिवंशपुराण-वचनिका, अन्तिम प्रशस्ति, छन्द 8
4. अनेकान्त, वर्ष 25, अंक 4 पृष्ठ 157 पर डॉ० रजानन मिश्र का लेख।
5. महावीर जयन्ती स्मारिका (1964), पृष्ठ 94

मंदिर जाकर शास्त्र पढ़ते थे अतः उनका इनसे अच्छा स्नेह–सम्पर्क हो गया। ब्र० घासीराम ने पं० दौलतराम के मुख से अनेक ग्रन्थों का व्याख्यान सुना था और उससे अत्यन्त प्रभावित होकर पं० दौलतराम को समयसार-कलशों की टब्बा टीका लिखने के लिए प्रेरित भी किया था। पं० दौलतराम ने इनका उल्लेख इस प्रकार किया है:–

"समै पाई उदियापुर धाम। आये तपसी घासीराम।।
आचारी चरची कवि एस। धारौ ब्रह्मचार को भेस।।
तिरटै जिनमंदिर मैं सही। दौलति तिनसौ प्रीति जु लही।।"

(ज) **बेलजी सेठ** :– ये पं० दौलतराम के अत्यन्त प्रिय व्यक्ति एवं उदयपुर में चलने वाली दैनिक शास्त्रसभा के नियमित श्रोता थे। ये पं० दौलतराम से साहित्य–रचना हेतु विशेष अनुरोध करते रहते थे। पं० दौलतराम ने अपनी 'जीवन्धरस्वामिचरित[2]', 'वसुनन्दिश्रावकाचार-टब्बाटीका[3]' और 'समयसार–कलश–टब्बाटीका[4]'– इन तीन कृतियों की रचना बेलजी सेठ के अनुरोध से की है। पं० दौलतराम के कथनानुसार बेलजी सेठ सागवाड़ निवासी और हूंमड जातीय थे:–

"सेठ बेलजी सुघर, जाति हूंमड हितकारी।
सागवाड है वास, श्रवण की लगनि घणेरी।।[5]"

(झ–ड) **अमरपाल, चतुर्भुज, फतेचन्द, बिहारीलाल और सदानन्द**:- ये सभी आगरा की 'अध्यातम-सैली' के प्रमुख श्रोता थे, जो अध्यात्मशास्त्रों की चर्चा एवं प्रभु–भक्ति में ही अपना अधिकांश समय व्यतीत करते थे। पं० दौलतराम का आगरा में इन सभी से घनिष्ठ सम्पर्क था। उन्होंने अपनी प्रथम कृति 'पुण्यास्रवकथाकोश–भाषा' की अन्तिम प्रशस्ति में इन सबका प्रशंसापूर्वक उल्लेख किया है।

(ढ–प) **पृथ्वीराज, चतुर्भुज अग्रवाल, चीमा पंडित, कर्णदास, बख्तावरदास, मनोहरदास, हरिदास और खेतसिंह**:- ये सभी उदयपुर की दैनिक शास्त्र सभा के प्रमुख श्रोता थे और पं० दौलतराम

---

1. समयसारकलश-टब्बाटीका, अन्तिम प्रशस्ति, छन्द 43,44
2. तिनहैं आग्रह करि कही, पुनि दौलत के मन बसी।
   संस्कृत तैं भाष कीनी, इहै कथा है नौरसी।। — अन्तिम प्रशस्ति, छन्द 7
3. बोले सेठ बेलजी नाम। सुन नृपमंत्री दौलतराम।।
   टब्बा होय जो गाथा तनो। पुन्य ऊपजै जिय कौ घनो।। — अन्तिम प्रशस्ति, छन्द 29
4. भई सहाई सेठ करायो इह टब्बा। — अन्तिम प्रशस्ति, छन्द 49
5. जीवन्धरस्वामिचरित, अंतिम प्रशस्ति, छन्द 7

के अत्यन्त प्रशंसक थे। उन्हें पुनः पुनः शास्त्र-रचना की भी प्रेरणा देते रहते थे। उनके द्वारा उदयपुर में लिखित ग्रन्थों की रचना में इन सभी श्रोताओं का विशेष सहयोग रहा है। पं० दौलतराम ने भी अपने ग्रन्थों की अन्तिम प्रशस्तियों में इन सभी के हार्दिक सहयोग का उल्लेख किया है। यथा :—

"उदियापुर में रुचिधरा, कैयक जीव सुजीव।
प्रथीराज चतुर्भुजा, श्रद्धा धरहि अतीव।।
दास मनोहर अर हरी, द्वै बखता अर कर्ण।
केवल केवल रूप कौ, राखै एक हि सर्ण।।
चीमा पंडित आदि लौ, मन में धरहि विचार।
बोले दौलतराम सौं, करि सनेह रस व्यक्ति।।
बारखड़ी करिए भया, भक्ति प्ररूप अनूप।।"

(फ–ब) **सीताराम और सवाईराम** :- ये दोनों जयपुर के ग्रंथ-लेखक प्रतीत होते हैं। पं० दौलतराम ने अपनी वृद्ध अवस्था में लिखित 'हरिवंशपुराण-वचनिका' के लेखन हेतु इनका सहयोग लिया था:—

"सीताराम जु लेखका, और सवाई राम।
तिन पर लिखवायो जु यह, बहुत कथा कौ धाम।।[2]"

इस प्रकार हम देखते हैं कि पं० दौलतराम कासलीवाल एक बहुमुखी प्रतिभा के धनी महाविद्वान थे। वे एक साथ महाकवि, लेखक और कुशल वक्ता भी थे। उनका मन अध्यात्मरुचि, विनयशीलता, साहित्यानुराग और परोपकार-भावना से लबालब भरा हुआ था। □□□

---

1. अध्यात्मबारहखड़ी, अंतिम प्रशस्ति, छन्द 5,6,7,9,10
2. हरिवंशपुराण-वचनिका, अंतिम प्रशस्ति, छन्द 21

द्वितीय अध्याय

रचनाएँ : वर्गीकरण एवं परिचय

क्रम.	पृष्ठ-संख्या
2.1 रचनाएँ	**51**
2.2 वर्गीकरण	**53**
2.2.1. पहला दृष्टिकोण	53
2.2.2. दूसरा दृष्टिकोण	54
2.2.3. तीसरा दृष्टिकोण	54
2.2.4. चौथा दृष्टिकोण	54
2.3.परिचय	**56**
2.3.1. चरितकाव्य	56
2.3.1.1. श्रेणिकचरित	57
2.3.1.2. जीवन्धरस्वामिचरित	59
2.3.1.3. श्रीपालचरित	62
2.3.2. विचारकाव्य	65
2.3.2.1. क्रियाकोश	65
2.3.2.2. अध्यात्मबारहखड़ी	72
2.3.2.3. विवेक विलास	78
2.3.2.4. चौबीस दण्डक	81
2.3.2.5. चतुर-चितारणी	83
2.3.2.6. सार-समुच्चय	86
2.3.2.7. सिद्धपूजाष्टक	87
2.2.3. गद्य-विधाएँ	88
2.3.3.1. अनुवादात्मक गद्य-विधाएँ	89
2.3.3.1.1. पुण्यास्रवकथाकोश-भाषा	90
2.3.3.1.2. पद्मपुराण-वचनिका	93
2.3.3.1.3. आदिपुराण-वचनिका	97
2.3.3.1.4. हरिवंशपुराण वचनिका	99
2.3.3.1.5. परमात्मप्रकाश-वचनिका	104
2.3.3.2. टीकात्मक गद्य-विधाएँ	107
2.3.3.2.1. भाषाटीका	107
2.3.3.2.1.1.पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-भाषा टीका	107
2.3.3.2.2. टब्बाटीका	110
2.3.3.2.2.1.समयसार-कलश–टब्बाटीका	111
2.3.3.2.2.2.वसुनन्दि-श्रावकाचार-टब्बाटीका	112
2.3.3.2.2.3.कार्तिकेयानुप्रेक्षा-टब्बाटीका	115
2.3.3.2.2.4.तत्त्वार्थसूत्र-टब्बाटीका	116

द्वितीय अध्याय

रचनाएँ : वर्गीकरण एवं परिचय

2.0. पं० दौलतराम कासलीवाल के साहित्य का विशेष अध्ययन करने से पूर्व उनकी समस्त रचनाओं का एक साथ सामान्य परिचय प्राप्त कर लेना उचित है तथा परिचय से पूर्व व्यवस्थित अध्ययन के लिए रचनाओं का वर्गीकरण भी अत्यन्त उपयोगी है। प्रस्तुत अध्याय इसी से सम्बन्धित है।

2.1. रचनाएँ :—

पं० दौलतराम कासलीवाल एक प्रसिद्ध साहित्यकार हुये हैं, अतः उनके विषय में अनेक समीक्षकों द्वारा लिखित लेखादि की कुछ छुटपुट सामग्री प्राप्त होती है। तदनुसार, पं० दौलतराम की रचनाओं की संख्या किसी[1] ने 8 बताई है, किसी[2] ने 11 बताई है, किसी[3] ने 17 बताई है और किसी[4] ने 18 बताई है; किन्तु दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही शोध-खोज के आधार पर अब यह सुस्पष्ट है कि उन्होंने कम से कम 20 रचनाएँ अवश्य लिखी थीं, जिनका सूचीबद्ध विवरण अगले पृष्ठ पर प्रस्तुत की गई तालिका से ज्ञातव्य है।

देश के कोने-कोने में स्थित विशाल ग्रन्थ-भण्डारों की खोज से सम्भव है कि तालिका में दर्शित 20 रचनाओं के अतिरिक्त भी पं० दौलतराम कासलीवाल की कुछ रचनाएँ और उपलब्ध हो जावें।

अभी कुछ वर्ष पूर्व (मार्च 1991 में) जैन विद्या संस्थान, श्री महावीरजी (राजस्थान) से पं० भँवरलाल पोल्याका के सम्पादन में पं० दौलतराम की एक रचना प्रकाशित हुई है—'समाधिमरणस्वरूप'; किन्तु स्पष्ट है कि वह पं० दौलतराम कासलीवाल की रचना नहीं है, क्योंकि उसकी प्रशस्ति में उसका रचनाकाल मार्गशीर्ष कृष्णा 11 वि० सं० 1883 और कार्तिक कृष्णा अष्टमी बुधवार वि० सं० 1883 बताया गया है। इस समय तक पण्डित दौलतराम इस दुनिया में रहे ही नहीं थे। डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य[5] ने भी एक 'आत्मबत्तीसी' नामक रचना का उल्लेख किया है, किन्तु उन्होंने इसका किंचित् भी परिचय नहीं दिया है। बहुत प्रयास करने पर भी यह रचना अभीतक हमारे देखने में कहीं नहीं आई।

डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल के अपने एक लेख में लिखा है कि "दीवान बालचन्द छाबड़ा ने पं० दौलतरामजी से भक्तामर स्तोत्र भाषा की शुद्धि भी करवाई थी[6]" किन्तु उस कृति का उल्लेख अन्य कहीं तो मिलता ही नहीं, स्वयं डॉ० कासलीवाल ने भी अपनी ही परवर्ती पुस्तक 'महाकवि दौलतराम कासलीवाल : व्यक्तित्व एवं कृतित्व' में कहीं नहीं किया है।

1. पं० परमानन्द शास्त्री (देखिए—अनेकान्त, अगस्त 1972, पृष्ठ 124)
2. डॉ० गजानन मिश्र (देखिए—अनेकान्त, जून 1972, पृष्ठ 131)
3. डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री (तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परंपरा, भाग 4, पृष्ठ 282)
4. डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल (महाकवि दौलतराम कासलीवाल : व्यक्तित्व एवं कृतित्व)
5. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परंपरा, भाग 4, पृष्ठ 282
6. जयपुर के दिगम्बर जैन मन्दिर, खण्ड VII, पृष्ठ 2

2.2. वर्गीकरण :–

पं० दौलतराम कासलीवाल की रचनाओं का वर्गीकरण अधोलिखित चार दृष्टिकोणों से किया जा सकता है।

2.2.1. पहला दृष्टिकोण :–

प्रथम दृष्टिकोण से पं० दौलतराम कासलीवाल की रचनाओं को निम्नलिखित तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है:–

1. मौलिक रचनाएँ, 2. अनूदित रचनाएँ, 3. टीकाएँ।

मौलिक रचनाओं में उनकी अग्रलिखित 10 रचनाएँ आएँगी :– श्रेणिकचरित, जीवंधरस्वामिचरित, श्रीपालचरित, क्रियाकोश, अध्यात्मबारहखड़ी, विवेक-विलास, चौबीस दण्डक, चतुर-चितारणी, सार-समुच्चय और सिद्ध पूजाष्टक। अनूदित रचनाओं में अग्रलिखित 5 रचनाएँ आएँगी:– पुण्यास्रवकथाकोश-भाषा, पद्मपुराण-वचनिका, आदिपुराण-वचनिका, हरिवंशपुराण-वचनिका और परमात्मप्रकाश-वचनिका। और टीकारूप रचनाओं में अग्रलिखित 5 रचनाएँ आएँगी:– पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-भाषाटीका, समयसार कलश-टव्वाटीका, वसुनन्दि-श्रावकाचार-टव्वाटीका, कार्तिकेयानुप्रेक्षा-टव्वाटीका, तत्त्वार्थसूत्र-टव्वाटीका।

डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल ने भी कुछ इसी प्रकार से पं० दौलतराम की रचनाओं का वर्गीकरण किया है।[1] उनके अनुसार पं० दौलतराम की रचनाओं को अग्रलिखित तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है:–1. मौलिक रचनाएँ, 2. अनूदित रचनाएँ एवं 3. टव्वाटीकाएँ।

मौलिक रचनाओं में उन्होंने अग्रलिखित 8 रचनाओं को गिनाया है:– क्रियाकोश, जीवंधरस्वामिचरित, अध्यात्मबारहखड़ी, विवेक-विलास, श्रेणिकचरित, श्रीपालचरित, चौबीस दण्डक और सिद्ध पूजाष्टक। अनूदित रचनाओं में उन्होंने अग्रलिखित 7 रचनाओं को गिनाया है:– पुण्यास्रवकथाकोश, पद्मपुराण, आदिपुराण, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, हरिवंशपुराण, परमात्मप्रकाश और सारसमुच्चय। टव्वाटीकाओं में उन्होंने अग्रलिखित 3 रचनाओं को गिनाया है:– तत्त्वार्थसूत्र-टव्वाटीका, वसुनन्दि-श्रावकाचार-टव्वाटीका, और कार्तिकेयानुप्रेक्षा-टव्वाटीका।

किन्तु डॉ० कासलीवाल के इस वर्गीकरण में एक त्रुटि तो यह है कि इसमें जिस 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' को अनूदित रचनाओं में गिनाया है वह अनूदित रचना नहीं है, अपितु लेखक की भाषारूप या व्याख्यात्मक टीका है, दूसरी त्रुटि यह है कि 'सारसमुच्चय' कवि की अनूदित नहीं,

1. महाकवि दौलतराम कासलीवाल: व्यक्तित्व एवं कृतित्व, प्रस्तावना, पृष्ठ 41

मौलिक रचना है और तीसरी त्रुटि यह है कि इसमें 'समयसारकलश-टव्वाटीका' और 'चतुर-चितारणी' को कहीं नहीं गिनाया है।

2.2.2. दूसरा दृष्टिकोण :–

दूसरी दृष्टि से इन रचनाओं को गद्य और पद्य के दो प्रसिद्ध वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। पुण्यास्रवकथाकोश-भाषा, समयसार कलश-टव्वाटीका, वसुनन्दि-श्रावकाचार-टव्वाटीका, पद्मपुराण-वचनिका, आदिपुराण-वचनिका, कार्तिकेयानुप्रेक्षा-टव्वाटीका, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-भाषाटीका, हरिवंशपुराण-वचनिका, परमात्मप्रकाश-वचनिका और तत्त्वार्थसूत्र-टव्वाटीका– ये 10 रचनाएँ गद्य में हैं तथा श्रेणिकचरित, क्रियाकोश, अध्यात्मबारहखड़ी जीवंधरस्वामिचरित, श्रीपालचरित, विवेक-विलास, चौबीस दण्डक, चतुर-चितारणी, सार-समुच्चय और सिद्धपूजाष्टक– ये 10 रचनाएँ पद्य में हैं।

2.2.3. तीसरा दृष्टिकोण :–

जैन-ग्रन्थों के परम्परित शास्त्रीय वर्गीकरण के अनुसार इन रचनाओं को निम्नलिखित 4 वर्गों में विभाजित किया जा सकता है:–

1. प्रथमानुयोग,
2. करणानुयोग,
3. चरणानुयोग,
4. द्रव्यानुयोग।

प्रथम वर्ग प्रथमानुयोग में 7 रचनाएँ आती हैं:– पुण्यास्रवकथाकोश, श्रेणिकचरित, जीवंधरस्वामिचरित, श्रीपालचरित, पद्मपुराण–वचनिका, आदिपुराण–वचनिका और हरिवंशपुराण–वचनिका। द्वितीय वर्ग करणानुयोग में केवल 1 रचना है:– चौबीस दण्डक। तृतीय वर्ग चरणानुयोग में 4 रचनाएँ हैं :– क्रियाकोश, वसुनन्दि-श्रावकाचार-टव्वाटीका, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-भाषाटीका और सिद्धपूजाष्टक। चतुर्थ वर्ग द्रव्यानुयोग में 8 रचनाएँ हैं :– अध्यात्मबारहखड़ी, समयसार कलश-टव्वाटीका, कार्तिकयानुप्रेक्षा-टव्वाटीका, विवेक-विलास, परमात्मप्रकाश-वचनिका,चतुर-चितारणी, तत्त्वार्थसूत्र-टव्वाटीका और सार-समुच्चय।

2.2.4. चौथा दृष्टिकोण :–

किन्तु शोध–अध्ययन की दृष्टि से हमें निम्नलिखित चौथा वर्गीकरण ही सर्वाधिक उपयुक्त जान पड़ता है, अतः हम आगामी अध्यायों में इसी आधार पर पण्डित दौलतराम की रचनाओं का अध्ययन करेंगे। इस दृष्टि से पण्डित दौलतराम की रचनाओं को निम्नलिखित तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :–

1. चरितकाव्य,

2. विचारकाव्य,

3. गद्य-विद्याएँ।

पण्डित दौलतराम कासलीवाल ने 3 चरितकाव्य लिखे हैं:– श्रेणिकचरित, जीवंधरस्वामिचरित और श्रीपालचरित; 7 विचारकाव्य लिखे हैं:–क्रियाकोश, अध्यात्मबारहखड़ी, विवेक विलास, चौबीस दण्डक, चतुर-चितारणी, सार-समुच्चय और सिद्धपूजाष्टक; तथा 10 गद्य-रचनाएँ लिखी हैं, जिनके नाम वर्गीकरण के दूसरे दृष्टिकोण में गिनाये जा चुके हैं।

अनेक समालोचको[1] ने 'श्रीपालचरित' को पं० दौलतराम की गद्य रचनाओं में गिना रखा है, जो सर्वथा असत्य है।

पण्डित दौलतराम की गद्य रचनाओं को भी दो उपवर्गों में विभाजित किया जा सकता है:– अनूदित गद्य और टीका गद्य।

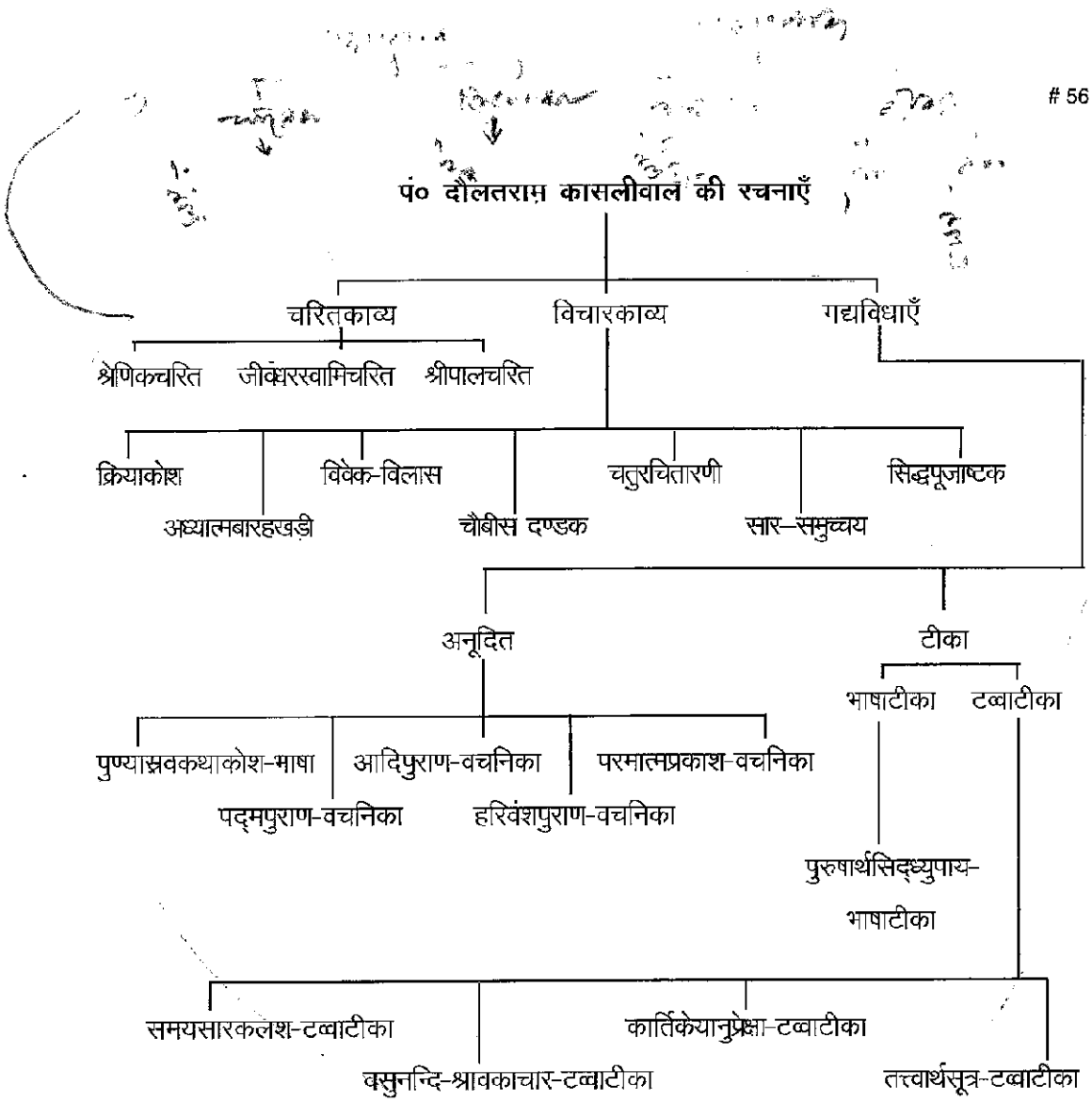
अनूदित गद्य की रचनाओं को पुनः दो उपवर्गों में विभाजित किया जा सकता है :– भाषारूप अनुवाद और वचनिकारूप अनुवाद। भाषारूप अनुवाद की कृति केवल एक है :– पुण्यास्रवकथाकोश-भाषा, तथा वचनिकारूप अनुवाद की कृतियाँ 4 हैं :– पद्मपुराण-वचनिका, आदिपुराण-वचनिका, हरिवंशपुराण-वचनिका और परमात्मप्रकाश-वचनिका।

इसी प्रकार टीका गद्य की रचनाओं को भी अग्रलिखित दो उपवर्गों में विभाजित किया जा सकता है :– भाषाटीका और टब्बाटीका। भाषाटीका केवल एक हैं :– पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-भाषाटीका, तथा टब्बाटीकाएँ 4 हैं :– समयसार-कलश-टब्बाटीका, वसुनन्दि-श्रावकाचार-टब्बाटीका, कार्तिकयानुप्रेक्षा-टब्बाटीका और तत्त्वार्थसूत्र-टब्बाटीका।

निष्कर्षतः पण्डित दौलतराम कासलीवाल की रचनाओं के उपर्युक्त वर्गीकरण को इस तालिका के द्वारा भलीभाँति समझा जा सकता है :–

---

1. (क) हिन्दी–साहित्य का इतिहास (डॉ० नगेन्द्र), पृष्ठ 421
   (ख) ब्रज भाषा गद्य का विकास, पृष्ठ 225
   (ग) हिन्दी–गद्य का विकास, पृष्ठ 211
   (घ) श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम से प्रकाशित परमात्मप्रकाश, प्रस्तावना (हिन्दी), पृष्ठ 134



2.3 परिचय :-

अब यहाँ उक्त चौथे वर्गीकरण के क्रमानुसार पं० दौलतराम कासलीवाल की रचनाओं का परिचय प्रस्तुत है—

2.3.1. चरितकाव्य :–

पं० दौलतराम ने 3 चरितकाव्य लिखे हैं:– श्रेणिकचरित, जीवंधरस्वामिचरित और श्रीपालचरित। तीनों ही चरितकाव्य नायकप्रधान हैं, अतः तीनों के नामकरण भी नायक के नाम पर आधारित हैं। मगधनरेश राजा श्रेणिक, जीवन्धरस्वामी और कोटिभट श्रीपाल – ये तीनों ही व्यक्ति जैन कथा-साहित्य के अत्यधिक प्रिय एवं प्रसिद्ध पात्र हैं। पं० दौलतराम से पूर्व भी अनेक कवियों ने प्राकृत-संस्कृत-अपभ्रंश आदि भाषाओं में इन पात्रों को आधार बनाकर अनेक सुन्दर काव्यों की रचना की है, जिसका अध्ययन

आगामी अध्याय में 'चरितकाव्य-परम्परा' शीर्षक के अन्तर्गत किया जाएगा। यहाँ क्रमशः तीनों चरितकाव्यों का विशेष परिचय प्रस्तुत है।

2.3.1.1. श्रेणिकचरित :—

कालक्रमानुसार यह पं० दौलतराम कासलीवाल की दूसरी रचना है, किन्तु यदि काव्य-रचना की दृष्टि से देखा जाये तो यह उनकी पहली काव्यकृति है। इसमें उन्होंने तीर्थंकर महावीर के विशेष श्रोता और राजगृही के राजा श्रेणिक का जीवन-चरित निबद्ध किया है।

'श्रेणिकचरित' की रचना पं० दौलतराम ने चैत्र शुक्ला पंचमी, सोमवार, वि० सं० 1782 को पूर्ण की थी, जैसा कि अन्तिम ग्रन्थ-प्रशस्ति के निम्नलिखित छन्द से ज्ञात होता है:—

"संवत सतरेसै बीआसी, औ चैत्र सुकल तिथि जान।
पंचमी दिने पूरण करी, बार चन्द्र पैचान।।[1]"

'श्रेणिकचरित' की कथा का मूल स्रोत पं० दौलतराम ने रामचन्द्र ऋषि के ग्रन्थ को बताया है—

"सिवानन्द मुनिराय शिष्यौ, रामचन्द्र रिषी नाम।
तिन अनुसार बनाय के, रची सौ दौलतराम।।[2]"

किन्तु निश्चित रूप से ज्ञात नहीं हो सका है कि ये रामचन्द्र ऋषि कौन हैं और इनके किस ग्रन्थ में श्रेणिक-सम्बन्धी कथा पाई जाती है। विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में एक रामचन्द्र मुमुक्षु तो हुए हैं जिन्होंने संस्कृत भाषा में 'पुण्यास्रवकथाकोश' और 'शान्तिनाथचरित' की रचना की है, किन्तु राजा श्रेणिक की कथा से सम्बन्धित ग्रन्थ उन्होंने कोई नहीं लिखा है। हाँ, उनके 'पुण्यास्रवकथाकोश' में ही एक कथा राजा श्रेणिक की पाई जाती है, किन्तु उसके कथासूत्र इतने विस्तृत नहीं हैं कि उसके आधार से पूरा 'श्रेणिक-चरित' स्वतन्त्र रूप में लिखा जा सके।

किन्तु फिर भी सम्भावना यही अधिक प्रतीत होती है कि 'पुण्यास्रवकथाकोश' की श्रेणिक-सम्बन्धी कथा से ही सूत्र ग्रहणकर पं० दौलतराम ने अपने 'श्रेणिकचरित' का निर्माण किया होगा, क्योंकि 'श्रेणिकचरित' की रचना से पूर्व पं० दौलतराम ने 'पुण्यास्रवकथाकोश' का भाषानुवाद किया था। हो सकता है, उसमें से राजा श्रेणिक की कथा उनके चित्त में अधिक प्रभाव छोड़ गई हो।

---

1. श्रेणिकचरित, छन्द 501
1. श्रेणिकचरित, छन्द 500

'श्रेणिकचरित' की कथावस्तु संक्षेप में इस प्रकार है:–

"श्रेणिक मगध के बुद्धिमान राजकुमार थे। उनको ज्योतिषी के अनुसार तो राजयोग प्राप्त था ही, विविध परीक्षाओं में भी वे ही योग्य सिद्ध हुये थे, किन्तु उनके पिता अपने अन्य पुत्र चिलातपुत्र को राज्य देने के लिए वचनबद्ध थे, अतः उन्होंने पहले सेही श्रेणिक को देश-निकाला दे दिया। समय आने पर चिलातपुत्र राजा बन गया; किन्तु उसके अहंकार, प्रमाद और अत्याचारों से प्रजा महादुःखी हो गई। प्रजा के दुख से दुःखी होकर श्रेणिक ने चिलातपुत्र को पराजित करके वहाँ से भगाया और स्वयं राजा बन गये। श्रेणिक का विवाह सिन्धु देश की विशाल-नगरी के राजा चेटक की अनिंद्यसुंदरी पुत्री चेलना से हुआ, किन्तु चेलना जैनधर्म की उपासिका थी, जबकि राजा श्रेणिक बौद्धधर्म के उपासक। एक दिन बौद्धगुरुओं का चेलना से विवाद हो गया जिसमें बौद्धगुरु पराजित हो गये। इससे क्रोधित होकर राजा श्रेणिक ने जैन मुनि यशोधर के गले में मृतक सर्प डाल दिया। तीन दिन बाद जब इस घटना का पता रानी चेलना को चला तो वह राजा श्रेणिक के साथ मुनि यशोधर के पास गई। मुनि के संयम, तप और उपदेश से प्रभावित होकर राजा भी जैनधर्म का उपासक बन गया।"

'श्रेणिकचरित' में सर्ग या अध्याय-विभाजन की कल्पना नहीं की गई है, अपितु एक ही धाराप्रवाह रूप से लिखे गये कुल 501 छन्द हैं। प्रयुक्त छन्दों में दोहा, चौपाई और चौपई प्रमुख हैं।

काव्य-कला की दृष्टि से 'श्रेणिकचरित' कवि की उत्कृष्ट रचना नहीं है। इसका कारण यह हो सकता है कि यह कवि की सबसे पहली काव्य-रचना है। रचना का एक छन्द अवलोकनार्थ प्रस्तुत है:–

"श्रेणिक घट ले त्रीणी थल गये, वस्त्र नाखी निचोवत भये।
अनुक्रम घट भरि नृप कूं दिये, लखि के राय खुशी अति भये।।"[1]

यह कृति अद्यावधि अप्रकाशित है और इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ भी अब प्रायः कहीं नहीं मिलती हैं। सम्पूर्ण राजस्थान में केवल दो स्थानों पर इसके प्राप्त होने के उल्लेख प्राप्त होते हैं:–

"1. एक पाण्डुलिपि भरतपुर के पंचायती मन्दिर में है, जिसकी पत्र-संख्या 259 तथा लेखन-काल संवत् 1888 है।

2. दूसरी पाण्डुलिपि यशःकीर्ति सरस्वती भवन, ऋषभदेव (जिला उदयपुर) में संगृहीत है। इसमें 22 x 12 सेमी आकार के 46 पत्र हैं तथा लेखन-काल संवत् 1807 कार्तिक सुदी अष्टमी है।"[2]

---

1. श्रेणिकचरित, छन्द 17
2. महाकवि दौलतराम कासलीवाल-व्यक्तित्व एवं कृतित्व, प्रस्तावना, पृष्ठ 61

किन्तु इनमें से भी अब भरतपुर वाली प्रति तो अनुपलब्ध ही है और ऋषभदेव में प्राप्त होनेवाली प्रति यद्यपि उपलब्ध है, किन्तु उसमें भी प्रारंभ के दो पृष्ठ गायब हैं। जितनी है वह भी इतनी अशुद्ध और अस्वच्छ है कि उसका शब्दशः पूर्ण अध्ययन अत्यन्त कठिन है।

इसके बावजूद प्रस्तुत शोध–अध्ययन का आधार इस दूसरी प्रति को ही बनाया गया है।

2.3.1.2. जीवन्धरस्वामिचरित :–

यह आचार्य गुणभद्र (ईसा की 9वीं शती) द्वारा विरचित महापुराण की एक प्रासंगिक कथा के आधार पर लिखा गया कथा-ग्रन्थ है जिसमें भगवान महावीर के समय में हुए श्री जीवन्धर स्वामी के जीवन का सुन्दर चित्रण किया गया है।

इसकी रचना कवि ने उदयपुर में आषाढ़ शुक्ला द्वितीया, गुरुवार, वि० सं० 1805 को तीसरे पहर में पूर्ण की थी; जैसा कि ग्रन्थ–प्रशस्ति की निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट होता है:–

"संवत् ठारह सै जु पंच आषाढ़ सु मासा।
तिथि दोइज गुरुवार [illegible] सुकल पक्ष जु शुभ मासा।
तीजे पहर सु एह ग्रन्थ सुभ पूरण हूवो।"

'जीवन्धरस्वामिचरित' में कुल 5 अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय के अंत में उसके अध्याय की विषयवस्तु का सिंहावलोकन कराते हुए अध्याय-समाप्ति की सूचना देनेवाली संस्कृत-गद्य-प्रशस्ति लिखी गई है। यथा–

"इति श्रीजीवंधरस्वामिचरित्रे महापुराणानुसारेण बालावबोधभाषायां बाललीला-विद्याभ्यास-भील-विजय-गौविमोचन-नंदाढ्य-विवाह-प्ररूपणो नाम प्रथमोऽध्यायः।।[2]"

'जीवंधरस्वामिचरित' की कथावस्तु संक्षेप में इस प्रकार है :–

"भगवान महावीर के समवशरण में एक महामुनिराज को देखकर राजा श्रेणिक ने सुधर्माचार्य से पूछा कि वे महामुनिराज कौन हैं। उत्तरस्वरूप सुधर्माचार्य ने इसप्रकार सुनायाः–

भरत क्षेत्र के हेमांगद देश में एक सत्यन्धर नाम का राजा रहता था। वह अपने मंत्री काष्टागारिक के षड्यंत्र में फँसकर मारा गया। उससमय उसकी रानी विजया गर्भवती थी। विजया की रक्षा एक यक्षिणी ने की। वह उसे श्मशान में ले गई। वहाँ रानी ने एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। पुत्र को

---

1. जीवन्धरस्वामिचरित, अन्तिम ग्रन्थ-प्रशस्ति, छन्द 8
2. वही, प्रथम अध्याय की पुष्पिका

उस नगर का सेठ गंधोत्कट अपने घर ले गया, जो उस समय वहाँ अपने मृतोत्पन्न पुत्र को डालने आया था। गंधोत्कट इस तेजस्वी बालक को पाकर बहुत प्रसन्न हुआ। उसने अपने घर किसी को यह रहस्य न बताया और अपना ही पुत्र जताकर धूमधाम से पुत्रोत्सव मनाया। पुत्र का नाम जीवन्धर रखा गया। जीवन्धर ने अपनी मनोहर बालक्रीड़ाओं द्वारा सभी को खूब रिझाया। पश्चात् अपने अद्भुत पराक्रम और कला-कौशल से अनेक दुष्कृत्यों का निवारण किया, सुकृत्यों का संपादन किया और महासुन्दरी कन्याओं से विवाह किया। इसप्रकार शनैः शनैः जब जीवन्धर के सोलह वर्ष व्यतीत हो गये तो उनका अपनी माता विजया रानी से मिलन हुआ। माता ने अपने पुत्र को मंत्री काष्टांगारिक के षड़यंत्र, पिता की मृत्यु और राज्यापहरण की सारी जानकारी दे दी। पुत्र जीवन्धर शालीनता से पिता के राज्य पहुँचे, किन्तु युद्ध हुआ और युद्ध में दुष्ट मंत्री काष्टांगारिक मारा गया। सारी प्रजा ने जय-जयकार के साथ जीवन्धर का राज्याभिषेक कर दिया।

एक दिन राजा जीवन्धर वरधर्म मुनिराज के पास गये। मुनिराज श्रावकधर्म का उपदेश दे रहे थे। राजा जीवन्धर ने उनसे दूसरी प्रतिमा के व्रत धारण कर लिये और वे घर लौटकर सुखपूर्वक काल व्यतीत करने लगे। इसके बाद पुनः एक बार वे वनविहार हेतु वन में गये। वहाँ उन्होंने बन्दरवर्ग की लड़ाई देखी। इससे उन्हें संसार से वैराग्य हो गया। उन्होंने भगवान महावीर के समवशरण में पहुँचकर निर्ग्रन्थ दिगम्बर जिनदीक्षा धारण कर ली।

हे राजा श्रेणिक ! जिन महामुनिराज के बारे में तुमने पूछा है, वे ये जीवन्धर ही हैं। ये इसी भव में विपुलाचल पर्वत से मोक्ष पधारेंगे। ये इस समय द्वादशांग के धारक श्रुतकेवली हैं और शीघ्र ही चारों घातिया कर्मों का नाश कर केवलज्ञान प्राप्त करेंगे।

सुधर्माचार्य गणधर के इन वचनामृतों को पीकर राजा श्रेणिक तृप्त–तृप्त हो गया।"

ग्रन्थ के आरंभ में मंगलाचरण है और अन्त में ग्रन्थ-प्रशस्ति। मंगलाचरण नमस्कारात्मक भी है और वस्तुनिर्देशात्मक भी। यथाः—

"वरधमान भगवान कौं, करि वंदन मन लाय।
जिनवानी कौं करि प्रणति, नमि गौतम के पाय।।1।।
जीवन्धर मुनिराय की, कहौं कथा सुखदाय।
बुद्धि पराक्रम रस भरी, सुनौ भव्य मनलाय।।2।।"

ग्रन्थ-प्रशस्ति में ग्रंथकार ने अपना परिचय भी दिया है और ग्रन्थ-निर्माण की कहानी भी कही है। तदनुसार 'जीवंधरस्वामिचरित' की रचना कवि ने चतुर्भुज, पृथ्वीराज, बेलजी सेठ आदि अनेक साधर्मियों की प्रेरणा से की। एक बार कवि ने 20,000 श्लोक प्रमाण 'महापुराण' नामक संस्कृत-ग्रन्थ का दैनिक शास्त्र-सभा में स्वाध्याय किया। उसमें एक सरस कथा जीवंधरस्वामी की भी पढ़ी। इस कथा को सुनकर सभी श्रोता अत्यधिक प्रसन्न हुएं। उन्होंने मिलकर पं० दौलतराम कासलीवाल से अनुरोध किया और बारम्बार आग्रह भी किया कि वे इस कथा का हिन्दी भाषा में निर्माण करें। परिणामस्वरूप प्रस्तुत कृति की रचना हुई। प्रशस्ति का सम्बन्धित अंश इसप्रकार है:—

"वांच्यो महा पुराण वीस हज्जार सिलोका।
जाकै अंति अनूप वीर चरित जु गुण थोका।
जामैं कथा रसाल्ल स्वामि जीवंधर केरी।
सुनि करि हरषे भव्य स्तुति कीनी जु घणेरी।
तबै बोलियो अग्रवाला, वासी कालाडहर कौ।
चतुर चतुरभुज नांम चरची, ग्रंथ पंथ सिव सहर कौ॥5॥
देव भाष गंभीर संस्कृत विरला जांनै।
पंडित करें वषांन अलपमति नांहि वषांनै।
जो है ग्रंथ अनूप देस भाषा के मांही।
वांचे बहुत हि लोक या महै संसै नांही।
सब गिरंथ की वनि न आवै, तो इह जीवंधर तनी।
अवसिमेव करनी सुभाषा, प्रथीराज भी इहैसनी।6॥
सुनी चतुरमुख बात सोहि दौलति उर धारी।
सेठ बेलजी सुघर जाति हूंमड हितकारी।
सागवाड है वास, श्रवण की लगनि घणेरी।
सब साधरमी लोक, धरै श्रद्धा श्रुत केरी।
तिननैं आग्रह करि कही, फुनि दौलत के मन में बसी।
संसकृत तैं भाष कीनी, इहै कथा है नौरसी।7॥"

इस प्रकार यद्यपि यह सत्य है कि 'जीवंन्धरस्वामिचरित' की रचना 'महापुराण' में वर्णित जीवन्धर-कथा के आधार पर हुई है, तथापि यह पं० दौलतराम की अपनी स्वतंत्र मौलिक रचना है।

कृति का भाव–विधान बहुत सुन्दर है, जिसके अन्तर्गत कवि ने क्रोध, शोक, क्षमा, प्रेम, पश्चात्ताप आदि मनोभावों का हृदयहारी चित्रण किया है। बाललीला, विद्याभ्यास, विवाहोत्सव, विरह एवं मिलन आदि नाना भावों के सरस चित्रण से कवि ने अपनी काव्य-कुशलता का उच्च निदर्शन किया है।

कथा का नायक जीवन्धरकुमार धीरोदात्त प्रकृति का है। प्रतिनायक काष्ठांगार है, जिसका विरोध पूरी कथा में व्याप्त है।

रचना का उद्देश्य यह शिक्षा प्रदान करना है कि सब जीव अपने ही समान हैं, अतः उन्हें किसी प्रकार का दुःख नहीं पहुँचाना चाहिए और भलीप्रकार संयम, तप आदि अंगीकार करना चाहिए तथा समस्त प्रमाद, विषाद, विवाद को छोड़कर संसार-शरीर-भोगों से वैराग्य धारण करना चाहिएः—

"इह उर में धरि भव्य जीवा, सुजन बिछोहा जनि करौ।
सकल जीव हैं आप सरिखा, इह जिन आग्या उर धरौ।।
तजौ प्रमाद विषाद सारा, नांहि विवाद जु उर धरौ।
भव तन भोग विरत्त चित्ता, दिढ वैराग जु अनुसरौ।।"

रस की दृष्टि से 'जीवन्धरस्वामिचरित' में सामान्यतः नवों नसों का परिपाक हुआ है, जैसा कि कवि ने स्वयं भी लिखा है— "नवरस वर्णन तैं भरा[2]"; किन्तु इसके प्रधान रस वीर, शृंगार और शान्त ही हैं।

ग्रन्थ की भाषा ब्रज है, पर उसमें संस्कृत और राजस्थानी के भी पर्याप्त रूप पाये जाते हैं। प्रयुक्त छन्दों में चौपाई, बेसरि, अडिल्ल, सोरठा, दोहा, भुजंगीप्रयात और छप्पय उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार अलंकारों में अनुप्रास, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि का सहज प्रयोग विशेषतया द्रष्टव्य है।

'जीवन्धरस्वामिचरित' का प्रकाशन श्री दि० जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी, राजस्थान से प्रकाशित 'महाकवि दौलतराम कासलीवालः व्यक्तित्व एवं कृतित्व' में हो चुका है।

2.3.1.3. श्रीपालचरित :—

'श्रीपालचरित' महाकवि पं० दौलतराम कासलीवाल की एक प्रबन्धकाव्यात्मक कृति है जिसमें कोटिभट श्रीपाल और मैनासुन्दरी की बहुप्रसिद्ध कथा को प्रस्तुत किया गया है। इसकी रचना महाकवि

1. जीवन्धरस्वामिचरित, अंतिम ग्रंथ-प्रशस्ति, छन्द 5/121
2. वही, वही, छन्द 7

ने फाल्गुन शुक्ला एकादशी वि० सं० 1822 की रात्रि को पूर्ण की थी; जैसा कि इस कृति की अन्तिम प्रशस्ति से ज्ञात होता है:—

"संवत् अष्टादश शत जान, ऊपर बीस दोय फिर आन।
फाल्गुन सुदी इग्यार निस मांहि, कियो समापत उर हुलसांहि।।"[1]

जैन साहित्यकारों में श्रीपाल–मैनासुन्दरी की कथा अत्यधिक प्रिय रही है। महाकवि दौलतराम से पूर्व सकलकीर्ति (ई० 1406–1442), भट्टारक श्रुतसागर (ई० 1487–1499), कवि परिमल्ल (ई० 1594), ब्रह्मचारी नेमिदत्त (विक्रम की 16वीं शती) और वादिचन्द्र (वि० सं० 1637–1664) आदि अनेक जैन साहित्यकार इस कथा को आधार बनाकर संस्कृत या हिन्दी भाषा में ग्रन्थरचना कर चुके हैं।

महाकवि पं० दौलतराम कासलीवाल ने अपने 'श्रीपालचरित' की रचना सोमसेन कृत ग्रन्थ के आधार से की है; जैसा कि निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट है:—

"सोमसेन अनुसार ले, दौलतराम सुखदाय।
यह भाषा पूरन करी, सकल संघ सुखदाय।।"[2]

प्रस्तुत 'श्रीपालचरित' की कथावस्तु संक्षेप में इस प्रकार है:—

उज्जैन नगरी में राजा प्रजापाल के दो पुत्रियाँ थीं। बड़ी का नाम स्वरसुन्दरी था और छोटी का नाम मैनासुन्दरी था। विवाह योग्य होने पर राजा ने दोनों पुत्रियों से कहा कि तुम अपने मनवांछित वर को माँगो; मैं तुम्हारा विवाह उसी के साथ करूँगा। स्वरसुन्दरी ने तो अहिच्छत्र नगर के राजा वरदामन की इच्छा प्रकट कर दी, किन्तु मैनासुन्दरी ने कहा कि हे पिताजी ! मनवांछित वर माँगना कुलकन्याओं का धर्म नहीं है; वे तो उसे ही स्वीकार करती हैं जिसके साथ माता-पिता उसका विवाह कर देते हैं। हे पिताजी ! भाग्य में लिखे हुए सुख-दुख को कोई नहीं मिटा सकता। मैनासुन्दरी के ये वचन सुनकर राजा क्रोधित हो गया। उसने मैनासुन्दरी का विवाह एक कोढ़ी व्यक्ति से कर दिया जिसका नाम श्रीपाल था। मैनासुन्दरी ने श्रीपाल को ही पति भाव से स्वीकार कर लिया और उसकी दिन-रात निर्मल भाव से सेवा की। पति-भक्ति के प्रभाव से थोड़े ही दिन बाद कोढ़ी श्रीपाल की काया कंचन-जैसी दमकने लग गई। अन्त में श्रीपाल ने मुनिदीक्षा लेकर परमधाम मोक्ष की प्राप्ति की और मैनासुन्दरी ने अर्जिका के व्रत धारण करके समाधिपूर्वक नौवाँ स्वर्ग प्राप्त किया।

---

1. श्रीपालचरित, छन्द 754
2. वही, छन्द 755

सम्पूर्ण रचना में कवि द्वारा कर्मफल के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की गई है कि विश्व के समस्त प्राणी कर्मकृत फल को भोगते हैं।अपने कर्म का फल अपने को ही भोगना पड़ता है। उसे कोई दूसरा कथमपि बदल नहीं सकता है। वस्तुतः होता वही है जो कर्मानुसार होना होता है; अन्य पदार्थ तो निमित्तमात्र होते हैं। इस सम्बन्ध में मैनासुन्दरी के ये वचन द्रष्टव्य हैं :—

"कन्या कही सत्य सो बात, कर्म करे सो होय विख्यात।

मैं तो निमित मात्र करतार, कारण होय कर्म अनुसार।।"

'श्रीपालचरित' की कथा साहित्यिक गुणों से समृद्ध है। कथावस्तु में उतार-चढ़ाव के कारण पाठक को बाँध कर रखने वाली रोचकता है। कवि को सरस स्थलों की अच्छी पहचान है। कथा के मध्य में अनेक सुभाषित एवं नीति-वाक्यों का समावेश हुआ है, जो सोने में सुहागे का काम करता है।

रचना का उद्देश्य यह है कि लोग इसे पढ़कर अपने हृदय में सदैव धर्म को ही धारण करें क्योंकि एक वही सुखदायक है और पापबुद्धि को छोड़ दें क्योंकि वह दुःखदायक है। यथाः—

"यह चरित्र श्रीपाल को, पूरन भयो सुजान।

याकूं लखि धरम उर विषै, निश दिन राखि सयान।।

धर्म सकल सुखदाय है, ताते भवि उर आन।

पाप बुद्धि दुखदां सही, छांड़न की बुद्धि ठान॥[2]"

'श्रीपालचरित' की भाषा ब्रज है जो नितान्त सरल, सुबोध और प्रवाहमयी है। कहीं-कहीं राजस्थानी शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ यह अंश प्रस्तुत हैः—

"कन्या कही सुनो मो पिता, सुभ अरु असुभ कर्म ते हुता।

जो जो सुख होनो सो होय, ताकूं मेट सकै नहिं कोय।।

ऐसे धीर वीर वचन दियौ, सब जन सुनि के अचरज लयो।

सब जन कन्या की थुति करे, कन्या धन्य धन्य सब उचरे॥[3]"

'श्रीपालचरित' में कुल 755 छन्द हैं जो एक साथ धारावाहिक रूप में लिखे गये हैं। सर्ग या अध्यायों का विभाजन कहीं नहीं है। प्रयुक्त छन्दों में दोहा, चौपाई, सोरठा ही अधिक हैं।

---

1. श्रीपालचरित, छन्द 61
2. वही, छन्द 752
3. वही, छन्द 50-51

ग्रन्थ का प्रकाशन अभी तक कहीं से नहीं हुआ है। इसकी एकमात्र हस्तलिखित प्रति ऋषभदेव (जिला–उदयपुर, राजस्थान) के जैन ग्रन्थ-भण्डार में प्राप्त होती है, जिसमें 14 X 28 सेमी आकार के 48 पत्र (96 पृष्ठ) हैं।

2.3.2. विचारकाव्य :–

पं० दौलतराम कासलीवाल ने कुल 7 विचारकाव्य लिखे हैं:–क्रियाकोश, अध्यात्मबारहखड़ी, विवेक-विलास, चौबीस दण्डक, चतुर-चितारणी, सार समुच्चय, और सिद्धपूजाष्टक। ये सभी प्रबन्धकाव्य की कोटि में आते हैं। इनमें 1 आचारविषयक है, 1 भक्तिविषयक है, 1 ज्ञानविषयक है और 3 अध्यात्मविषयक हैं, किन्तु 'अध्यात्मबारहखड़ी' भक्ति और अध्यात्म दोनों विषयक है। इनमें प्रारंभ के 2 विचारकाव्य विशालकाय हैं, अंतिम 4 लघुकाय हैं और विवेक-विलास' सामान्य है। सभी विचारकाव्यों की भाषा ब्रज है और वह भी लगभग एक–सी। अन्तर इतना है कि क्रियाकोश में तद्भव शब्दों की अधिकता है, जबकि 'अध्यात्मबारहखड़ी' में तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है।

2.3.2.1. क्रियाकोश :–

'क्रियाकोश' की रचना पण्डित दौलतराम कासलीवाल ने उदयपुर में भाद्रपद शुक्ला द्वादशी, मंगलवार, वि० सं० 1795 को पूर्ण की थी, जैसा कि निम्नलिखित छन्द से स्पष्ट है:–

"संवत् सत्रासै पिच्याणव, भादव सुदि बारस तिथि जाणव।
मंगलवार उदैपुर माहैं, पूरन कीनी संसै ना है।।"[1]

'क्रियाकोश' में कोई अध्याय या सर्ग की कल्पना नहीं की गई है, अपितु एक ही प्रवाह मैं 2504 विविध छन्दों की रचना की गई है। विषय-परिवर्तन को सूचित करने के लिए कहीं-कहीं 'इति शील उपमा वर्णन,[2]' 'अथ शील स्वरूप निरूपण[3]' आदि शीर्षक लगाये गये हैं और कहीं-कहीं कविता में ही 'अब सुनि वरत आठमो भाई[4]' कहकर नया प्रकरण प्रारंभ कर दिया गया है।

'क्रियाकोश' पं० दौलतराम की एक आचारप्रधान बड़ी रचना है, जिसमें जैनशास्त्रों में वर्णित श्रावक की 53 क्रियाओं का बड़ी सूक्ष्मता, स्पष्टता, दृढ़ता और सरलता से विवेचन किया गया है। 8 मूलगुण, 12 व्रत, 12 तप, 1 समभाव, 11 प्रतिमा, 4 दान, 1 जल-गालन, 1 रात्रिभोजन त्याग और 3 रत्नत्रय– ये जैनशास्त्रों में वर्णित 53 क्रियाएँ हैं[5], जिनको हम स्पष्टतया इस प्रकार समझ सकते हैं:–

1. क्रियाकोश, छन्द 2503
2. वही, छन्द 936 के बाद
3. वही, छन्द 937 से पूर्व
4. वही, छन्द 1200
5. वही, छन्द 70 से 73

'क्रियाकोश' में वर्णित 53 क्रियाएँ

मूलगुण	व्रत	तप	समभाव	प्रतिमा	दान	जलगालन	रात्रिभोजन-त्याग	रत्नत्रय
मद्यत्याग	अहिंसाणुव्रत	अनशन		दर्शन	औषधदान			सम्यग्दर्शन
मधुत्याग	सत्याणुव्रत	अवमौदर्य		व्रत	ज्ञानदान			सम्यग्ज्ञान
मांसत्याग	अचौर्याणुव्रत	वृत्तिपरिसंख्यान		सामायिक	अभयदान			सम्यक्चारित्र
वटफलत्याग	ब्रह्मचर्याणुव्रत	रसपरित्याग		प्रोषध	आहारदान			
पीपलफलत्याग	परिग्रहपरिमाणव्रत	विविक्तशय्यासन			सचित्तत्याग			
पाकरफलत्याग	दिग्व्रत	कायक्लेश		दिवामैथुनत्याग व रात्रिभोजनत्याग				
ऊमरफलत्याग	देशव्रत	प्रायश्चित्त		ब्रह्मचर्य				
कठूमरफलत्याग	अनर्थदण्डव्रत	विनय		आरम्भत्याग				
	सामायिक	वैय्यावृत्य		परिग्रहत्याग				
	प्रोषधोपवास	स्वाध्याय		अनुमतित्याग				
	भोगोपभोगपरिमाणव्रत	कायोत्सर्ग		गृहत्याग				
	अतिथिसंविभागव्रत	ध्यान						
08	+12	+12	+01	+11	+04	+01	+01	+03 = 53

53 क्रियाओं के वर्णन के कारण इसे 'त्रेपनक्रियाकोश' भी कह दिया जाता है।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि उक्त 53 क्रियाओं का वर्णन पं० दौलतराम के 'क्रियाकोश' से पूर्व भी अनेक जैन-ग्रंथों में मिलता है, किन्तु दौलतराम का 'क्रियाकोश' पाठकों में जितना लोकप्रिय हुआ, उतना अन्य कोई नहीं हो सका। दौलतरामजी के अनुसार ये 53 क्रियाएँ अनादिसिद्ध हैं जो जिनेन्द्र भगवान द्वारा कही गई हैं और पूर्व-ग्रंथों में भी जगह-जगह इनका उल्लेख किया गया है:—

"है अनादि सिद्धा ये सर्वा, ए किरिया धरिवौ तजि गर्वा।

ठौर ठौर इनको जस भाई, ए किरिया गावै जिनराई।।"

पण्डित दौलतराम ने अपने 'क्रियाकोश' में पूर्व-ग्रन्थों के 53 क्रिया-विवेचन से सहायता ली है और पूर्वरचित संस्कृत-प्राकृत-ग्रंथों से कतिपय (कुल 10) श्लोक-गाथाओं के उद्धरण भी प्रस्तुत किये हैं। प्रमाणस्वरूप छन्द-संख्या 69 के बाद दी गई यह गाथा द्रष्टव्य है जो उन्होंने 53 क्रियाओं के प्रमाण में किसी प्राचीन प्राकृत-ग्रन्थ से उद्धृत की है:—

"गुण—वय—तव—सम—पडिमा, दाणं जलगालणं च अणत्थमियं।

दंसणणाणचरित्तं, किरिया तेवण्ण सावया भणिया।।"

परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि पं० दौलतराम द्वारा किया गया 53 क्रियाओं का विवेचन पिष्टपेषण या व्यर्थ है अथवा 'क्रियाकोश' पं० दौलतराम की मौलिक कृति नहीं है। 'क्रियाकोश' पं० दौलतराम की नितान्त मौलिक कृति है। वह किसी पूर्वग्रंथ का अनुवाद, टीका या वचनिका नहीं है।

'क्रियाकोश' में सर्वप्रथम 69 दोहों में बृहद् मंगलाचरण किया गया है, जो प्रधानतः नमस्कारात्मक और गौणतः वस्तुनिर्देशात्मक है। इसमें ग्रंथकर्ता ने अपने इष्ट देव-शास्त्र-गुरुओं— सर्वक्षेत्रों के त्रिकालवर्ती अनंत जिनवरों, तीर्थंकरों, उनके पंचकल्याणकों, सिद्धों, आचार्यों, उपाध्यायों, मुनिराजों, अहिंसाप्रधान मुनि-श्रावकरूप उभयविध धर्म, स्याद्वाद रूप जिनागम, केवलज्ञान, केवलदर्शन, यथाख्यात चारित्र, क्षायिक सम्यक्त्व, चतुर्विध आराधना, तीर्थक्षेत्र इत्यादि को भक्तिपूर्वक स्मरण किया है।

तदनन्तर क्रमशः उन 53 क्रियाओं का भेद-प्रभेद सहित विस्तृत विवेचन किया है। विवेचन में कवि की विषयज्ञता, आगमानुकूलता, सरलता, दृढ़ता, स्पष्टता, गंभीरता और रस-परिपाक-क्षमता देखने लायक है। कवि अपने विषय का पूरा 'मास्टर' है, जिनशास्त्रों का गहन अध्येता है। यही कारण

---

1. क्रियाकोश, छन्द 2500

है कि उसकी प्रस्तुति सरल-सुबोध और एकदम सुलझी हुई है। अनेक स्थलों पर अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए कवि ने स्वयं ही प्रश्न उठा-उठाकर उनके आगमानुकूल सुन्दर समाधान भी प्रस्तुत किये हैं। यथा --

"कोऊ प्रश्न करै इह भाई, एक काल उत्पत्ति बताई।।
दरसन ज्ञान दुहुन की तातैं, कारन कारिज होइ न तातैं।
ताको समाधान गुरु भाषैं, जे धारैं ते निजरस चाखैं।।
जैसें दीपक अर परकासा, एक काल दुहुं कौ प्रतिभासा।
पर दीपक है कारनरूपा, कारिजरूप प्रकाशनरूपा।।
तैसे दरशन ज्ञान अनूपा, एक काल उपजैं निजरूपा।
दरसन कारनरूपी कहिए, कारिजरूपी ज्ञान सुगहिए।।"

यत्र-तत्र अनेक पौराणिक अंतर्कथाओं के प्रयोगों ने विषय को और अधिक हृदयग्राह्य बना दिया है। अंतर्कथाओं से कवि का गहन पुराण-ज्ञान सूचित होता है और ज्ञात होता है उन कथाओं का उपयुक्त स्थल पर कवि का प्रयोग-कौशल। प्रमाणस्वरूप, शीलस्वरूप-निरूपण के प्रसंग में आये हुये निम्नलिखित दोहों को देखा जा सकता है, जिनमें शील की महिमा को अंतर्कथाओं के माध्यम से समझाया गया है—

"नीली सेठ सुता सुभा, शीलव्रत्त परसाद।
देवण करि पूजा लही, दूरि भयो अपवाद।।
शील प्रभावै जयप्रिया, सुभ सुलोचना नारि।
लही प्रशंसा सुरनि करि, सम्यग्दर्शन धारि।।
शीलप्रसादै रामजी, जनकसुता सुभ भाव।
पूज्य सुरासुर नरनि करि, भए जगत की नाव।।
सेठ विजय अर सेठनी, विजय शीलप्रसाद।
भई प्रशंसा मुनिन करि, भये रहित परमाद।।
शुक्लपक्ष अर कृष्णपख, धारि शीलव्रत तेहि।
तीन लोक पूजित भये, जिन आज्ञा उर लेहि।।

1. क्रियाकोश, छन्द 2460 से 2463

सेठ सुदर्शन आदि बहु, सीझे शील प्रताप।
नमस्कार या व्रत्तकों, जो मैटे भवताप।।
जे सीझे ते शील करि, और न मारग कोय।
जनम जरा मरणादि को, नाशक यह व्रत होय।। [1]"

अंतर्कथाओं की ही भाँति कवि ने अपनी बात को अधिकाधिक सरलता और स्पष्टता से प्रस्तुत करने के लिए मार्मिक उदाहरणों और सांगरूपकों का भी सहारा लिया है। प्रमाणस्वरूप एक उदाहरण का प्रयोग देखिए:—

"जैसे सूरज कांच के, रूई बीचि धरेय।
प्रगटै अगनि तहां सही, रूई भस्म करेय।।
तैसे रस अर चर्म के, जोगै जिय उपजंत।
खावेवारे के सकल, धर्मव्रत्त लुपिजंत।। [2]"

सांगरूपक का भी एक सुष्ठु प्रयोग द्रष्टव्य है:—

"अघ-तरवर को मूल इह, मोह मिथ्यात जु होय।
राग दोष कामादिका, ए सकंध बहु जोय।।
अशुभ क्रिया शाखा घनी, पल्लव चंचल भाव।
पत्र असंजम अव्रता, छाया नाहिं लखाव।।
इह भव दुख भाखै पहुप, फल निगोद नरकादि।
इह अघतरु को रूप है, भववन मांहि अनादि।। [3]"

'क्रियाकोश' में कुछ स्थलों पर व्युत्पत्तिमूलक विवेचन भी किया गया है, पर वह व्याकरण की तरह नीरस नहीं, अति सरस है। यथा—

"क्षत् कहिए पीरा को नामा। पर-पीरा-हर जिनको कामा।।
क्षत्री दुर्बल को किम मारै। क्षत्री तो पर-पीरा टारै।
मांस खाय सो क्षत्री कैसो, वह तौ दुष्ट अहेरी जैसो।। [4]"

1. क्रियाकोश, छन्द 1038 से 1044
2. वही, छन्द 174–175
3. वही, छन्द 153 से 155
4. वही, छन्द 294–295

अथवा –

"प्रायः कहिए मित्र सर्वथा, उप कहिए स्वसमीप निर्व्यथा।।
गमन जु कहिए जाग्रत होवौ, रात दिवस कबहूँ नहि सोवौ।।
सो प्रायोपगमन संन्यासा, सर्व गुणाकरि धर्म अध्यासा।।"[1]

'क्रियाकोश' के विवेचन में अद्‌भुत दृढ़ता के दर्शन होते हैं। कवि जिस विषय को उठाता है, पूरी गंभीरता से उठाता है और फिर उसमें किसी प्रकार की शिथिलता को कोई स्थान नहीं छोड़ता। उदाहरणार्थ, अहिंसाव्रत के प्रसंग में वह लिखता है:—

"जो कबहूं पाषाण जल,--माहिं तिरे अर भान।
ऊगे पश्चिम की तरफ, दैव जोग परवान।।
शीतल गुन है अगनि में, धरा पीठ उलटेय।
तोहू हिंसाकर्म तें, नाहीं शुभमति लेय।।
जो चाहै हिंसा करी, धर्म मुकति को मूल।
सो अगनीसूं कमलवन, अभिलाषै मतिभूल।।
प्राणघात करि जो कुधी, वांछै अपनी वृद्धि।
सो सूरज के अस्ततें, चाहें वासर शुद्धि।।
जो चाहै व्रत-धर्म कौ, करै जीव को नास।
सो शठ अहि के वदन तें, करै सुधा की आस।।
धर्मबुद्धि करि जो अबुध, हनै आपसे जीव।
सौ विवाद करि जस चहै, जल-मंथन तें घीव।।
जैसे कुमती नर महा, कालकूट कूं पीय।
जीवों चाहे जीव हति, तैसे श्रेय स्वकीय।।
करि अजीर्ण दुरबुद्धि जो, इच्छै रोग–निवृत्ति।
तैसें शठ परघात करि, चाहै धर्म–प्रवृत्ति॥"[2]

---

1. क्रियाकोश, छन्द 329 – 330
2. वही, छन्द 455 से 462

मनुष्य की अनादिकालीन प्रमाद-प्रवृत्ति बड़ी गहरी है। वह लाख उपाय करने पर भी आसानी से नहीं छूटती। 'क्रियाकोश' का कवि इस तथ्य से भलीभाँति परिचित है। यही कारण है कि वह किसी भी क्रिया के पालन में थोड़े से भी प्रमाद को अवकाश नहीं रहने रहता, सर्व ओर से सशक्त इंतजाम करके ही चैन की सांस लेता है।

अचौर्यव्रत के प्रसंग में वह न केवल चोरी करने का निषेध करता है, अपितु चोर की संगति, चोर के माल की खरीददारी, हीनाधिक तौलने की प्रवृत्ति और धरोहर को हज्म कर जाने की प्रवृत्ति का भी निषेध करता है।[1] शीलव्रत के प्रसंग में वह न केवल स्त्री-सेवन का निषेध करता है, स्त्री-राग-कथा सुनने, स्त्री के मनोहर अंगों को देखने, गरिष्ठ भोजन करने आदि तक का भी निषेध करता है।[2] दिग्व्रत के प्रसंग में कवि ने मर्यादा का उल्लंघन सुमेरु पर्वत के डिग जाने पर भी स्वीकार नहीं किया है—

"मेरु डिगै पर पैंड न एका, जाय सुबुद्धि परम विवेका।[3]"

'क्रियाकोश' की भाषा ब्रजभाषा है, किन्तु उसमें यत्र-तत्र राजस्थानी शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। यथा :— ढाँकै, सौंप्यो, भोंदू, हेलौ, बगाय इत्यादि। इसीप्रकार तल्लुक, हाकिम आदि दो-चार शब्द उर्दू भाषा के भी मिल जाते हैं; लेकिन भाषा की सजीवता और प्रवाहमयता देखते ही बनती है। ऐसा लगता है कि मानो लेखक अपने पाठक से प्रत्यक्ष बात कर रहा है। 'क्रियाकोश' में अपनी बात को समझाने के लिए दो-तीन स्थलों पर गद्य का भी प्रयोग किया गया है।[4]

'क्रियाकोश' में मुहावरों का भी यत्र-तत्र सुन्दर प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित छन्द द्रष्टव्य हैं, जिसमें जलांजलि देना मुहावरे का सुन्दर प्रयोग हुआ है:—

"इह रत्नत्रय करि शिव लेवैं, चहुँ गति कों भवि पानी देवें।
या करि सीझे अरु सीझेंगे, या लहि पर में नहिं रीझेंगे।।[5]"

छन्द की दृष्टि से 'क्रियाकोश' में दोहा, चौपाई, चौपई, बेसरी, जोगीरासा, चाल, कवित्त, सवैया, सोरठा आदि छन्दों का प्रमुखता से प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार अलंकारों का सहज प्रयोग भी 'क्रियाकोश' की उल्लेखनीय विशेषता है।

---

1. क्रियाकोश, छन्द 597 से 600
2. वही, छन्द 1019 से 1026
3. वही, छन्द 1173
4. वही, छन्द-संख्या 260, 385, 1190 और 2340 के बाद।
5. वही, छन्द 2490

2.3.2.2. अध्यात्मबारहखड़ी :—

"अध्यात्मबारहखड़ी" पण्डित दौलतराम की सबसे बड़ी काव्य कृति है जिसका दूसरा नाम "भक्त्यक्षरमालिकाबावनी-स्तवन" भी है; जैसा कि स्वयं लेखक ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में और उसके प्रत्येक परिच्छेद की पुष्पिका में उल्लेख किया है:—

"अथ भक्त्यक्षरमालिकाबावनी-स्तवन अध्यात्मबारहखड़ी लिख्यते।"

"इति श्री भक्त्यक्षरमालिकाबावनी-स्तवन अध्यात्मबारहखड़ी नामध्येये उपासनातंत्रे.... .... अकारमिश्राक्षरप्ररूपको नाम प्रथमः परिच्छेदः।।1।।"

'भक्त्यक्षरमालिकाबावनी-स्तवन' और 'अध्यात्मबारहरखड़ी'—इन दो नामों में से 'भक्त्यक्षरमालिकाबावनी-स्तवन' नाम का ही प्रथम प्रयोग होने से ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक को इस कृति का प्रधान नाम 'भक्त्यक्षरमालिकाबावनी-स्तवन' ही इष्ट है, किन्तु इसके विषय और शिल्प को स्पष्ट रूप से दर्शाने के लिए उन्होंने इसका अपर नाम 'अध्यात्मबारहखड़ी' भी रखा है; क्योंकि यह ग्रन्थ अध्यात्म विषय का बारहखड़ी शैली में प्रतिपादन करता है। साहित्य-समाज में यह कृति "अध्यात्मबारहखड़ी" नाम से अधिक प्रसिद्ध है।

'अध्यात्मबारहखड़ी' की रचना उदयपुर में फाल्गुन शुक्ला द्वितीया, गुरुवार, वि० सं० 1798 को प्रातःकाल पूर्ण हुई थी; जैसा कि अन्तिम प्रशस्ति में पण्डितजी ने स्वयं लिखा है:—

"संवत सत्रह सै अठ्याणव, फाल्गुन मास प्रसिद्धा।
शुक्ल पक्ष द्वितिया गुरुवारा, भायो जगपति सिद्धा।
जबै उत्तरा भाद्र नक्षत्रा, शुक्ल जोग शुभकारी।
बालव नामकरण तव करतै, गायो ज्ञान विहारी।
एक महूरत दिन जब चढ़ियो, मीन लगन तव सिद्धा।
भगति माल त्रिभुवन राजा कौं, भेंट करी परसिद्धा।।[1]"

इस कृति की रचना पण्डितजी ने अपनी 'अध्यातम सैली' के पृथ्वीराज, चतुर्भुज, मनोहरदास, बख्तावर, चीमा पण्डित आदि सदस्यों के स्नेहपूर्ण अनुरोध से की थी; जैसा कि अन्तिम प्रशस्ति के निम्न छन्दों से स्पष्ट होता है:—

---

1. अध्यात्मबारहखड़ी, अन्तिम ग्रन्थ—प्रशस्ति, छन्द 30 से 32.

"उदियापुर में रुचि धरा, कैयक जीव सुजीव।
पृथ्वीराज चतुर्भुजा, श्रद्धा धरहि अतीव।।
दास मनोहर अर हरी, द्वै बखता अर कर्ण।
केवल केवल रूप कौ, राखै एकहि सर्ण।।
चीमा पण्डित आदि ले, मन मैं धरिउ विचार।
बारखड़ी है भक्तिमय, ज्ञान रूप अविकार।।
भाषा छंदनि मांहि जौ, अक्षर मात्रा लेय।
प्रभु के नाम बखानियें, समुझैं बहुत सुनेय।।
इह विचार करि सब जना, उर धरि प्रभु की भक्ति।
बोले दौलतिराम सौ, करि सनेह रस व्यक्ति॥
बारखड़ी करिये भया, भक्ति प्ररूप अनूप।
अध्यातम रस की भरी, चरचा रूप सुरूप।।
साधर्मिन की देसना, लहि करि दौलतिराम।
अविनासी आनन्दमय, गायो आतमराम।।"

उपर्युक्त छन्दों से यह भी स्पष्ट होता है कि यह रचना भक्तिप्रधान है, किन्तु उसमें अध्यात्मचर्चा भी कूट-कूट कर भरी हुई है। भक्ति-प्रधान होने के कारण कवि ने इस रचना का नाम 'भक्त्यक्षरमालिकाबावनी-स्तवन' रखा है और अध्यात्मप्रधान होने के कारण 'अध्यात्मबारहखड़ी' नाम रखा है।

'अध्यात्मबारहखड़ी' में 8 परिच्छेद हैं। अकार से हकार तक प्रत्येक स्वर और व्यंजन वर्णों में रचना का विषय वर्णित है। रचना को पढ़ने से लेखक की अगाध विद्वत्ता और काव्यप्रतिभा का सहज ही पता चल जाता है।

प्राचीनकाल में इस प्रकार की बारहखड़ियाँ लिखने और उन्हें सभाओं में सुनाने का बहुत प्रचार था। लोग इन बारहखड़ियों को कंठस्थ कर लेते थे और फिर जनता में अन्त्याक्षरी के रूप में सुनाया करते थे। शायद इसी भाव से प्रेरित होकर उदयपुर के तत्कालीन समाज-प्रमुखों ने पण्डितजी से

---

1. अध्यात्मबारहखड़ी, अन्तिम ग्रन्थ-प्रशस्ति, छन्द 5 से 11

भक्तिप्रधान किन्तु आध्यात्मिक रस से भरपूर बारहखड़ी बनाने का अनुरोध किया होगा। वर्णमाला के अकारादि वर्णों के क्रम से काव्यरचना की प्रवृत्ति हिन्दी-साहित्य के मध्यकाल में बहुत देखने को मिलती है। जायसी की 'अखरावट' और कबीर की बावन अखरी, चौंतीसी रमैनी आदि ऐसी ही रचनाएँ हैं। पं० दौलतराम की 'अध्यात्मबारहखड़ी' उसी परंपरा की सर्वोत्कृष्ट कृति है।

'अध्यात्मबारहखड़ी' की श्री दिगम्बर जैन मन्दिर तेरहपन्थियान (बड़ा), घी वालों का रास्ता, जयपुर के शास्त्र-भण्डार में दो प्रतियाँ हैं, लेकिन दोनों ही अनेक दृष्टियों से एक-दूसरे से भिन्न हैं। आकार में भी दोनों में बड़ा अन्तर है। एक छोटी है, दूसरी बड़ी। यहाँ हम छोटी प्रति को 'क' प्रति कहेंगें और बड़ी प्रति को 'ख' प्रति।

(1) 'क' प्रति के पद्यों की संख्या 2664 है, जबकि 'ख' प्रति में 4995 पद्य हैं। 'क' प्रति में रचना केवल 5 परिच्छेदों में ही समाप्त हो गई है, जबकि 'ख' प्रति में 8 परिच्छेद हैं। पद्यों में भी पाठभेद बहुत हैं।

(2) दोनों प्रतियों के मंगलाचरण में भी अन्तर है। 'क' प्रति का मंगलाचरण इसप्रकार है—

"वंदे ज्ञानात्मकं धीरं वीरं गम्भीरशासनम्।
भक्तिदं भुक्तिमुक्तीशं योगिनं कर्मदूरगं।।
गुरून्महामुनीन्नत्वा दृष्ट्वानेकान्तपद्धतिं।
नत्वा जितांहि पद्मौ च वक्ष्ये नामावली प्रभो।।
वंदों आदि अनादि कौं, जो युगादि जगदीश।
कर्मदलन खल बल हरन, तारन तरन अधीश।।"

'ख' प्रति का मंगलाचरण इस प्रकार है:—

" वंदे मोक्षाधिपं देवं, मोक्षमार्गप्रकाशकं।
भुक्तिमुक्तिप्रदातारं, भेत्तारं कर्मभूभृतां।।
गौतिमादिमुनीन्वंदे वंदे तत्त्वप्ररूपणां।
वंदे समाधितंत्रं च त्रयीमूलं तु नाटकं।।
गुरुमानन्दरूपं च देवं देवेन्द्रकीर्तितं।
वंदे सर्वात्मरक्षाढ्यं ज्ञानं ब्रह्मैकरूपिणं।।

भक्त्यक्षरमयीमाला ज्ञानतंत्रेण ग्रंथिता।

प्रभोर्नानागुणस्तोत्रपुष्पैः सौरभ्यशालिभिः।।

मुनयो भ्रमरा यत्र यांति तृप्तिं महाशयाः।

नत्वा जिनांघ्रि पद्मौ च अर्पयामि शिवाप्तये।।

बंदौ आदि अनादि कौं, जो युगादि जगदीश।

कर्मदलन प्रभु जगपती, परमेश्वर चिदधीश।।"

(3) 'क' प्रति में 33 छन्दों की अन्तिम ग्रन्थ–प्रशस्ति प्राप्त होती है, किन्तु 'ख' प्रति के अन्त में किसी प्रकार की कोई प्रशस्ति नहीं है।

इसके अतिरिक्त और कोई विशेष भेद नहीं है। परिच्छेद के अन्त में दोनों ही प्रतियों में एक-सा पाठ है और वह इस प्रकार है—

"इति श्रीभक्त्यक्षरमालिकाबावनी-स्तवन-अध्यात्मबारहखड़ी-नामध्येये उपासनातंत्रे जिनसहस्रनाम-एकाक्षरी-नाममालाद्यनेकग्रंथानुसारेण भगवद्भजनानंदाधिकारेण आनन्दरामसुतदौलतरामेन अल्पबुद्धिना उपायनीकृते यकारादि-क्षकारान्त-नवाक्षरप्ररूपको नाम अष्टमः परिच्छेदः।"

दोनों प्रतियों के इस भारी पाठभेद के सम्बन्ध में निश्चित रूप से तो कुछ नहीं कहा जा सकता, लेकिन अनुमानतः ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं कवि ने इस कृति की रचना दो बार की होगी। पहले छोटी कृति की रचना की होगी और बाद में उसे ही संशोधित-परिवर्द्धित करके विशाल बनाया होगा।

समस्या यह है कि बड़ी वाली प्रति में अंतिम प्रशस्ति नहीं है, जबकि पं० दौलतराम की अधिकांश कृतियों में अंतिम प्रशस्ति प्राप्त होती है। यदि 'अध्यात्मबारहखड़ी' की इस बड़ी प्रति में भी प्रशस्ति होती तो शायद यह असमंजस की स्थिति उत्पन्न नहीं होती। अंतिम प्रशस्ति संभवतः लिपिकार से ही छूटी है, क्योंकि पण्डितजी ऐसी स्थिति में भी प्रशस्ति न लिखें— ऐसा नहीं जँचता।

वर्ण्य विषय की दृष्टि से, जैसा कि इसके नाम से ही सूचित होता है कि इसमें बारहखड़ी के माध्यम से अध्यात्म विषय का वर्णन किया गया है। छन्दों का प्रारंभ क्रमशः प्रत्येक स्वर और व्यंजन से होता है। अध्यात्म तो इस कृति में तिल में तेल की भाँति सर्वत्र समाया हुआ है। एक दृष्टि से यह अध्यात्म विषय का कोशग्रन्थ कहा जा सकता है।

'अध्यात्मबारहखड़ी' के अपर नाम 'भक्त्यक्षरमालिका-बावनी-स्तवन' से सूचित होता है कि अध्यात्म के अतिरिक्त इसमें भक्ति-भावना का भी प्रवाह है। भक्ति करते हुए कवि ने जैन तीर्थंकरों

और पंच परमेष्ठियों की विविध रूप में स्तुति की है, जिससे इसमें सहस्रनाम, शतनाम जैसी अनेक रचनाओं का सहज समावेश हो गया है। यहाँ भक्ति का एक छन्द उदाहरणार्थ प्रस्तुत है:—

"नः अस्माकं देव देहु तू निजपद भक्ती।
नः अस्माकं नाथ वितर तू बंधविमुक्ती।
अस्माकं को अर्थ तारि तू हमहि जिनेशा।
मति राखै भव मांहि तू ज हरि तिमिर दिनेशा।।
भव हरि भय हरि भ्रांति हरि, हरि जु अंधतानादि की।
दे स्वचक्षु जिन जोगिया, पर परिणति हरि बादि की।। [1]"

अध्यात्म और भक्ति के बाद इसमें नीति और जैन सिद्धान्तों का विवेचन है। जैन सिद्धान्तों के विवेचन में कवि की अगाध विद्वत्ता झलकती है। व्याकरण और शब्दकोश का भी कवि को भारी ज्ञानहै, जो इस कृति में पदे-पदे व्यक्त हो रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पं० दौलतराम की यह कृति एक ऐसा महाकाव्य है जिसमें अध्यात्म, धर्म, दर्शन, पुराण, भक्ति, नीति, आचार, शब्दकोश, व्युत्पत्तिशास्त्र आदि अनेक विषयों का सहज समावेश हुआ है। तथा इसी दृष्टि से इसे एक ओर अध्यात्मकाव्य कहा जा सकता है तो दूसरी ओर भक्तिकाव्य, तीसरी ओर धर्मग्रन्थ, चौथी ओर पुराणकाव्य, पाँचवीं ओर नीतिकाव्य तथा छठी ओर आचार काव्य आदि भी कहा जा सकता है।

कल्पनाशीलता, भावात्मकता, विशालता और काव्यात्मकता की दृष्टि से यह समूचे हिन्दी-साहित्य का उत्कृष्ट ग्रन्थ है, जो कितने ही पाठकों को 'पृथ्वीराज रासो 'की स्मृति दिलाता है।

काव्य रूप की दृष्टि से यह ग्रन्थ वर्णमालाश्रित मुक्तक काव्य की कोटि में आता है, किन्तु इसकी व्यापकता और काव्यात्मकता के कारण इसे अध्यात्म और भक्ति का महाकाव्य कहना चाहिए। डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल ने भी इसे भक्ति और अध्यात्म का महाकाव्य कहा है।[2]

रस की दृष्टि से 'अध्यात्मबारहखड़ी' में दो ही प्रधान रस हैं:— शान्त और भक्ति।

---

1. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द— न/126
2. महाकवि दौलतराम कासलीवाल – व्यक्तित्व एवं कृतित्व, प्रस्तावना, पृष्ठ 85

'अध्यात्मबारहखड़ी' की भाषा ब्रज है, किन्तु उसमें कहीं–कहीं लहौरो (छोटा), झज्झर, टल्लो–इत्यादि राजस्थानी शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। वैसे इस कृति में सर्वत्र तत्सम शब्दावली की ही प्रधानता दृष्टिगोचर होती है।

इसके अतिरिक्त 'अध्यात्मबारहखड़ी' में लगभग 130 छन्द पूर्णतः संस्कृत भाषा में ही लिखे गये हैं।

छन्द और अलंकार की दृष्टि से भी 'अध्यात्मबारहखड़ी' एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति सिद्ध होती है। संक्षिप्ततः इसमें दोहा, सोरठा, चौपाई, चौपई, सवैया, भुजंगप्रयात, नाराच, अडिल्ल, पद्धड़ी, त्रोटक, त्रिभंगी, गीतिका, मन्दाक्रान्ता, मालिनी, वसन्ततिलका आदि अनेक छन्दों का प्रयोग हुआ है, जो मात्रिक एवं वर्णिक दोनों प्रकार के हैं। इसी प्रकार अलंकारों में भी शब्द, अर्थ और उभय– तीनों प्रकार के नाना अलंकारों का सहज प्रयोग हुआ है, जिससे काव्य का चमत्कार अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त हुआ है।

2.3.2.3. विवेक-विलास–

924 दोहों में निबद्ध 'विवेक-विलास' महाकवि पण्डित दौलतराम कासलीवाल की एक ऐसी उत्कृष्ट कृति है, जिसमें काव्यात्मकता और आध्यात्मिकता – दोनों ही कूट-कूट कर भरी हैं।

'विवेक-विलास' की रचना जयपुर नगर में पौष शुक्ला तृतीया, बृहस्पतिवार, वि० सं० 1827 को संपूर्ण हुई थी; जैसा कि उसकी अन्तिम प्रशस्ति से ज्ञात होता है:–

"इति श्री विवेक विलास संपूर्ण।। लिखी सवाई जैपुर मैं मिती पोस सुदि 3 ब्रीसपतवार संवत 1827।। बाचै जीनै श्री स्वद वंचनां।। श्री।।"

ज्ञातव्य है कि इस समय तक पण्डित दौलतराम कासलीवाल जैनदर्शन के प्रकाण्ड विद्वान आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी का लगभग पन्द्रह वर्षों तक सान्निध्य-लाभ ले चुके थे, जिनशास्त्रों का गहन अध्ययन कर चुके थे और साहित्य-रचना के क्षेत्र में भी अनेक विशाल कृतियों का प्रणयन कर पारंगत हो चुके थे। 'विवेक-विलास' उनके सम्पूर्ण चिन्तन का सार और अनुभव का परिणाम है।

यही कारण है कि 'विवेक-विलास' की प्रामाणिकता, प्रौढ़ता, आध्यात्मिकता और काव्यात्मकता – किसी में कोई कमी नहीं है। सभी दृष्टियों से वह कवि की एक उत्तम कृति बन गई है।

'विवेक-विलास' में कुल 924 दोहे हैं जो निम्नलिखित 18 वर्णनों में विभाजित हैं:–

1. निजधाम-वर्णन(दोहा 1 से 104)
2. ठगग्राम-वर्णन (दोहा 105 से 166)
3. निजवन-निरूपण (दोहा 167 से 191)
4. भववन-निरूपण (दोहा 192 से 268)
5. भावसमुद्र-वर्णन (दोहा 269 से 309)
6. भवसमुद्र-वर्णन (दोहा 310 से 385)
7. ज्ञानगिरि-निरूपण (दोहा 386 से 424)
8. गर्वगिरि-वर्णन (दोहा 425 से 475)
9. निजगंगा-निरूपण (दोहा 476 से 516)
10. आशावैतरणी-विषनदी-वर्णन (517 से 554)
11. भावसरोवर-वर्णन (दोहा 555 से 602)
12. विभावसर-वर्णन (दोहा 603 से 666)
13. अध्यात्मवापिका-वर्णन (667 से 693)
14. विषयवापी-वर्णन (694 से 734)
15. रसकूप-वर्णन (735 से 752)
16. भवकूप-वर्णन (दोहा 753 से 779)
17. अन्तरात्मा-ज्ञानराज-वर्णन (780 से 827)
18. बहिरात्मदशा-वर्णन (827 से 924)

इन सभी वर्णनों में आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मा के स्वभाव और विभाव का स्पष्ट निरूपण किया गया है और बार-बार कहा गया है कि स्वभाव सुखरूप होने से उपादेय है और विभाव दुःखरूप होने से हेय है।

प्रत्येक वर्णन के प्रारम्भ में एक सहेतुक मंगलाचरण है, जिसमें इष्टस्मरण के साथ वस्तु-निर्देश भी प्राप्त होता है। यथाः—

"सुख सरवर मैं जो रमैं, दमैं दोष दुख देव।
नमैं नाग नरनाथ मुनि, करैं सुरासुर सेव।।
ताहि प्रणमि नमि भारती, भाषित भगवत भूप।
करि प्रणाम गुरुदेव कौं, भाषौं निजसर रूप।।"[1]

इसी प्रकार प्रत्येक वर्णन के अन्त में एक ऐसा पूर्णता-सूचक दोहा है, जिसमें कवि के नाम का प्रयोग है और वह श्लेषालंकार से युक्त है। यथाः—

*"निज **दौलति** अनूभूति है, ताहि विलसवे काज।*
छांड़े राज विभूति सब, सो पंडित सिरताज।।"[2]

सम्पूर्ण ग्रन्थ के अन्त में कवि ने 'विवेक-विलास' के नाम की सार्थकता और उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि त्यागने योग्य परवस्तुओं को हेय कहते हैं और ग्रहण करने योग्य निजभाव

1. विवेक-विलास, छन्द 555—556
2. वही, छन्द 827

को उपादेय कहते हैं, तथा ऐसा हेय-उपादेय का निर्मल ज्ञान ही विवेक है। जो जीव इस 'विवेक-विलास' को पढ़ेंगे, सुनेंगे और इसका श्रद्धान करेंगे वे अविवेक का त्याग करके निजपुर में निवास करेंगे:—

"त्याग जोगि पर वस्तु जे, हेय कहावैं तेहि।
लेन जोगि निज भाव जे, उपादेय हैं एहि।।
हेय उपादेयांनि कौ, जो विचार अविकार।
सो विवेक भासैं बुधा, ता सम और न सार।।
पढ़ैं सुनैं अर सरदहैं, इह जु विवेक विलास।
सो अविवेक निवारिकैं, पावैं निजपुर वास।।
निजपुर सौ नहिं कोइ पुर, जहां काल भय नांहि।
कर्म न भर्म न कलपना, सुख अनंत जा मांहि।।"

वस्तुतः 'विवेक-विलास' एक उत्कृष्ट रूपक काव्य है। रूपकत्व की दृष्टि से इसका अध्ययन बहुत रुचिकर और उपयोगी सिद्ध हो सकता है। रूपकों और सांगरूपकों का इतना व्यापक एवं सुन्दर प्रयोग अन्यत्र दुर्लभ है। रूपकों के कारण रचना में नाना बिम्बों का भी सहज निर्माण हो गया है। कहीं वन है तो कहीं सरोवर है, कहीं कूप है तो कहीं वापिका है, कहीं पहाड़ है तो कहीं नदी है, आदि।

'विवेक-विलास' की भाषा सरल ब्रजभाषा है, जिसमें कतिपय राजस्थानी रूपों का भी समावेश हुआ है। भाषा की सरलता से परिचित होने के लिए एक उद्धरण प्रस्तुत है:—

"बहिरातमता त्यागि कैं, अंतरातमा होय।
सो परमातम पद लहैं, इह निश्चै अवलोय॥[2]

'विवेक-विलास' में अलंकारों का भी सहज और सुन्दर प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। यथा :—

"परम पुरष परवान ते, परम जान भगवांन।
महादेव महिपाल ते, महाराज गुणवांन॥[3]"

---

1. विवेक-विलास, छन्द 921 से 924
2. वही, छन्द 918
3. वही, छन्द 89

'विवेक-विलास' का प्रथम प्रकाशन अभी कुछ वर्ष पहले डॉ. कस्तूरचंद कासलीवाल की पुस्तक 'महाकवि दौलतराम कासलीवालः व्यक्तित्व एवं कृतित्व' में हुआ है; किन्तु इसके स्वतंत्र रूप में पुनः प्रकाशन की महती आवश्यकता है।

2.3.2.4. चौबीस दण्डक :—

'चौबीस दण्डक' महाकवि दौलतराम कासलीवाल की एक छोटी-सी रचना है जिसमें 10 दोहे और 47 चौपाइयाँ – इसप्रकार कुल 57 छन्द हैं।

'चौबीस दण्डक' की सुनिश्चित रचना-तिथि, कवि की अन्य रचनाओं की भाँति ज्ञात, नहीं है; क्योंकि इसकी प्रशस्ति को कवि ने मात्र अपना नामोल्लेख करके ही पूरा कर दिया है, उसमें रचना–तिथि का संकेत नहीं किया है।

'चौबीस दण्डक' नामक इस लघु कृति में कवि ने 24 दण्डकों का वर्णन किया है। कवि के अनुसार 13 देव के, 9 तिर्यञ्च के, 1 नरक का एवं 1 मनुष्य का – ये 24 दण्डक हैं, जैसा कि निम्नलिखित छन्दों से स्पष्ट है:—

"पहलो दण्डक नारक तनो, भवन पति दस दंडक भनो।
जोतिष व्यंतर स्वर्ग निवास, थावर पंचम हों दुख रास।।
विकल त्रय अरु नर तिर्यंच, पंचेन्द्री धारक परपंच।
ए चौबीसों दंडक कहे, अब सुनि इसमें भेद जु लहे।।"

कृति के प्रारंभ में 6 छन्दों का एक श्रेष्ठ मंगलाचरण है जो नमस्कारात्मक ही नहीं, वस्तुनिर्देशात्मक भी है। यहाँ उसके प्रारंभिक दो छन्द अवलोकनार्थ प्रस्तुत हैं:—

"वंदौ वीर सुधीर को , महावीर गम्भीर।
वर्द्धमान सन्मति महा, देव–देव अति वीर।।
गत्यागत्य प्रकाश जो, गत्यागत्य बितीत।
अद्‌भुत अति गति सुगति ज्यों, जैनेश्वर जगजीत।।"

इसके बाद क्रमशः नरक, देव, मनुष्य और तिर्यञ्चों के चौबीस दण्डकों का विवेचन किया गया है।

---

1. चौबीस दण्डक, छन्द 7–8
2. वही, छन्द 1–2

नरकगति के दण्डक का विवेचन करते हुए कहा गया है कि असैनी जीव पहले नरक तक, सरीसृप प्राणी दूसरे नरक तक, पक्षी तीसरे नरक तक, सर्प चौथे नरक तक, नाहर पाँचवें नरक तक, नारी छठवें नरक तक और नर एवं मच्छ सातवें नरक तक जा सकते हैं। सातवें नरक से निकला हुआ जीव पशुगति ही प्राप्त करता है, छठवें नरक से निकला हुआ जीव सम्यक्त्व और श्रावकव्रत धारण कर सकता है, पाँचवें नरक से निकला हुआ जीव मुनि भी हो सकता है, चौथे नरक से निकला हुआ जीव केवली भी हो सकता है, तीसरे नरक से निकला हुआ तीर्थंकर भी हो सकता है।[1]

देवगति के तेरह दण्डकों का विवेचन करते हुए कहा गया है कि देवगति की प्राप्ति मनुष्य और पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च के अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं हो सकती। देव मरकर पृथ्वी, जल, वनस्पति, मनुष्य और तिर्यञ्च— इन पाँचों में से कुछ भी बन सकता है। दूसरे स्वर्ग से ऊपर के देव मरकर स्थावर नहीं होते। सहस्रार से ऊपर के देव मरकर नियम से मनुष्य ही बनते हैं। भोगभूमि के मनुष्य और तिर्यञ्च दूसरे स्वर्ग से ऊपर नहीं जाते। देव कभी भोगभूमि में नहीं जन्मते। भोगभूमि तो कर्मभूमि के मनुष्य और पशुओं को ही प्राप्त हो सकती है।[2]

मनुष्यगति के दण्डक का विवेचन करते हुए बताया गया है कि मनुष्य चौबीसों दण्डकों में जा सकता है। मनुष्य मुनि बनकर मोक्ष भी पा सकता है। कोई भी मनुष्य अपने सिद्धसमान शुद्धात्मा का ध्यान कर परमात्मा बन सकता है। तीर्थंकर की आगति दो हैं— देव और नरक— परन्तु गति एक भी नहीं है, क्योंकि वे नियम से संसार का अभाव कर मोक्ष प्राप्त करते हैं। तीर्थंकर के पिता स्वर्ग या मोक्ष में जाते हैं और माता स्वर्ग प्राप्त कर शीघ्र मोक्ष में जाती है।[3]

तिर्यञ्चगति के नौ दण्डकों को समझाते हुए कहा गया है कि पञ्चेन्द्रिय पशु मर कर चौबीसों दण्डकों में जा सकता है। विकलत्रय की गति और आगति— दोनों ही दस हैं:—5स्थावर, 3 विकलत्रय, 1 मनुष्य और 1 पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च।[4] अंत में कहा गया है कि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग और पंचेन्द्रिय के विषय-भोगों का त्याग करने से संसार-परिभ्रमण दूर होता है। इस जीव ने जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्ररूपित मार्ग को नहीं समझकर ही चतुर्गतियों में भ्रमण किया है, अतः अब जिनमार्ग को हृदय में अवधारण कर भवोदधि से पार उतरना चाहिए।[5]

---

1. चौबीस दण्डक, छन्द 9 से 14
2. वही, छन्द 15 से 27
3. वही, छन्द 28 से 45
4. वही, छन्द 46 से 51
5. वही, छन्द 52 से 55

'चौबीस दण्डक' की रचना का उद्देश्य, उसके निम्नांकित छन्दों से समझा जा सकता है, जिनमें कवि ने भव्यजीवों को आत्मज्ञान की प्राप्ति करके चतुर्गति दुःखों के विनाश की प्रेरणा दी है:—

"जिनवाणी परकाश तैं, लहि निज आत्मज्ञान।
दहिए गत्यागति सबैं, गहिए पद निरवान।।
चौबीसों दण्डकतनी, गत्यागत्य सुनेह।
सुनकर विरकत भाव धरि, चहुंगति पानी देह।।[1]

'चौबीस दण्डक' की भाषा ब्रज है, जिसमें राजस्थानी का भी पर्याप्त मिश्रण है, तथापि वह सरल, सशक्त और सुस्पष्ट है। कहीं-कहीं मुहावरों के सुष्ठु प्रयोग से भाषा में चार चाँद लग गये हैं :—

"जिन भज सब परपंच तज, बड़ी बात है येह।
पंच महाव्रत धार कैं, भवजल को जल देह॥[2]"

'चौबीस दण्डक' कृति पचासों वर्ष पहले एक बार दिल्ली से प्रकाशित हुई थी, पर अब वह प्रायः कहीं भी देखने को नहीं मिलती। हाँ, जैन-ग्रन्थ-भण्डारों में उपलब्ध अनेक हस्तलिखित गुटकों में इसकी प्रतियाँ सहज उपलभ्य हैं।

3.3.2.5. चतुरःचितारणी :—

यह पंडित दौलतराम कासलीवाल की एक लघु कृति है, जिसमें कुल 149 छंद हैं। छन्दों में 148 तो सोरठे हैं और केवल 1 गीतिका है।

इसकी रचना पं० दौलतराम कासलीवाल ने कब की — यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं हो सका है, क्योंकि पं० दौलतराम की रचनाओं के निश्चित काल को जानने का साधन हमारे पास केवल एक होता है— अंतिम ग्रन्थ-प्रशस्ति, जो इस कृति में उपलब्ध नहीं है। तथापि इस कृति की प्रकृति बहुत कुछ "विवेक-विलास" से मिलती-जुलती है; अतः सम्भावना यही प्रतीत होती है कि इसकी रचना 'विवेक-विलास' के कुछ आगे-पीछे हुई होगी। 'विवेक-विलास' की रचना वि० सं० 1827 में हुई है, अतः इसकी रचना भी वि० सं० 1824 से 1829 के मध्य कभी हुई होनी चाहिए।

---

1. चौबीस दण्डक, छन्द 5–6
2. वही, छन्द 56

कृति का नाम तो निःसन्देह "चतुर-चितारणी" है ही; जैसा कि निम्नलिखित छन्द से स्पष्ट होता है—

"जिन आज्ञा सुखदांनि, संसारार्णवतारणी।
ताहि प्रणमि उर आनि, भाषौं चतुर चितारणी।।"[1]

'चतुर-चितारणी' का मुख्य विषय अध्यात्म ही मानना चाहिए, क्योंकि इसमें आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मा और परमात्मा का स्वरूप समझाया गया है। समझाने की पद्धति अतीव रोचक है। आत्मा और परमात्मा का स्वरूप समझाते हुए सारांशतः यह कहा गया है कि वास्तव में आत्मा और परमात्मा दोनों एक समान हैं। उनमें जातिगत अन्तर कोई नहीं है। अन्तर केवल इतना ही है कि आत्मा मोह-राग-द्वेषादि के वशीभूत होकर संसार में भ्रमण कर रहा है और परमात्मा पूर्ण शुद्ध और वीतराग हो गया है। जो जीव राग-द्वेष का त्याग करके अपनी आत्मा का ध्यान करते हैं वे परमात्मा बन जाते हैं।

आत्मा और परमात्मा का स्वरूप समझाते हुए कवि ने, परमात्मा एक ही है, वह संसार में आकर पुनः जन्म धारण करता है, इत्यादि भ्रान्तियों का भी सुन्दर ढंग से निवारण किया है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित स्थल देखिए, जिसमें अनेक उदाहरणों के द्वारा यह समझाया जा रहा है कि सांसारिक जीव तो सिद्ध (मुक्त) हो जाते हैं, किन्तु जो जीव एक बार सिद्ध हो चुके हैं वे पुनः संसार में कभी नहीं आतेः—

"बहुरि न आवै सोय, कबहू काहू वेस में।
परमानंदी होय, सो न जनम धर धरनि में।।
संसारी तैं सिद्ध, सिद्धन को संसार नहिं।
सुनि दिष्टांत प्रसिद्ध, धारहु निश्चल चित महीं।।
दूध थकी है घीव, घीव न होय कदापि पय।
जाव थकी है पीव, पीव न है जगजाल महि।।
तंदुल सालि थकाहि, तंदुल हूआ साल नहिं।
जन होवै जिन थीह, जिन हूआ नहिं जनन महि।।

---

1. चतुर-चितारणी, छन्द 2

दल तैं धात ज होय, धात हुआ नहिं दल सदा।
भव तैं सिव है सोय, सिव हूआ नहिं भव वसा।।
तिल तैं तेल जु होय, तेल हुआ फिर तिल नहीं।
समल विमल है सोय, विमल हुआ नहिं मलिन ही।।
ईख थकी रस होय, रस हुआ फिरि ईख कित।
हम ही महरि होय, हरि हूवां फिर नांहि इत।।
कांचै तैं परिपक्क, पाको काचौ है नहीं।
या माहै नहिं सक्क, मुक्ति थकी नहीं भवभही।।[1]"

काव्यात्मकता की दृष्टि से भी 'चतुर-चितारणी' एक उत्कृष्ट रचना है। भावात्मकता, काल्पनिकता, बिम्बात्मकता, रूपकात्मकता आदि अनेक काव्य-विशेषताओं का इसमें अनेक स्थलों पर सुन्दर समावेश हुआ है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित छन्द देखिएः—

"निरमद निरमल नाम, रांम विरांम अनांम है।
ध्यावै रिषि निहकांम, परमानंद सुधाम है।।
परम पुनीत पुरांण, पुरुषोतम परवीण पति।
परम ब्रह्म जगभांण, परिपूरण द्युति अगम मति।[2]"

'चतुर-चितारणी' की भाषा अत्यन्त सजीव और प्रवाहपूर्ण ब्रजभाषा है। पाठक को बाँधे रखने की उसमें अद्‌भुत क्षमता है। सरल भी इतनी है कि कोई साधारण पाठक भी उसे आसानी से समझ सकता है। उदाहरणार्थ निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :—

"जे निज आतम ध्याय, भये सिद्ध परमात्मा।
ते त्रिभुवन के राय, है जिनराय जितातमा।।
हम सेवक जिन सेय, इह व्यवहार परूपणां।
आपहि ध्याता ध्येय, निश्चै येह निरूपणां॥[3]"

---

1. चतुर-चितारणी, छन्द 140 से 147
2. वही, छन्द-संख्या क्रमशः 48-49
3. वही, छन्द 16—17

अलंकारों का सहज प्रयोग भी 'चतुर-चितारणी' की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता है, क्योंकि उस युग में कविता को बलात् अलंकारों से बोझिल बनाने की प्रथा चल रही थी। प्रयुक्त अलंकारों में अनुप्रास, लाटानुप्रास, उपमा, रूपक, दृष्टान्त, विरोधाभास आदि प्रमुख हैं।

'चतुर–चितारणी' का प्रकाशन अभी तक कहीं से नहीं हुआ है। इसकी केवल एक हस्तलिखित प्रति श्री दि० जैन मन्दिर,धर्मपुरा,दिल्ली के ग्रन्थ-भण्डार में प्राप्त होती है।

2.3.2.6. सार-समुच्चयः—

जैन-साहित्य में पं० दौलतराम कासलीवाल से पूर्व भी दो 'सार–समुच्चय' प्राप्त होते हैं:—

1.एक की रचना वि० सं० 1317 में आचार्य माघनन्दि ने की थी। यह ग्रन्थ सूत्रात्मक शैली में लिखा हुआ है जिसमें जैनदर्शन के विविध विषयों को 66 सूत्रों में विभक्त किया गया है। इस ग्रन्थ के सूत्र प्रायः इस प्रकार के हैं:—

"अथ त्रिविधः कालः ।।1 ।। *चतुर्दश कुलकराः ।।2 ।।*

षोडशभावनाः ।।3 ।। *चतुर्विंशति तीर्थंकराः ।।4 ।।"*

2. दूसरे 'सार-समुच्चय' की रचना विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में आचार्य कुलभद्र ने की थी। इस ग्रन्थ में 328 संस्कृत-श्लोक हैं। इसका विषय मुख्य रूप से धर्म और अध्यात्म है, जिसमें इन्द्रिय-भोगों की असारता, वैराग्य की आवश्यकता, सदाचार की महत्ता, उत्तम साधु का स्वरूप, धन की असारता, संतोष की महिमा, आत्मध्यान का उपाय आदि विषयों का सुन्दर वर्णन किया गया है।

किन्तु पं० दौलतराम का यह 'सार-समुच्चय' उक्त दोनों से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। यह न तो उनमें से किसी का अनुवाद है और न ही इसे उनमें से किसी का आधार ग्रहण करके लिखा गया है। यह तो पं० दौलतराम की एक नितान्त मौलिक कृति है जिसकी रचना उन्होंने स्वतन्त्र रूप से की है। यह 'चौबीस-दण्डक' और 'चतुर-चितारणी' की भाँति एक ऐसी लघु-कृति है जिसमें एक ही धारा-प्रवाह से 103 दोहे लिखे गये हैं।

पं० दौलतराम कासलीवाल ने 'सार-समुच्चय' की रचना कब, कहाँ और किसकी प्रेरणा से की— इस विषय में निश्चित रूप से कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती, क्योंकि इस कृति में भी कवि-लिखित विस्तृत ग्रन्थ-प्रशस्ति नहीं है।

---

1. शास्त्र सार-समुच्चय, सूत्र-संख्या क्रमशः 1,5,6,7

प्रस्तुत कृति का नाम तो निर्विवाद रूप से 'सार-समुच्चय' ही है। यथा:—

"सार समुच्चै यह कह्यो, गुर आज्ञा परवांन।
आनन्द सुत दौलति नै, भजि करि श्री भगवान।।"

'सार-समुच्चय' का मुख्य विषय अध्यात्म है, क्योंकि उसमें आत्मा के स्वभाव एवं विभाव का और आध्यात्मिक जीवन की श्रेष्ठता का वर्णन किया गया है।

'सार-समुच्चय' में प्रारम्भ से अन्त तक एक रूपात्मक कथा भी प्राप्त होती है कि एक बार जीवात्मा ने अपने सद्गुरू से भवसागर से पार उतरने का उपाय पूछा। गुरु ने बताया कि मोह की सुता माया ही भवसागर से पार उतरने में सबसे बड़ी बाधा है,अतः उस पर विजय प्राप्त करो। कुमित्रों की आज्ञा मत मानो और ज्ञान को अपना प्रधानमंत्री बनाओ, सुबद्धि को अपनी पत्नी बनाओ, विवेक को पुरोहित और अपनी आत्मशक्ति को ही सेनापति नियुक्त करो। इसी से तुम्हें भवसागर से मुक्ति मिल सकती है।

'सार-समुच्चय' की भाषा सरल, सजीव एवं प्रवाहपूर्ण ब्रज भाषा है। भाव एवं भाषा के परिचयार्थ निम्नलिखित छन्द द्रष्टव्य हैं:—

"धेनु नहीं सुरधेनु सी, रस अमृत सो नांहि।
उदधि न क्षीरोदधि जिसे, पंडित लोक कहांहि।।
ऐरावत से गज नहीं, सुरपुर से पुर नांहि।
वन नहिं सुरवन सारिखो, क्रीड़ा रूप लखाहि।।"

कृति का प्रकाशन अभी तक कहीं से नहीं हुआ है। इसकी एक हस्तलिखित प्राचीन प्रति श्री दि. जैन मन्दिर बधीचन्दजी का, घीवालों का रास्ता, जौहरी बाजार, जयपुर, राजस्थान के ग्रन्थ-भण्डार में प्राप्त होती है।

2.3.2.7. सिद्धपूजाष्टक :—

'सिद्धपूजाष्टक' भी पं० दौलतराम कासलीवाल की एक अत्यन्त लघु कृति है, जिसमें केवल 12 दोहा छन्द हैं।

---

1. सार-समुच्चय, दोहा 104
2. वही, दोहा 87–88

इसकी रचना कवि ने कब और क्यों की– यह ज्ञात नहीं होता है, क्योंकि इसमें भी अन्तिम ग्रन्थ-प्रशस्ति नहीं है।

वैसे इसमें ग्रन्थ-प्रशस्ति नहीं होने का कारण यह भी हो सकता है कि कवि की यह कृति सिद्ध परमात्मा की पूजा के रूप मेंहैजो एक भक्त की स्वतःस्फूर्त प्रेरणा से लिखी गई प्रतीत होती है। सामान्य जनता को शिक्षा देना इस कृति का प्रत्यक्ष या प्रधान उद्देश्य नहीं प्रतीत होता।

'सिद्धपूजाष्टक' में पं० दौलतराम ने सिद्ध परमात्मा की जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवैद्य, दीप, धूप एवं फल इन अष्ट द्रव्यों से पूजा की है; अतः यह कृति पूजन-साहित्य के अन्तर्गत आती है।

जैन-साहित्य में पूजाएँ लिखने की परम्परा प्राचीन काल से तो नहीं प्राप्त होती, परन्तु मध्यकालीन हिन्दी-जैन-साहित्य में सैंकड़ों पूजाएँ लिखी गई हैं। जैन-पूजनकारों में द्यानतराय, रामचन्द्र, वृन्दावनदास आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'सिद्धपूजाष्टक' पं० दौलतराम कासलीवाल की इसी परम्परा की एक सामान्य रचना है। हमने इस कृति को विचारकाव्यों की कोटि में इसलिए रखा है, क्योंकि इसमें कवि के भक्ति-विषयक विचारों का प्रकाशन हुआ है।

'सिद्धपूजाष्टक' की भाषा सामान्य ब्रज भाषा है। उदाहरणस्वरूप निम्नलिखित दो छन्द द्रष्टव्य हैं:—

"अरघ करौ उछाह सौं, नमौं आठों अंग निवाय।
आनन्द दौलतराम कौ, प्रभु भौ भौ होइ सहाय।।
च्यार ज्ञानधर नहिं देखै, हम देखै सरधावंत।
जांनै मानै अनुभवै, तुम राखौ पास महंत।।"[1]

'सिद्धपूजाष्टक' का प्रकाशन अभी तक कहीं से नहीं हुआ है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति श्री दिगम्बर जैन बड़ा मन्दिर तेरा पंथियान, घी वालों का रास्ता, जयपुर में प्राप्त होती है।

2.3.3. गद्य-विधाएँ :–

पं० दौलतराम ने कुल 10 गद्य-रचनाओं का निर्माण किया है, किन्तु उनमें से एक भी रचना उनकी पूर्णतः मौलिक रचना नहीं है। वे सभी किसी-न-किसी प्राचीन संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश भाषा के जैन-ग्रन्थों पर आधारित हैं, उनका ही भाषानुवाद या टीकाएँ हैं। अतः पं० दौलतराम की सम्पूर्ण गद्य-रचनाओं को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है:—

---

1. सिद्धपूजाष्टक, छन्द 11–12

1. अनुवादात्मक गद्य-रचनाएँ,

2. टीकात्मक गद्य-रचनाएँ।

2.3.3.1. अनुवादात्मक गद्य-रचनाएँ:—

पं० दौलतराम की निम्नलिखित 5 रचनाएँ अनुवादात्मक गद्य-रचनाएँ हैं:—

1. पुण्यास्रवकथाकोश-भाषा,
2. पद्मपुराण-वचनिका,
3. आदिपुराण-वचनिका,
4. हरिवंशपुराण-वचनिका,
5. परमात्मप्रकाश-वचनिका।

इनमें से 'पुण्यास्रवकथाकोश-भाषा' को छोड़कर शेष चार रचनाएँ विशालकाय हैं। इतनी विशालकाय कि वर्तमान-पद्धति में उनका कुल परिमाण 18X24सेमी आकार के लगभग 4000 पृष्ठ होता है। पहले ग्रन्थों का परिमाण श्लोक-संख्या में बताया जाता था, अतः अन्तिम ग्रन्थ-प्रशस्तियों में इन रचनाओं का परिमाण भी श्लोकों की दृष्टि से ही बताया गया है। तदनुसार इन चारों रचनाओं का परिमाण क्रमशः 21000, 24000, 19000 एवं 6890 श्लोकप्रमाण है। 'पुण्यास्रवकथाकोश-भाषा' भी कोई लघु रचना नहीं है, पर उक्त चारों से अपेक्षाकृत लघु है। उसका परिमाण भी लगभग २००पृष्ठ है। विषय-वस्तु की दृष्टि की प्रथम चार रचनाएँ कथात्मक हैं और चतुर्थ रचना पूर्णतः आध्यात्मिक है। कथात्मक रचनाओं में पद्मपुराण, आदिपुराण और हरिवंशपुराण की वचनिकाएँ सम्पूर्ण जैन कथा-साहित्य को अपने में समाविष्ट करनेवाली रचनाएँ हैं; क्योंकि इनके आधारग्रन्थ(पद्मपुराण आदिपुराण और हरिवंशपुराण)सम्पूर्ण जैन-कथा-साहित्य के प्रधान और प्राचीन उपजीव्य हैं। जैन कथा-साहित्य में इन ग्रन्थों का वही महत्त्व है जो संस्कृत-साहित्य में रामायण और महाभारत का माना जाता है।

अनुवाद की पद्धति सभी रचनाओं में एक-सी ही है, जो इस बात को सिद्ध करती है कि लेखक अनुवाद-कला में सिद्धहस्त है। इन रचनाओं को पढ़ते समय पाठक को लगता ही नहीं कि वह कोई अनूदित ग्रन्थ पढ़ रहा है, अपितु उसे इनके अध्ययन में मौलिक कृति का सा आनन्द प्राप्त होता है। यही कारण है कि ये रचनाएँ पाठकों में सर्वाधिक लोकप्रिय हुईं। देश के हर कोने में इनकी प्रतियाँ आसानी से उपलब्ध हो जाती हैं। और वह भी एक-एक शास्त्र-भंडार में अनेक-अनेक। इससे यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि लोगों ने इनके अनुवाद को कितना अपनाया था। इन रचनाओं में लेखक ने मूल काव्यग्रन्थों का अनुवाद तो किया ही है, स्थान-स्थान पर सारग्राही भावार्थ भी लिखे हैं, जिनसे सम्बन्धित विषय बहुत स्पष्ट होता जाता है।

पाँचों गद्य-रचनाओं का पृथक्-पृथक् परिचय इस प्रकार है:-

2.3.3.1.1. पुण्यास्रवकथाकोश-भाषाः—

यह पं० दौलतराम कासलीवाल की सबसे पहली रचना है जिसे उन्होंने आगरा में भाद्रपद कृष्णा पंचमी, शुक्रवार, वि० सं० 1777 को पूर्ण किया था; जैसा कि इसकी अन्तिम प्रशस्ति से ज्ञात होता है:—

"संवत् सत्रह सै विख्यात। ता परि धरि सत्तरि अरु सात॥
भादव मास कृष्ण पक्ष आंनि। तिथि पांचै परवी परवांनि।।
रविसुत को पहलो दिन जोय। अरु सु गुरु के पीछे होय॥
वार यहै गनि लीज्यौ सही। ता दिन ग्रंथ समापत लही।।"

यह रचना मुमुक्षु रामचन्द्र (अनुमानतः विक्रम की 12 वीं शती) द्वारा रचित संस्कृत-ग्रन्थ 'पुण्यास्रवकथाकोश' का भाषानुवाद है। पं० दौलतराम ने स्पष्टतः स्वीकार किया है कि उन्होंने इसे भाषा में भी ठीक उसीप्रकार लिखा है, जिसप्रकार कि संस्कृत में लिखा हुआ है; अपनी ओर से उन्होंने इसमें कहीं कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया है। यथाः—

"जैसौ कियौ संस्कृत मांहि, तैसौं भाषा मांहि लखाय।[2]"

यद्यपि यह पं० दौलतराम की प्रथम रचना है और वह भी उस युगकी , जिसमें हिन्दी-गद्य अपनी अत्यन्त आरंभिक अवस्था में था, तथापि इसका अनुवाद इतना समर्थ और प्रामाणिक है कि आधुनिक अनुवादकों ने भी उससे सहायता ली है। प्रमाणस्वरूप 'पुण्यास्रवकथाकोश' के आधुनिक अनुवादक पं० नाथूराम प्रेमी का यह कथन द्रष्टव्य है:—

"जहाँ आवश्यकता हुई है, भाषावचनिका (पं० दौलतराम कृत) की भी सहायता ली है। वचनिकाकार के इस विषय में हम बहुत कृतज्ञ हैं कि उनकी टीका से अनेक संशयपूर्ण स्थान साफ हो गये हैं।[3]"

'पुण्यास्रवकथाकोश-भाषा' के निर्माण की कहानी अन्तिम ग्रन्थ-प्रशस्ति में इसप्रकार बताई गई है—

---

1. पुण्यास्रवकथाकोश-भाषा, अन्तिम ग्रन्थ-प्रशस्ति, छन्द 25–26
2. वही, अन्तिम ग्रन्थ-प्रशस्ति, छन्द 3
3. वही (नाथूराम प्रेमी), भूमिका, पृष्ठ 4

"युवावस्था के प्रारम्भ में दौलतराम को किसी कार्यवश आगरा जाने का अवसर प्राप्त हुआ। आगरा जाने पर ये वहाँ चलने वाली 'अध्यातम सैली' में भी गये।भूधरदास, हेमराज आदि विद्वान उस 'अध्यातम सैली' के प्रमुख सदस्य थे, जो प्रतिदिन मिलकर एकसाथ धर्मचर्चा किया करते थे। इसी 'अध्यातम सैली' में दौलतराम ने मुमुक्षु रामचन्द्र के संस्कृत-ग्रंथ'पुण्यास्रवकथाकोश' का अध्ययन किया। पं० दौलतराम को इसे पढ़कर बड़ा आनन्द आया और उनकी भावना हुई कि यदि इसका भाषानुवाद हो जाये तो सामान्य जनता का बड़ा उपकार हो।[1]"

'पुण्यास्रवकथाकोश' में कुल 6 अधिकार हैं:—

1. जिनपूजाफलवर्णनाष्टक,
2. पंचनमस्कारमंत्रफलाष्टक,
3. श्रुतश्रवणफलाष्टक,
4. शीलफलाष्टक,
5. उपवासफलाष्टक,
6. दानफलाष्टक।

इनमें अन्तिम अधिकार 'दानफलाष्टक' में 16 कथाएँ हैं। शेष सभी अधिकारों में आठ-आठ कथाएँ हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ में कुल 56 कथाएँ हैं। ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति में भी इसका उल्लेख किया गया है:-

"षट् अधिकार परम उत्कृष्ट, छप्पन कथा मध्य है मिष्ट।[2]"

जिनपूजाफलवर्णनाष्टक में मेढ़क, वरदत्त चक्रवर्ती, रत्नशेखर चक्रवर्ती, धनदत्त ग्वाला, वज्रदत्त चक्रवर्ती, श्रेणिक आदि की 8 कथाओं के माध्यम से जिनेन्द्रदेव की पूजा की प्रेरणा दी गई है। पंचनमस्कारमंत्रफलाष्टक में राजा सुग्रीव, सुप्रतिष्ठ केवली, दृढ़सूर्य चोर, सुभग ग्वाला की 8 कथाओं के माध्यम से णमोकार मंत्र की महिमा बताकर उसकी आराधना की प्रेरणा दी गई है। श्रुतश्रवणफलाष्टक में बाली, भामण्डल, यम मुनि, सूर्यमित्र व चाण्डाल-पुत्री, भीमकेवली, चाण्डाल व कुतिया की 8 कथाओं के माध्यम से शास्त्र-श्रवण का फल बताकर शास्त्राभ्यास की प्रेरणा दी गई है। शीलफलाष्टक में मेघेश्वर, कुबेरप्रिय, सीता, प्रभावती, नीलीबाई, चाण्डाल आदि की 8 कथाओं के माध्यम से व्रत, शील, संयम का अपूर्व फल बताकर उन्हें धारण करने की प्रेरणा दी गई है। उपवासफलाष्टक में नागकामदेव, भविष्यदत्त, अशोकरोहिणी, अर्जुन चण्डाल आदि की 8 कथाओं के माध्यम से उपवास का फल बताकर उसकी प्रेरणा दी गई है। दानफलाष्टक में राजा श्रीषेण, जयकुमार-सुलोचना, वज्रजंघ, सुकेत श्रेष्ठी, आरम्भक ब्राह्मण, नल-नील, लव-कुश, धारण राजा, भामण्डल, गान्धारी, गौरी, पद्मावती, धनकुमार,

---

1. पुण्यास्रवकथाकोश-भाषा, अन्तिम ग्रन्थ-प्रशस्ति, छन्द 11-13
1. वही, वही, छन्द 1

अग्निला ब्राह्मण आदि की 16 कथाओं के माध्यम से दान की महिमा बताकर उसकी प्रेरणा दी गई है। इसप्रकार ग्रथ की सभी कथाएँ शिक्षाप्रद हैं।

सभी कथाओं के अन्त में इसप्रकार का प्रेरणावाक्य अवश्य पाया जाता है कि—

"देखो भाई मींढक अज्ञानी, पूजा का परिणामां सौं देव हुवो। सम्यकदिस्टी भाव सहित अष्टद्रव्य सौं पूजा करै सौ कांई इन्द्रादिक पद नै पाय निर्वाण न पहुंचिसी? अैसौ जान प्रभु की पूजा विधिपूर्वक करिवो योग्य है।[1]"

"ई भांति तुच्छ है विवेक जिह मैं स्त्री बाला सो भी शील का प्रभाव करि देव पूज्य हो राज्यपूज हुई और कोई शील पालै सो पूज्यपद क्यों न पावै? ऐसौं जाणि हिरदै आनि मदन भानि शीलि पालिवौ योग्य है।[2]"

इसप्रकार ये कथाएँ प्राथमिक जीवों को धर्ममार्ग में लगाने के उद्देश्य से लिखी गई हैं। इनकी शैली नितान्त सरल-सुबोध है। अपनी सरलता और सरसता के कारण ये कथाएँ जनमानस में बहुत लोकप्रिय हैं। सम्पूर्ण देश के कोने-कोने में इस ग्रन्थ की प्रतियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

'पुण्यास्रवकथाकोश-भाषा' की कथाओं में अनेक कथाभिप्रायों का भी प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। यथा— विलीन होते मेघ, श्वेत केश या बिजली की चमक देखकर अथवा जैन-मुनि के मुख से अपने पूर्वभव और धर्मोदेश सुनकर नायक का संसार से विरक्त होना, पूर्वजन्म के पाप-पुण्य को उत्तरजन्म में भोगना, मरणासन्न पशु-पक्षी का णमोकार मंत्र सुनकर स्वर्ग में जाना, स्वप्नों द्वारा शुभाशुभ भविष्य का संकेत, इत्यादि।

ग्रन्थ की भाषा यद्यपि राजस्थानी से अत्यधिक प्रभावित है और उसमें कहीं-कहीं सिताब, दिलगीर आदि उर्दू भाषा के बहुप्रचलित शब्दों का भी प्रयोग हुआ है, तथापि वह खड़ी बोली हिन्दी के ही अधिक समीप है। डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल भी लिखते हैं कि "यद्यपि कवि के राजस्थान-निवासी होने से इस पर ढूँढारी भाषा का भी कुछ प्रभाव है तथा कहीं-कहीं ब्रजभाषा का भी प्रयोग हुआ है, फिर भी 'कथाकोश' को हम खड़ी बोली की ही कृति कहेंगे।[3]"

ग्रन्थ की निम्नलिखित पंक्तियाँ भाषा-परिज्ञान हेतु द्रष्टव्य हैं—

"श्री रामजी रावण नै जीति अयोध्या सीता नै ले आया। तब भरतजी नै कही— जो राज्य, देश थाने चाहिजै सौ ल्यौ, यौ सर्व राज्य थाको है, अब कोई कंटक रह्यो नहीं। भरतजी ने कही—

1. पुण्यास्रवकथाकोश-भाषा, पृष्ठ 4
2 वही, पृष्ठ 132
3 महाकवि दौलतराम कासलीवाल— व्यक्तित्व एवं कृतित्व, प्रस्तावना, पृष्ठ 70

जो राज्य त्रैलोक्य शिखर शिवपुर को राज्य चाहाँ छा। राघौ कही– कैताक दिन राज्य करौ। पाछे म्हा का साथि तप करीजो। भरत कही– दोय बार आगै अन्तराय हुवो, तीसौं अब शत्रु मोह कौ नासि करि अविनासी राज्य करिस्यां। ऐसा वचन कहि वैराग्य निमित्त उद्याहि।।[1]"

'पुण्यास्रवकथाकोश-भाषा' का यथावत् प्रकाशन अभी तक कहीं से नहीं हुआ है, किन्तु नाथूराम प्रेमी के भाषान्तर के साथ यह बम्बई से प्रकाशित हुआ है। हस्तलिखित प्रतियाँ तो देश के कोने-कोने में प्राप्त होती ही हैं।

2.3.3.1.2. पद्मपुराण-वचनिका:—

यह पण्डित दौलतराम कासलीवाल की एक प्रतिनिधि गद्य रचना है। इसका उल्लेख आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि सर्व हिन्दी-साहित्येतिहासकारों ने खड़ी बोली हिन्दी-गद्य के विकास के प्रसंग में किया है। खड़ी बोली हिन्दी के परिमार्जित गद्य की यह पहली कृति है।

ग्रंथ-प्रशस्ति की निम्न पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि इसकी रचना पण्डितजी ने जयपुर नगर में माघ शुक्ला नवमी, शनिवार, वि० सं० 1823 को पूर्ण की थी:—

"नगर सवाई जयपुर महा। ताकी उपमा जाय न कहा।।
सम्वत अष्टादश शत जान। ता ऊपर तेईस बखान।।
शुक्ल पक्ष नवमी शनिवार। माघ मास रोहिणि ऋख सार।।
ता दिन सम्पूरन भयो, यहै ग्रन्थ सुखदाय।
चतुरसंघ मंगल करो, बढ़े धर्म जिनराय।[2]"

'पद्मपुराण-वचनिका' की रचना पण्डित दौलतराम ने अपने मित्र ब्र० रायमल्ल की इस प्रेरणा से प्रेरित होकर की कि आचार्य रविषेण-कृत 'पद्मपुराण' महाशुभ और मोक्षमार्ग का प्रकाश करनेवाला ग्रन्थ है, किन्तु संस्कृत में होने के कारण वर्तमान में इसका लाभ अधिक लोग नहीं उठा सकते, अतः यदि हिन्दी में इसकी वचनिका हो जाय तो बहुत लोग इससे लाभान्वित हो सकते हैं। ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति में पण्डितजी ने इन सब बातों का स्पष्ट उल्लेख किया है। यथा:—

"रायमल्ल साधर्मी एक । जाके घट में स्व-पर विवेक।।
दयावंत गुणवंत सुजान। पर उपकारी परमनिधान।।
दौलतराम सु ताको मित्र। तासों भाष्यो वचन पवित्र।।

1. पुण्यास्रवकथाकोश-भाषा, पृष्ठ 4
2. पद्मपुराण-वचनिका, अन्तिम ग्रन्थ–प्रशस्ति, छन्द 2,10,11

पद्मपुराण महाशुभ ग्रन्थ। तामें लोकशिखर को पन्थ।।
भाषारूप होय जो येह। बहुजन बांच करैं अति नेह।।
ताके वचन हिये में धार। भाषा कीनी मति अनुसार।।[1]"

पं० दौलतराम की यह गद्य-रचना आचार्य रविषेण द्वारा वि० सं० 734 में विरचित 'पद्मचरितम्' नामक विशाल संस्कृत-ग्रन्थ की 'भाषावचनिका' है। आचार्य रविषेण के 'पद्मपुराण' में कुल 18023 श्लोक हैं जो 123 पर्वों (अध्यायों) में विभाजित हैं।

'पद्मपुराण' की इस संपूर्ण वचनिका का परिमाण कवि ने अन्तिम ग्रन्थ-प्रशस्ति के अन्तिम छन्द में 21000 श्लोक-प्रमाण बताया है:—

"या श्री रामपुराण के, छन्द अनूपम जान।
सहस बीस द्वय पाँच सौ, भाषा ग्रन्थ प्रमान।।[2]"

अपने आधारभूत ग्रन्थ 'पद्मचरितम्' की भाँति 'पद्मपुराण-वचनिका' भी 123 पर्वों में विभाजित है। पहले पर्व में वचनिकाकार ने अपनी ओर से भी 45 दोहों में एक विस्तृत मंगलाचरण किया है जिसमें त्रिकालवर्ती चौबीस तीर्थंकर, विदेहक्षेत्र के विद्यमान बीस तीर्थंकर, शुद्ध आत्मस्वभाव, यथाख्यात चारित्र, धर्म-शुक्ल ध्यान, बारह भावना, सोलहकारण भावना, दश धर्म, तीर्थक्षेत्र, भद्रबाहु-कुन्दकुन्द-अमृतचन्द्र-योगीन्दुदेव-रविषेण आदि आचार्य और उनके द्वारा प्रणीत आगम-अध्यात्ममय शास्त्र इत्यादि को प्रणाम करके रविषेणाचार्य—कृत 'पद्मचरितम्' की आगमानुकूल वचनिका करने की प्रतिज्ञा की है।

तदनन्तर शेष 122 पर्वों में अति विस्तार के साथ रामकथा का वर्णन किया गया है, जो पूर्णतः जैनमान्यतानुसार है। 'पद्म' भगवान राम का अपर नाम है, इसलिए इसे जैन-रामायण भी कह देते हैं। प्रायः प्रत्येक पर्व के अन्त में लेखक ने अपने पाठकों को सिद्धान्तबोध कराते हुए सत्प्रेरणा दी है। उदाहरणार्थः—

"गौतमस्वामी राजा श्रेणिक सूं कहै हैं— हे राजन्! पुण्य के प्रभाव करि मोटे पुरुषनि के बैरी भी अपने मित्र होय हैं, अर पुण्यहीनों के चिरकाल के सेवक अर अतिविश्वास के भाजन ते भी विनाशकाल में शत्रुरूप होय परणवै हैं। या असार संसार विषै जीवनि की विचित्र गति जानकर यह चिंतवन करना है कि मेरे भाई सदा सुखदाई नाहीं, तथा मित्र बांधव सब ही सुखदाई नाहीं। कबहु मित्र शत्रु हो

1. पद्मपुराण-वचनिका, अन्तिम ग्रन्थ—प्रशस्ति, छन्द 4,5,6,7.
2. वही, वही, छन्द 12

जाय, कबहु शत्रु मित्र हो जाय। ऐसे विवेकरूप सूर्य के उदय से उरविषै प्रकाशकर बुद्धिवंतों को सदा धर्म ही चिंतवना।[1]"

ग्रन्थ के अन्त में भी लेखक अपने पाठकों को हार्दिक प्रेरणा देता हुआ लिखता है कि—

"यह राम का पुराण सम्यग्दर्शन की सिद्धि का कारण, महाकल्याण का कर्ता निर्मल ज्ञान का दायक, विचक्षण जीवों के निरंतर सुनिवे योग्य है। ———— जो यामै बुद्धि लगावे तो अकल्याणरूप पापों कूं तजकरि शिव कहिये मुक्ति उसे अपनी करै। जीव विषय की वांछा करि अकल्याण को प्राप्त होय हैं। विषयाभिलाष कदाचित् शांति के अर्थ नाहीं। देखो विद्याधरनि का अधिपति रावण परस्त्री की अभिलाषा करि कष्टकूं प्राप्त भया, काम के रोगकरि हता गया। ऐसे पुरुषों की यह दशा है तो और प्राणी विषय-वासनाकरि कैसे सुख पावैं ? ———— अर श्री रामचन्द्र महा शीलवान, परदारा-पराङ्मुख, जिनशासन के भक्त, धर्मानुरागी वे बहुत काल राज्य भोगि, संसार कूं असार जानि वीतराग के मार्ग में प्रवर्ते परमपद कूं प्राप्त भए। और भी जे वीतराग के मार्ग में प्रवर्तेंगे वे शिवपुर पहुँचेंगे।———— यह प्राणी धर्म के फलकरि स्वर्ग मोक्ष के सुख पावैं हैं, अर पाप के फलसूं नरक निगोद के फल पावै हैं यह निसंदेह जानो। ———— अहो प्राणी हो! सुखदाता शुभ है अर दुखदाता अशुभ है। दारिद्र दुःख रोग पीड़ा अपमान दुर्गति यह सब अशुभ के उदयसूं होय हैं। अर सुख सम्पत्ति सुगति यह सब शुभ के उदय सूं होय है। शुभ अशुभ ही सुख दुःख के कारण हैं अर कोई देव दानव मानव सुख दुख का दाता नाहीं। अपने अपने उपजे कर्म का फल सब भोगवे हैं। सब जीवों सूं मित्रता करना, किसी से वैर न करना, किसी को दुख न देना, सब ही सुखी हों, यह भावना मन में धरनी, प्रथम अशुभ को तज शुभ में आवना, बहुरि शुभाशुभतैं रहित होय शुद्ध पदकूं प्राप्त होना।[2]"

इस रचना की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें जैन तत्त्वज्ञान कूट-कूटकर, भरा हुआ है। इसके लिए लेखक को जहाँ भी अवसर मिला है, उसने उसका पूरा उपयोग किया है। यहाँ तक कि उदाहरणों में भी जैन-सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं:—

1. "तब आप रघुनाथ लक्ष्मण के मुख में ग्रास देवें सो न ग्रसे, जैसे अभव्य जिनराज का उपदेश न ग्रहैं।[3]"

---

1. पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 591
2. वही, पृष्ठ 928 से 930
3. वही, पृष्ठ 903

2. "जैसे यति राग परणतिकूं तजैं तैसैं राम ने तुमकूं तजी है।[1]"

3. "कोई धर्म की बुद्धिकूं तजै तैसैं वह सीता कूं वनविषैं तजकर अयोध्याकूं सन्मुख भया।[2]"

दूसरी विशेषता यह है कि यह एक ऐसा विशालकाय महाकाव्य है जिसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सबका वर्णन है[3], हर्ष-विषाद-शोक-पश्चात्ताप- ज्ञान-वैराग्य आदि नाना मनोभावों का भी सुन्दर वर्णन है, प्रकृति के सुरम्य स्थलों का भी हृदयहारी वर्णन है।

तीसरी विशेषता यह है कि इसमें अन्य अनेक रामायणों की भाँति राम की जन्म से राज्याभिषेक तक की ही कथा नहीं है, अपितु उनके अनेक पूर्वजन्मों से लेकर निर्वाण-गमन तक की सम्पूर्ण कथा है। राम के साथ-साथ रावण, लक्ष्मण, दशरथ, सीता आदि प्रायः सभी पात्रों की अनेक पूर्वोत्तर जन्मों की कथा इसमें वर्णित है।

चौथी विशेषता यह है कि इसमें रावण, हनुमान, कुम्भकर्ण आदि पात्रों का चरित्र परंपरा से हटकर चित्रित किया गया है। इसमें रावण को दशमुखवाला एवं अत्याचारी राक्षस नहीं बताया गया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही ग्रन्थकार ने राजा श्रेणिक के मुख से कहलवाया है कि—

"लौकिक ग्रन्थों में रावणादिक को मांसभक्षी राक्षस कहा है, परन्तु वे विद्याधर महाकुलवंत कैसे मद्य-मांस-रुधिरादिक का भक्षण करैं ? अर रावण के भाई कुम्भकरण को कहै है कि वह छै महीने की निद्रा लेता था। अर उसके ऊपर हाथी फेरते अर तातें तेल से कान पूरते तो भी छह महीना से पहले नहीं जागता, तब ऐसी भूख-प्यास लगती कि अनेक हस्ती महिषी आदि तिर्यंच अर मनुष्यों को भक्षण कर जाता था। अर राधि रुधिर का पान करता तौ भी तृप्ति नहीं होती थी। अर सुग्रीव हनुमानादिक को वानर कहै हैं, परन्तु वे तो बड़े राजा विद्याधर थे, बड़े पुरुष को विपरीत कहने में महापाप का बंध होता है।[4]"

इसकी भाषा परिमार्जित खड़ी बोली हिन्दी है। प्रवाह की दृष्टि से इस रचना की भाषा बहुत सुन्दर है। पाठक को लगता नहीं कि वह कोई अनूदित ग्रन्थ पढ़ रहा है अपितु उसे मौलिक कृति को पढ़ने जैसा ही आनन्द प्राप्त होता है। यह इसकी प्रवाहपूर्ण भाषा का ही कमाल है।

'पद्मपुराण' में वर्णन करने की शैली बहुत अनूठी और विकसित है। खूब वर्णन करने के उपरान्त कवि लिखते हैं कि हमारी सामर्थ्य नहीं जो इनका वर्णन कर सकें। नाभिराय की पत्नी मरुदेवी के

1. पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 771
2. वही, पृष्ठ 773
3. वही, पृष्ठ 931
4. वही, पृष्ठ 29

सौन्दर्य-वर्णन के अन्त में कवि लिखते हैं– "मरुदेवी राणी के यश का वर्णन सैकड़ों ग्रन्थों में भी न हो सकै तो थोड़े से श्लोकों में कैसे होय?[1]"

कथा-निरूपण हेतु लेखक ने वक्ता-श्रोता शैली का आश्रय लिया है जो अनेक प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त होती है। प्रस्तुत राम-कथा के वक्ता गौतमस्वामी हैं और श्रोता राजा श्रेणिक। वक्ता और श्रोता दोनों ही उत्कृष्ट कोटि के हैं। राजा श्रेणिक बड़े ही उत्साह, रुचि और जिज्ञासा के साथ कथा श्रवण कर रहे हैं।एक स्थल पर वे गौतम स्वामी से कहते भी हैं कि– "मैं तुम्हारे वचनरूप अमृत पीवता पीवता तृप्त नाहीं, जैसे लोभी जीव धनसूं तृप्त नाहीं।[2]"

'पद्मपुराण-वचनिका' जैन समाज में अत्यधिक लोकप्रिय रचना है, अतः इसकी प्रतियाँ भारतवर्ष के प्रत्येक कोने में आसानी से उपलब्ध हो जाती हैं। जैन मन्दिर तो शायद ही कोई ऐसा हो जहाँ इसकी दो-चार प्रतियाँ न उपलब्ध हों। कई शास्त्र-भण्डारों में तो इसकी दस-दस प्रतियाँ तक प्राप्त होती हैं। अनेक संस्थाओं द्वारा अनेक बार यह रचना प्रकाशित भी हो चुकी है।

2.3.3.2.2. आदिपुराण-भाषावचनिकाः–

विक्रम की नौवीं शताब्दी में आचार्य जिनसेन और आचार्य गुणभद्र ने सम्मिलित रूप से एक 'महापुराण' नामक विशालकाय ग्रन्थ की रचना की, जिसमें जैनशास्त्रों में वर्णित 63 शलाका पुरुषों के जीवनचरित का 76 पर्वों में विस्तृत वर्णन किया गया है।

इस 'महापुराण' के दो भाग हैंः– आदिपुराण और उत्तरपुराण। 47 पर्व तक की रचना का नाम 'आदिपुराण' है और उसके बाद 48 से 76 तक के पर्वों की रचना का नाम 'उत्तरपुराण' है। 'आदिपुराण' में अनुष्टुप् वृत्त के 11429 श्लोक हैं और 'उत्तरपुराण' में वैसे ही 7778 श्लोक हैं।

पं० दौलतराम कृत 'आदिपुराण-वचनिका' इसी आदिपुराण की भाषानुवाद रूप वचनिका है।

इसकी रचना लेखक ने आसोज कृष्णा एकादशी, शुक्रवार, विक्रम संवत् 1824 को पूर्ण की थी; जैसा कि अन्तिम ग्रन्थ-प्रशस्ति की निम्नलिखित पंक्तियों से ज्ञात होता हैः–

"अठारह सै सम्वता, ता ऊपर चौबीस।
कृष्ण पक्ष आसोज की, पुष्य नक्षत्र बरीश॥
शुक्रवार एकादशी, पूरण भयो ये ग्रन्थ।"

---

1. पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 36
2. वही, पृष्ठ 864

'आदिपुराण' संस्कृत भाषा का अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। जो धर्म, दर्शन, काव्य, भाषा, वर्णन आदि सभी दृष्टियों से उच्च कोटि का है। पं० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य इसके विषय में लिखते हैं कि "वास्तव में 'आदिपुराण' संस्कृत-साहित्य का एक अनुपम रत्न है। ऐसा कोई विषय नहीं है जिसका इसमें प्रतिपादन न हो। यह पुराण है, महाकाव्य है, धर्म कथा है, धर्मशास्त्र है, राजनीतिशास्त्र है, आचारशास्त्र है और उस युग की आद्य व्यवस्था को बतलाने वाला महान इतिहास है।[1]"

इसीप्रकार डा० गुलाबचन्द्र चौधरी का कथन भी द्रष्टव्य है:— "'आदिपुराण' के विस्तृत कलेवर में हम पुराण, महाकाव्य, धर्मकथा, धर्मशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, आचारशास्त्र और युग की आदि व्यवस्था को सूचित करनेवाले एक बृहत् इतिहास के दर्शन करते हैं। यह 'आदिपुराण' दिगम्बर जैनों का एक ऐसा विश्वकोश है तथा एक प्रकार से वह सब कुछ है जो कि उन्हें जानना चाहिए।[2]"

'आदिपुराण' में जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव और उनसे सम्बन्धित भरत, बाहुबली आदि अनेक व्यक्तियों के भव-भवान्तरों का विस्तृत वर्णन किया गया है। ऋषभदेव को प्रथम तीर्थंकर होने के कारण 'आदिनाथ' भी कहते हैं, अतः उनके इस नाम पर ही इस रचना को 'आदिपुराण' कहते हैं।

'आदिपुराण' के प्रधान नायक भगवान ऋषभदेव या आदिनाथ और उनके प्रथम पुत्र सम्राट् भरत चक्रवर्ती हैं। इन्हीं से सम्पर्क रखनेवाले अन्य कितने ही महापुरुषों की कथा का समावेश भी इस ग्रन्थ में हुआ है।

पं० दौलतराम कृत 'आदिपुराण-वचनिका' उक्त 'आदिपुराण' का भाषानुवाद होकर भी पूरा अनुवाद नहीं है,उसमें लेखक की मौलिक प्रतिभा के भी दर्शन होते हैं। संस्कृत का 'आदिपुराण' एक विशाल काव्य-ग्रन्थ है, लेकिन महाकवि दौलतराम ने इसकी भाषाटीका में एक ही शैली को अपनाया है, जो इतनी प्रवाहमयी है कि पाठक को लगता ही नहीं कि वह एक अनुवाद-कृति पढ़ रहा है। अनुवाद होकर भी मौलिक कृति का सा स्वाद देने में समर्थ यह कृति महाकवि की अगाध विद्वत्ता की परिचायक है। डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल लिखते हैं कि—

"आदिपुराण विशालकाय ग्रंथ है, लेकिन कवि ने भाषाटीका की एक ही शैली को अपनाया है। आचार्य जिनसेन के क्लिष्ट शब्दों का अर्थ जितने सरल एवं बोधगम्य शब्दों में किया है, वह कवि के संस्कृत एवं हिन्दी के अगाध ज्ञान का द्योतक है।[3]"

---

1. आदिपुराण,-प्रस्तावना, पृष्ठ 23
2. वही, पृष्ठ२५
3. राजस्थान का जैन साहित्य, पृष्ठ 250

'पद्मपुराण' और 'हरिवंशपुराण' नामक ग्रन्थों की वचनिका के समान यहाँ भी कवि ने स्थान-स्थान पर बड़े उपयोगी भावार्थ लिखे हैं, जो अर्थबोध में आम पाठक का बड़ा सहयोग करते हैं।

'आदिपुराण-वचनिका' का कुल परिमाण 24000 श्लोक है। यथा–

"श्रीमत् आदिपुराण के, श्लोक भाषानुमान।
चौईसा जु सहस्र हैं, बुधजन करहु बखान।।"

'आदिपुराण-वचनिका' के प्रारम्भ में लेखक ने जिस रूप में अपनी लघुता प्रकट की है, वह भी मूलतः द्रष्टव्य है:–

"ता परि भाषा वचनिका, भाषूं मैं मतिमन्द।
लेहु सुधारि सुपंडिता, ज्ञान रूप निर्द्वन्द।।
महिमा महापुराण की, मो पै कही न जाय।
जानै श्री जिन केवली, तीन भुवन के राय।।
निज मति माफिक मैं कहूँ, भाषूं भाषा रूप।
सुनहु भव्यजन भाव धरि, भजहु भजहु जिन रूप।।"

2.3.3.2.3. हरिवंशपुराण-वचनिका:–

यह पं० दौलतराम कासलीवाल की अन्तिम रचना है, जो विक्रम की 9 वीं शताब्दी में हुये प्रसिद्ध आचार्य जिनसेन द्वारा संस्कृत भाषा में लिखित 'हरिवंशपुराण' नामक विशाल महाकाव्य की गद्यात्मक भाषावचनिका है।

संस्कृत-ग्रन्थ 'हरिवंशपुराण' में जैनधर्म के 22 वें तीर्थंकर नेमिनाथ का जीवन-चरित्र वर्णित है, इसलिए इसका अपर नाम 'अरिष्टनेमिपुराणसंग्रह' भी है जैसा कि उसके प्रत्येक पर्व के अन्त में प्राप्त पुष्पिकाओं से स्पष्ट होता है:–

"इति श्री अरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यस्य कृतौ ————।"

हरिवंश पुराण-वचनिका में कौरव-पाण्डवों की कथा भी वर्णित है इसलिए इसको 'जैन महाभारत' भी कहते हैं।

संस्कृत 'हरिवंशपुराण' में कुल 19,207 अनुष्टुप् छन्द हैं, जो 76 पर्वों में विभक्त हैं।

'हरिवंशपुराण-वचनिका' की रचना पण्डितजी ने चैत्र शुक्ला पूर्णिमा, शुक्रवार, वि० सं० 1829 को पूर्ण की थी, जैसा कि इसकी अन्तिम प्रशस्ति के निम्नलिखित छन्दों से ज्ञात होता है:—

"अट्ठारह सौ संवता, ता पर धर गुणतीस।
वार शुक्र पून्यों तिथि, चैत्र मास रति ईस।।
ता दिन यह पूरण भया, श्री हरिवंश पुराण।
पढ़ो सुनो अर सरद्दहो, पंडित करो बखान।।"

रचना-निर्माण की कहानी स्वयं पण्डितजी ने ग्रन्थ-प्रशस्ति में इसप्रकार बताई है कि एक बार उनके मित्र ब्र० रायमल मालवदेश में गये। वहाँ उन्होंने पण्डितजी द्वारा रचित आदिपुराण-पद्मपुराण की वचनिकाओं को शास्त्रसभा में सुनाया। मालव देश के प्रबुद्ध श्रोता इन्हें सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने ब्र० रायमलजी से अनुरोध किया कि आप पं० दौलतराम जी से कहकर इसीप्रकार की भाषावचनिका 'हरिवंशपुराण' की भी कराइये। ब्र० रायमलजी ने मालवदेश से ही पं० दौलतराम को पत्र भेजा और उसमें आग्रहपूर्वक उक्त अनुरोध किया। इसके बाद जयपुर में भी मन्दिर में सभी साधर्मियों ने पण्डितजी से इस ग्रन्थ की भाषावचनिका करने का बहुत अनुरोध किया। रतनचन्द दीवान के भाई वृद्धिचन्दजी भी बहुत आग्रह करते थे। सभी की उत्तम भावना को देखकर पण्डितजी ने मन लगाकर यह वचनिका तैयार कर दी। प्रशस्ति का सम्बन्धित अंश मूलतः इस प्रकार है:—

"भयो कौन विधि ग्रन्थ यह, भाषारूप विशाल।
सौ तुम सुनहु महामती, जिन आज्ञा प्रतिपाल।।
× × ×
रायमल्ल के रुचि बहुत, व्रत क्रिया परवीन।
गये देश मालव विषे, जिनशासन लवलीन।।
तहाँ सुनाये ग्रंथ उन, भाषा आदिपुराण।
पद्मपुराणदिक तथा, तिन को कियो बखान।।
सब भाई राजी भये, सुनकर भाषारूप।
तिनके रुचि अति ही बढ़ी, धारी कथा अनूप।।

---

1. हरिवंशपुराण-वचनिका, अन्तिम ग्रन्थ-प्रशस्ति, छन्द 26–27

रायमल्ल से सबन ने, करी प्रार्थना येह।
करवाओ हरिवंश की, भाषा बहु गुण गेह।।
आगे दौलतराम ने, टीका भाषा माहिं।
करी सो ही अब यह करे, यामें संशय नांहि।।
तब भेजी पत्री यहाँ, रायमल्ल धर भाव।
लिखी जु साधर्मीन को, कारण धर्म प्रभाव।।
तथा जु दौलतराम को, मल्ल लिखी यह बात।
करहु भाषा हरिवंश की, सबसे चित्त सुहात।।
सब साधर्मिन जब मिले, श्री चैत्यालय मांहि।
भाषी दौलतराम से, जिनश्रुत से अघ जांहि।।
जिनवानी रस अमृता, जा सम सुधा न और।
जाकर भव भरमण मिटे, पावे निश्चल ठौर।।
यामैं विलम्ब न कीजिए, करो शीघ्र ही येह।
सफल होई जाकर सही, उत्तम मिनखा देह।।
रत्नचंद दीवान एक, भूपत के परधान।
तिनके भाई शुभ मती, विधीचंद परवान।।
सौ दोलत के मित्र अति, भये जु उद्यम रूप।
तिनके आग्रह तें यह, टीका भई अनूप।।
दौलत ने अतिभाव धर, भाषा कीनों ग्रंथ।
महाशांत रस को भरो, सुगम मुक्ति को पंथ।।"[1]

पं० दौलतराम कृत 'हरिवंशपुराण-वचनिका' इसका गद्यानुवाद है, लेकिन हू-ब-हू नहीं। इसका प्रमाण यह है कि मूल संस्कृत-ग्रन्थ 12000 श्लोक-प्रमाण ही है, किन्तु वचनिका 19000 श्लोक-प्रमाण है।[2] इसके साथ ही लेखक वचनिका लिखने में बहुत कुशल है। उसने इसे इतने प्रवाह से

1. हरिवंशपुराण-वचनिका, अन्तिम ग्रन्थ-प्रशस्ति, छन्द 1 एवं 8 से 20
2. "सकल ग्रन्थ संख्या भई, उन्नीस सहस प्रमाण।"– अन्तिम ग्रन्थ-प्रशस्ति, छन्द 28

लिखा है कि पाठक को लगता ही नहीं कि वह कोई अनूदित ग्रन्थ पढ़ रहा है, अपितु इसके अध्ययन में मौलिक कृति का ही आनन्द आता है। 'वचनिका' में लेखक ने यत्र-तत्र भावार्थ भी खूब लिखे हैं; जिससे किंचित् भी अस्पष्ट विषय अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है। उदाहरणार्थ :—

"भावार्थ यह जिनधर्म अनादि-निधन है। किसी का किया नहीं अर कभी जाता नहीं। अनादि अनन्त है। सदा से सत्पुरुष जिनधर्म को जान योगीश्वरों का मार्ग अंगीकार कर लोकशिखर जाय हैं अर सदा ही योगीश्वर जिनधर्म का आराधन कर निर्वाण पुर पावेंगे।[1]"

'हरिवंशपुराण-वचनिका' में कुल 8 अधिकार हैं, किन्तु उनसे पहले एक प्रथम सर्ग में मंगलाचरण, ग्रन्थोत्पत्ति और अनुक्रमणिका रूप प्रस्तावना लिखी गई है। मंगलाचरण में जैनधर्म के 24 तीर्थंकरों, पंचपरमेष्ठियों और समन्तभद्र, सिद्धसेन, देवसंघ, वज्रसूरि, महासेन, रविषेण आदि अनेक प्राचीन आचार्यों को नमस्कार किया गया है। ग्रन्थोत्पत्ति में 'हरिवंशपुराण' की उत्पत्ति का कथन किया गया है। अनुक्रमणिका में सम्पूर्ण 'हरिवंशपुराण' की कथावस्तु का विषयसूची की भाँति क्रमशः संकेत किया गया है।

इसके बाद जो आठ अधिकार प्रारम्भ होते हैं, उनकी विषयवस्तु संक्षेप में इस प्रकार है:—

प्रथम अधिकार में 11 सर्गों (2 से 12) में ऊर्ध्व, मध्य, अधो– इन तीनों लोकों का अतिविस्तार से वर्णन किया गया है। प्रसंगवश तीर्थंकरों की धर्मसभा जिसे समवशरण कहते हैं, कालचक्र एवं ऋषभचरित्र का भी विस्तार से वर्णन किया गया है। **द्वितीय अधिकार** में मात्र एक सर्ग (13 वाँ) में इक्ष्वाकु वंश के अन्तर्गत सूर्यवंश, सोमवंश, कुरुवंश, उग्रवंश और नाथवंश की उत्पत्ति कब और किस प्रकार हुई– इसका वर्णन किया गया है। **तृतीय अधिकार** में पाचँ सर्गों (14 से 18) में हरिवंश की उत्पत्ति बताकर जैन-धर्म के 20 वें तीर्थंकर मुनिसुव्रत के पंचकल्याणकों का वर्णन किया गया है। **चतुर्थ अधिकार** में 18 सर्गों (19 से 36) में हरिवंशी राजा समुद्रविजय के छोटे भाई और श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव का जीवन-चरित्र अंकित किया गया है, जिसमें उनके विदेश-गमन, आश्चर्यजनक कार्य, अनेक विवाह और स्वदेशागमन का रोचक वर्णन है। इसके बाद इसी अधिकार में श्रीकृष्ण की बालक्रीड़ाओं वर्णन करके कंस की मृत्यु भी दिखाई गई है। **पंचम अधिकार** में चार सर्गों (37 से 40) में ग्रन्थ के मुख्य नायक और जैनधर्म के 22 वें तीर्थंकर नेमिनाथ के गर्भ और जन्म का विस्तृत वर्णन किया गया है। गर्भवर्णन में 16 स्वप्न और उनके फलों का कथन है तथा जन्मवर्णन में जन्माभिषेक और इन्द्र द्वारा स्तुति का कथन है। **षष्ठ अधिकार** में 10 सर्गों (41 से 50) में यादवों का द्वारिका

---

1. हरिवंशपुराण-वचनिका, पृष्ठ 189

में निवास, कृष्ण-विवाह, कुरुवंश-उत्पत्ति, द्रोपदी-स्वयंवर, कीचक का निर्वाण-गमन, कृष्णपुत्र प्रद्युम्न का जीवन-चरित्र, दुर्गोत्पत्ति और चक्रव्यूह-गारुड़-व्यूह रूप सेना इत्यादि विषयों का वर्णन किया गया है। **सप्तम अधिकार** में **14** सर्गों (51 से 64) में सर्वप्रथम कृष्ण-जरासंध का युद्ध वर्णित कर उसमें जरासंध का वध और कृष्ण की विजय दिखाई गई है। इसके बाद द्रौपदी के हरण, अन्वेषण और लाभ का वर्णन किया गया है। इसके बाद तीर्थंकर नेमिनाथ के दीक्षाकल्याणक और केवलज्ञानकल्याणक का विस्तृत वर्णन किया गया है। केवलज्ञानकल्याणक के प्रसंग में उनकी धर्मसभा, धर्मोपदेश, धर्मविहार और अनेक पात्रों के पूर्वभवों का वर्णन किया गया है तथा त्रेसठ शलाका पुरुषों से सम्बन्धित तथ्यात्मक विविध जानकारियाँ भी दी गई हैं। द्वारिका-विनाश, कृष्ण-मृत्यु एवं बलदेवादि द्वारा दीक्षा धारण करने का वर्णन भी इसी अधिकार में किया गया है। **अष्टम अधिकार** में **2** सर्गों (65 से 66) में तीर्थंकर नेमिनाथ के निर्वाण-गमन और गुरुपर्वकमल का वर्णन किया गया है।

वचनिका की पद्धति पद्मपुराण, आदिपुराण जैसी ही है। यहाँ भी प्रत्येक सर्ग के अन्त में धर्मधारण की सत्प्रेरणा दी है। यथाः—

" हे श्रेणिक ! ये प्राणी शुभ के उदय विषैं सम्पदा को भोगवे है। वह सम्पदा प्रचंड पुरुषों के प्रताप को उल्लंघनहारी है। अर जब सुख का क्षय होय तब आपदा को भजै इसलिए भव्यजन सम्पत्ति विपत्ति दोनों को समान जान मोक्ष का कारण जो जिन-भाषित निर्मल तप उसे आदर से करो।"[1]

इसके अतिरिक्त कथा के मध्य में भी यत्र-तत्र धर्मोपदेश दिया गया है। जैनदर्शन के सैद्धान्तिक विषयों का भी अनेक स्थलों पर निरूपण किया गया है जिससे सरस कथा-प्रवाह में नीरसता और अवरोध उत्पन्न हो जाता है। 57 वें पर्व में तो 34 पृष्ठों तक लगातार धर्मोपदेश ही धर्मोपदेश है।

वचनिका की एक अन्य विशेषता यह है कि इसमें भी पात्रों के अनेक जन्मों का चित्रण है। 59 वें पर्व में श्रीकृष्ण की रानियों के पूर्वजन्म बताये गये हैं। यह बात अलग है कि वर्तमान जन्म का चित्रण प्रधानता से हुआ है, जबकि पूर्वोत्तर जन्म गौण हैं।

'हरिवंशपुराण-वचनिका' की भाषा तत्कालीन खड़ी बोली हिन्दी है, जिसमें राजस्थानी (ढूँढारी) के रूपों का विपुल मात्राओं में प्रयोग हुआ है। अनेक स्थानों पर भाषा की काव्यात्मकता देखते ही बनती है। यथाः—

"कैसे हैं नेमिनाथ ? दृढ़ता को प्राप्त भया है शांत रस जिनके। जैसे वर्षा के व्यतीत भये शरद विषे मेघ अति उज्ज्वल भासे तैसे विषय रस के व्यतीत भये प्रभु अति उज्ज्वल निर्मल शांति रस भासते भये।"[2]

---

1. हरिवंशपुराण-वचनिका, पृष्ठ 471
2. वही, पृष्ठ 595

'हरिवंशपुराण-वचनिका' की शैली भी पद्मपुराण-आदिपुराण जैसी ही है जिसमें कथा-निरूपण हेतु वक्ता-श्रोता की प्राचीन पद्धति का आश्रय लिया गया है। यहाँ भी वक्ता गौतम गणधर हैं और श्रोता राजा श्रेणिक।

'हरिवंशपुराण-वचनिका' भी पाठकों में अत्यधिक लोकप्रिय हुई थी, अतः इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ प्रायः सर्वत्र मिल जाती हैं। अब इसका प्रकाशन भी श्री दिगम्बर जैन वीर पुस्तकालय, श्रीमहावीरजी, राजस्थान से हो चुका है।

2.3.3.2.4. परमात्मप्रकाश-वचनिका:—

पण्डित दौलतराम कासलीवाल की इस रचना को डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल[1] ने एक स्थान पर 'परमात्मप्रकाश' और दूसरे स्थान पर 'परमात्मप्रकाश भाषा' के नाम से सूचित किया है तथा डॉ० ए० एन० उपाध्ये[2] ने 'परमात्मप्रकाश-भाषाटीका' के नाम से सूचित किया है; परन्तु ये तीनों ही नाम पूर्णतः उचित नहीं हैं; क्योंकि यह ग्रन्थ न तो मूल 'परमात्मप्रकाश' है, न 'परमात्मप्रकाश' का भाषानुवाद है और न ही 'परमात्मप्रकाश' की भाषा में टीका है, अपितु यह तो पण्डितजी द्वारा कृत आदिपुराण, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण आदि की भाषावचनिकाओं के समान ही एक और भाषावचनिका है जिसे उन्होंने मुनिराज जोइन्दु (6वीं शती) द्वारा विरचित 'परमप्पयासु' नामक अपभ्रंश—ग्रन्थ और उसकी ब्रह्मदेव सूरि (13वीं शती) द्वारा विरचित संस्कृत-टीका पर लिखा है। स्वयं पण्डितजी को भी इस कृति का नाम 'परमात्मप्रकाश-वचनिका' ही अभीष्ट है; जैसा कि इसकी अन्तिम प्रशस्ति के इस अन्तिम वाक्य से प्रतीत होता है:—

"श्री योगीन्द्राचार्य कृत मूल दोहा, ब्रह्मदेव कृत संस्कृत टीका, दौलतिराम कृत भाषावचनिका पूर्ण भई।। इति श्री योगीन्द्राचार्य विरचित परमात्मप्रकाश की भाषावचनिका सम्पूर्ण।।"

'परमात्मप्रकाश-वचनिका' की रचना पण्डितजी ने कब की— यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि इसके अन्त में वैसी विस्तृत ग्रन्थ-प्रशस्ति नहीं है जैसी उनकी अन्य रचनाओं के अन्त में पाई जाती है। डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल अनुमान करते हुए लिखते हैं कि "इस कृति को भी कवि ने उदयपुर में रहते हुए ही लिखा था, ऐसा मालूम होता है; क्योंकि जयपुर आने के बाद तो वे आदिपुराण, पद्मपुराण एवं हरिवंशपुराण जैसे विशालकाय ग्रन्थों की रचना करने में संलग्न हो गये थे।[3]"

---

1. महाकवि दौलतराम कासलीवाल:व्यक्तित्व एवं कृतित्व, प्रस्तावना, पृष्ठ 42 और 80
2. श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम से प्रकाशित परमात्मप्रकाश, प्रस्तावना, पृष्ठ 133
3. महाकवि दौलतराम कासलीवाल:व्यक्तित्व एवं कृतित्व, प्रस्तावना, पृष्ठ 80

किन्तु यह अनुमान तर्कसंगत नहीं है तथा जो एक तर्क दिया भी गया है वह भी अकाट्य नहीं है। उसके विपक्ष में कहा जा सकता है कि सच पूछा जाये तो 'परमात्मप्रकाश' जैसे आध्यात्मिक ग्रन्थ की भाषावचनिका करने के लिए अधिक अनुकूल परिवेश तो पण्डितजी को जयपुर में ही प्राप्त हुआ होगा। जयपुर में ही पण्डित टोडरमल, ब्रह्मचारी रायमल्ल आदि विद्वानों का समागम उन्हें इस हेतु प्रेरित कर सकता है। रही बात आदिपुराणादि में व्यस्त रहने की, सो वह भी नहीं जचती, क्योंकि वह कार्य तो उन्होंने वि० सं० 1823 से 1829 के मध्य सम्पन्न किया था। उसके पूर्व वि० सं० 1808 से लेकर 1822 तक की अवधि में भी तो वे जयपुर ही थे जिसमें उनकी कोई रचना प्राप्त नहीं होती। प्रश्न है कि इस 14 वर्ष की लम्बी अवधि में उन्होंने क्या किया ? वि० सं० 1777 से अनवरत साहित्य-साधना करनेवाले पं० दौलतराम ने इतनी लम्बी अवधि साहित्य-रचना के बिना व्यतीत की होगी– ऐसा नहीं प्रतीत होता।

अतः संभावना यही है कि 'परमात्मप्रकाश-वचनिका' की रचना उन्होंने जयपुर में वि० सं० 1808 से 1822 के मध्य ही कभी की है।

'परमात्मप्रकाश' दो अधिकार और एक चूलिका-व्याख्यान के तीन वर्गों में विभक्त है। प्रथम अधिकार का नाम त्रिविध आत्माधिकार है और द्वितीय अधिकार का नाम मोक्षाधिकार है। रचना की विषयवस्तु संक्षेप में इस प्रकार है:–

त्रिविध आत्माधिकार :– इसमें सर्वप्रथम मंगलाचरणस्वरूप पंच परमेष्ठी को नमस्कार किया गया है। उसके बाद आत्मा की बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा– इन तीनों अवस्थाओं का भेद सहित विस्तृत वर्णन किया गया है। इसके बाद द्रव्य-गुण-पर्याय की मुख्यता से आत्मा का कथन किया गया है और अन्त में सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि का स्वरूप बताते हुए भेदविज्ञान की चर्चा की गई है।

मोक्षाधिकार:– इसमें सर्वप्रथम मोक्ष का फल बताकर मोक्षमार्ग का व्याख्यान किया गया है। उसके बाद अभेद रत्नत्रय, परमशान्त अवस्था और शुद्धोपयोग का वर्णन किया गया है।

चूलिका व्याख्यान:– इसमें इंद्रिय-लंपटता, मोह, लोभ, स्नेह, जीवहिंसा, गृह-वास, ममत्व आदि विकारों के दोष बताकर उनके त्याग का उपदेश दिया गया है और अन्त में सर्व चिन्ता–रहित निर्विकल्प समाधि का वर्णन करते हुए ग्रन्थ का समापन किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'परमात्मप्रकाश' एक आध्यात्मिक प्रकृति का ग्रन्थ है, जिसमें विविध प्रकार से आत्मा के स्वभाव और विभाव को स्पष्ट करके आत्मप्राप्ति का उपाय समझाया गया है।

'परमात्मप्रकाश-वचनिका' का मुख्य प्रतिपाद्य लेखक के शब्दों में इसप्रकार है:— "या परमात्मप्रकाश की टीका का व्याख्यान जानकर भव्यजीवन कूं अैसा विचार करना जो मैं सहज शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव हूँ, निर्विकल्प हूँ, उदासीन हूँ, निज निरंजन शुद्धात्म सम्यग्दरसन सम्यक्ग्यान सम्यक्चारित्र रूप आनंद अनुभूत मात्र स्वसंवेदन ग्यान ताकरि गम्य हूँ, ऐसा निर्विकल्प निजानंद ग्यान कर प्राप्त है भरि ता वस्था कहिए पूर्ण हूँ, राग द्वेष मोह क्रोध मान माया लोभ ये पांच इंद्रीन के विषय व्यापार मन काय द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्म ख्यात पूजा लाभ देखे सुने अनुभये जे भोग तिन वांछा रूप निदानबन्ध माया मिथ्या शल्य त्रयादि विभाव परिमाण शून्योऽहं कहिए सब प्रपंचन तैं रहित हूं तथा सर्व ही जीव ऐसे हैं। यह निरंतर भावना करनी।[1]"

जोइन्दु-विरचित मूल 'परमप्पासु' में 343 दोहे हैं और उसकी ब्रह्मदेवसूरि कृत संस्कृत-टीका 5004 श्लोक-प्रमाण है, किन्तु दौलतराम-कृत भाषावचनिका 6890 श्लोक-प्रमाण है— इसका उल्लेख भाषावचनिका की अन्तिम प्रशस्ति में स्वयं लेखक ने भी किया है। यथाः—

"श्री योगीन्द्राचार्य नै प्रभाकर भट्ट के संबोधिवै के अर्थि दोहा तीन सै तियालीस 343 कीए।। ता परि श्री ब्रह्मदेव नै संस्कृत टीका हजार पांच च्यारि 5004 कीए।। तापरि दौलतराम ने भाषावचनिका का श्लोक अडसठि सैं निवै 6890 संख्या प्रमाण कीए।[2]"

'परमात्मप्रकाश-वचनिका' का उद्देश्य अपभ्रंश और संस्कृत भाषा के ज्ञान से रहित लोगों को भी के इस उत्तम ग्रंथ का स्वाध्याय कराना है। वचनिकाकार ने स्वयं लिखा है कि यह ग्रंथ बालबुद्धि जीवों के लिए सरल किया है:—"यह ग्रंथ बालबुद्धि के समझिवे कूं सुगम किया है।"

इस वचनिका की भाषा भी वैसी ही राजस्थानी मिश्रित खड़ी बोली हिन्दी है, जैसी पद्मपुराण आदि की वचनिकाओं की है। यद्यपि मूलग्रन्थ और उसकी संस्कृत-टीका में क्लिष्ट व समस्त पदों का बहुत प्रयोग हुआ है, किन्तु वचनिका करते समय लेखक ने उन्हें सरल और विभक्त करने का बहुत ध्यान रखा है। और इसके पीछे अभिप्राय यह रहा है कि ग्रन्थ को बालबुद्धि पाठक सुगमता से समझ सकें। इस विषय में वचनिका के अन्तिम अंश की पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं:—

"या ग्रन्थ विषैं प्रचुरता करि पदनि की संधि न करी, अर वचन भी भिन्न-भिन्न कहिए जुदे धरे सुख सूं समझिने के अर्थि कबिन संस्कृत न धर्‌या। तातें यहां लिंग, वचन, क्रिया, कारक, संधि,

---

1. परमात्मप्रकाश-वचनिका, अन्तिम पृष्ठ।
2. परमात्मप्रकाश-वचनिका, अन्तिम पृष्ठ।

समास, विसेष, विसेषण ये दूषण न लेने। जे पंडित विसेषग्य हैं ते अैसा जानहु। जो यह ग्रंथ बालबुद्धि के समझिबे कूं सुगम किया है।।[1]"

'परमात्मप्रकाश-वचनिका' का प्रकाशन अभी तक कहीं से नहीं हुआ है, किन्तु इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ देश के अनेक जैन ग्रन्थ–भण्डारों में प्राप्त हो जाती हैं।

2.3.3.2. टीकात्मक गद्य-रचनाएँ:—

पं० दौलतराम की निम्नलिखित 5 रचनाएँ टीकात्मक गद्य-रचनाओं की कोटि में आती हैं:—

1. समयसारकलश-टव्वाटीका,
2. वसुनन्दि-श्रावकाचार-टव्वाटीका,
3. कार्तिकेयानुप्रेक्षा-टव्वाटीका,
4. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-भाषाटीका,
5. तत्त्वार्थसूत्र-टव्वाटीका।

इनमें भाषाटीका और टव्वाटीका के दो अलग-अलग रूप दृष्टिगोचर होते हैं, अतः इनको पुनः दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है:—

1. भाषाटीका,
2. टव्वाटीका।

2.3.3.2.1. भाषाटीका :—

पण्डित दौलतराम कासलीवाल ने केवल एक भाषाटीका लिखी है— पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-भाषाटीका, जिसका परिचय इस प्रकार है:—

2.3.3.3.1. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-भाषाटीका :—

पण्डित दौलतराम कासलीवाल की यह रचना 10वीं शताब्दी के प्रसिद्ध आचार्य अमृतचन्द्रसूरि द्वारा विरचित 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' नामक संस्कृत-ग्रन्थ की हिन्दी भाषा-टीका है।

'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' एक आचारप्रधान उत्कृष्ट ग्रन्थ है। इसमें कुल 226 श्लोक हैं। यद्यपि यह ग्रन्थ एक हजार वर्ष पूर्व लिखा गया था और है भी बहुत उपयोगी, पर विक्रम संवत् 1824 से पूर्व की इसकी कोई टीका उपलब्ध नहीं है; संभवतः लिखी ही नहीं गई है। 1824 में आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने इसकी भाषाटीका लिखना प्रारंभ की थी, किन्तु दुर्भाग्यवश उनकी मृत्यु हो जाने के कारण यह भाषाटीका अधूरी ही रह गई थी। तब रतनचन्द दीवान आदि अनेक साधर्मियों ने प्रेमपूर्वक पण्डित दौलतराम कासलीवाल से इस भाषा-टीका को पूर्ण करने के लिए कहा। पण्डितजी ने सभी का अनुरोध स्वीकार कर मार्गशीर्ष शुक्ला द्वितीया, संवत् 1827 को इस अपूर्ण भाषाटीका को पूर्ण कर दिया। ग्रन्थ की अंतिम प्रशस्ति में स्वयं कवि ने इन तथ्यों का उल्लेख किया है:—

1. परमात्मप्रकाश-वचनिका, अन्तिम पृष्ठ।

"अमृतचन्द्र मुनीन्द्र कृत, ग्रंथ श्रावकाचार।
अध्यातमरूपी महा, आर्या छन्द जु सार।।
भाषाटीका ता उपर, कीनी टोडरमल्ल।
मुनिवर वृत वाकी रही, ताके मांहि अचल्ल।।
ये तो परभव कूं गये, जयपुर नगर मंझार।
सब साधर्मी तब कियो, मन में यहै विचार।।
ग्रन्थ महा उपदेशमय, परमधाम को मूल।
टीका पूरण होय तो, मिटे जीव की भूल।।
साधर्मिन में मुख्य हैं, रतनचन्द्र दीवान।
पृथ्वीसिंह नरेश के, श्रद्धावान सुज्ञान।।
आनन्दसुत तिनको सखा, नाम जु दौलतराम।
भृत्य भूप को, कुल वणिक, जाको बसवे धाम।।
तासुं रतन दीवान ने, कही प्रीतिधर एह।
करिए टीका पूरणा, उर धरि धर्म सनेह।।
तब टीका पूरण करी, भाषा रूप निधान।
कुशल होय चहुं संघ को, लहे जीव निज ज्ञान।।
अट्ठारह सौ ऊपरे, संवत् सत्ताईस।
मास मार्गशिर ऋतु शिशिर, सुदि दोयज रजनीश।।"

इस प्रकार यह भाषाटीका यद्यपि पं० टोडरमल और पं० दौलतराम कासलीवाल इन दो विद्वानों द्वारा लिखी गई है, परन्तु अद्यावधि इसकी कोई जानकारी नहीं है कि इसमें कहाँ तक का अंश पण्डित टोडरमलजी का है और कितना पण्डित दौलतरामजी का।

जो भी हो, परन्तु पूरी ही भाषाटीका समान प्रकृति की तथा सरल, संक्षिप्त और आगमसम्मत है। उसमें कहीं भी विषमता (विरूपता), क्लिष्टता, अनावश्यक विस्तार या आगमविरोधी वक्तव्य नहीं हैं। टीका में सर्वप्रथम प्रत्येक श्लोक का अन्वय लगाया गया है, पश्चात् उसके एक-एक पद या पदबन्ध

1. पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय-भाषा टीका, अन्तिम ग्रन्थ-प्रशस्ति, छन्द क्रमशः 1,3,4,5,6,8,10,11,13

को पकड़-पकड़कर यथेष्ट विस्तार के साथ व्याख्या की गई है। व्याख्या करते हुए महत्त्वपूर्ण स्थलों पर सर्वत्र ही रहस्योद्‌घाटक भावार्थ लिखे गये हैं। दो-चार स्थलों पर अपनी बात की पुष्टि के लिए क्षपणासार आदि ग्रन्थों के उद्धरण भी सहज ही आ गये हैं। जहाँ-जहाँ मूल श्लोकों में भेद-प्रभेदों की या अन्य कोई परिगणनमूलक जानकारी दी गई है या किन्हीं पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है, वहाँ टीकाकार ने उन सबकी पृथक्-पृथक् परिभाषाएँ दी हैं। यथा, 182 से 208 तक के श्लोकों में सम्यग्दर्शन और व्रतों के अतिचार तथा तप, गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा एवं परिषहों के भेद-प्रभेद गिनाये गये हैं। टीकाकार ने उनकी टीका में सबकी पृथक्-पृथक् परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं। श्लोक संख्या 215 में बन्ध के प्रदेश और स्थिति– इन दो ही भेदों का उल्लेख किया गया है, किंतु टीकाकार ने बन्ध के चारों ही भेदों का यथेष्ट विस्तार के साथ सर्वांग स्वरूप स्पष्ट किया है।

टीका में प्रायः प्रत्येक श्लोक की उत्थानिका भी लिखी गई है, जिसमें सम्बन्धित श्लोक के प्रतिपाद्य की ओर संकेत किया गया है अथवा उसे सम्पूर्ण ग्रन्थ की विषय-वस्तु के प्रवाह में सिद्ध किया गया है। इससे प्रत्येक श्लोक का उसके पूर्वापर श्लोकों से समुचित सम्बन्ध समझते देर नहीं लगती। ये उत्थानिकाएँ श्लोक और श्लोक की टीका को हृदयग्राह्य बनाने में बहुत मदद करती हैं। किन्हीं-किन्हीं उत्थानिकाओं को तो टीकाकार ने एक प्रश्न का रूप देकर और भी महत्त्वपूर्ण बना दिया है। उदाहरणार्थ श्लोक-संख्या 73 की टीका उत्थानिका-सहित प्रस्तुत है:–

"उत्थानिका:– आगे कोऊ कहैगा त्रस न होय तौ भक्षण करने ! तिस कौ कहै है:–

यानि तु पुनर्भवेयुः कालोच्छिन्नत्रसाणि शुष्काणि।

भजतस्तान्यपि हिंसा विशिष्ट रागादिरूपा स्यात् ॥ 73 ।।

टीका:– बहुरि जे उदुबर पंचक काल पाय त्रय जीवनि तैं रहित अैसे सूके होंय। परंतु तिनके खाने वाले को भी हिंसा होय है। कैसी हिंसा होय है? विशेष रागभाव है स्वरूप जिसका। जो राग न होवता तो अैसी निंद्य वस्तु काहे कों अंगीकार करता ? तिसतैं जिहां अधिक राग भाव भया सोई हिंसा। जैसें काहू नै हरित वस्तु कौ तौ न खाईए, परंतु उस वस्तु के राग करिवा कौं सुकाय करि खाईए। जो राग न होय तौ काहे कौं एता प्रयास करै। इहां प्रश्न :– जो सूकी वस्तु मैं दोष है तो अन्न काहे कौ खाईए है। बहुरि उसका भक्षण भी साधारण उदर भरण निमित्त है। कछु विसेष राग होने का कारण नांही। इंहा तो विशेष रूप राग भावनि का होना सो हिंसा बताई है।।"

अधिकांश श्लोकों की टीका के बाद टीकाकार ने सारग्राही भावार्थ भी लिखे हैं। यथा:–

"पूजा नाम भेंट का है सो प्रासुक द्रव्य प्रभु कौं चढ़ावे। देखों, काल की महिमा! ग्रंथनि में तो ऐसे लिखै है, बहुरि इहां उपवास का धारी होय नाना प्रकार की हिंसा उपजाय अनंत काय कौं चढ़ावे है।[1]"

"इस संन्यास विषैं कषाय का घटावना है। कषाय हिंसा के मूल कारण हैं। तिसतैं संन्यास अंगीकार करकै भी अहिंसा धर्म की सिद्धि है।[2]"

सम्पूर्ण ग्रन्थ की विषयवस्तु संक्षेप में इस प्रकार है:—

सर्वप्रथम ग्रन्थ के नामकरण की मीमांसा करके उपदेश का क्रम बताया गया है। उसके बाद श्रावकधर्म का व्याख्यान प्रारम्भ किया गया है। श्रावकधर्म के व्याख्यान में सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन पर बहुत बल दिया गया है और कहा गया है कि श्रावक को सबसे पहले सम्पूर्ण प्रयत्न करके सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करनी चाहिए, क्योंकि उसके होने पर ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति हो सकती है। सम्यग्दर्शन के प्रकरण में ही ग्रन्थकार ने सम्यक्त्व के आठ अंगों का भी विवेचन किया है। इसके बाद अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहपरिमाण— इन 5 अणुव्रतों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इसके बाद रात्रिभोजन-त्याग और श्रावक के ही चार शिक्षाव्रतों का वर्णन किया गया है। अन्त में सल्लेखना, सकल चारित्र और रत्नत्रय का प्रतिपादन किया गया है।

हिंसा-अहिंसा का जितना व्यापक और विशद चित्रण इस ग्रन्थ में प्राप्त होता है वैसा अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।

'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-भाषाटीका' का प्रकाशन अभी तक कहीं से नहीं हुआ है, किन्तु इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ अनेक जैन ग्रन्थ-भण्डारों में सहज प्राप्त हो जाती हैं।

2.3.3.2.2. टव्वाटीका:—

पं० दौलतराम ने निम्नलिखित 4 टव्वाटीकाओं का निर्माण किया है:—

1. समयसार-कलश-टव्वाटीका,
2. वसुनन्दि-श्रावकाचार-टव्वाटीका
3. कार्तिकेयानुप्रेक्षा-टव्वाटीका
4. तत्त्वार्थसूत्र-टव्वाटीका।

ये चारों रचनाएँ टव्वाशैली में लिखी गई हैं। मध्यकाल में, विशेषतया राजस्थान में इस प्रकार की बहुत रचनाएँ लिखी जाती थीं। इस प्रकार की शैली में विस्तार नहीं होता। इस शैली का शिल्प बहुत ही संक्षिप्त होता है। बालावबोध और वचनिकाओं की अपेक्षा इसका आकार अत्यन्त सूक्ष्म होता

1. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-भाषाटीका, श्लोक 152 का भावार्थ
2. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-भाषाटीका, श्लोक 180 का भावार्थ

है। इस शैली में पहले मूल शब्द लिखा रहता है और फिर उसका अर्थ दाँयें, बाँयें, नीचे या ऊपर अथवा उसके क्रोड़ में लिख दिया जाता है। डॉ० नरेन्द्र भानावत के अनुसार "टब्बा बालावबोध से बहुत संक्षिप्त होता है। इसमें व्याख्यात्मक शैली का प्रयोग नहीं किया जाता, न प्रासंगिक कथाएँ ही दी जाती हैं। इसमें केवल मूल शब्द का अर्थ ऊपर, नीचे या पार्श्व में दिया जाता है।[1]"

2.3.3.2.2.1. समयसार-कलश-टब्बाटीका:—

यह पं० दौलतराम कासलीवाल की टब्बाटीका रूप कृति है। इसमें उन्होंने आचार्य कुन्दकुन्द विरचित 'समयसार' की आचार्य अमृतचन्द्र कृत 'आत्मख्याति' टीका के प्रत्येक श्लोक की पदानुसारिणी टीका की है। 'आत्मख्याति' के श्लोकों को 'कलश' कहा जाता है, अतः इस टीका का नाम 'समयसारकलश-टब्बाटीका' रखा गया है।

'समयसार-कलश-टब्बाटीका' की रचना पण्डित दौलतराम ने वि० सं० 1804 में आसोज कृष्णा पंचमी, शनिवार को पूर्ण की थी; जैसा कि निम्न छन्द से स्पष्ट है:—

"ठारह सौ चउसाल मास आसोज कौ।
तिथि पंचमि कृष्ण पक्ष दिवस सनिवार को।[2]"

'समयसार-कलश-टब्बाटीका' की रचना पण्डितजी ने उदयपुर में ब्रह्मचारी घासीराम तपस्वी की प्रेरणा से की थी; जैसा कि अन्तिम प्रशस्ति के निम्नलिखित छन्दों से स्पष्ट है--

"कौन प्रकार भयौ ईह टबा। कलसा काव्यनि उपरि नवा।।
सौ तुम सुनहु भव्य मन लाय। समयसार धारो सुखदाय।।
आनन्द सुत है दौलतिराम। जाति महाजन बसवै धाम।।
कूरम भृत्य उदैपुर रहे। सौ उकील राणाँ अति चहै।।
समैं पाई उदियापुर धाम। आये तपसी घासीराम।।
आचारी चरची कवि येस। धारैं ब्रह्मचार को भेस।।
तिस्टै जिन मन्दिर मैं सही। दौलति तिन सौ प्रीति जु लही।।
तिनके ढिग कीयौ सु बखान। बहु ग्रन्थनि कौ बुद्धि समान।।
फुनि वाचै कलसा गम्भीर। जिनमें पूरण समरस चीर।।

---

1. राजस्थानी साहित्य की कुछ प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ 26–27
2. समयसार-कलश-टब्बाटीका, अन्तिम ग्रन्थ-प्रशस्ति, छन्द 50

सुनि करि तपसी हरषित भए। ऐसे वयन बदन तै चयै।।

धन्य–धन्य जिन सासन रहै। जा प्रसाद केवल पद लहै।।

ज्यौ मन्दिर परि कलस ज्यू होय। त्यों जिन श्रुत परि कलसा जोय।।

काव्यनि उपरि अर्थ लखै अधर तनौ। करो टबा तुम आवै जा महै रस घनो।।

ब्रह्मचार के बैन धरे दोलति हिये। सेठ देवजी लगनि करि उद्यमि कीये।।

कैयक दिवस रहैय तपसि तीरथ गये। सेत्रुंजा गिरिनारि भेटिवा परिणये।।

भई सहाई सेठ करायो ईह टबा। सब्द मात्र ही अर्थ मूल कीजो छवा। [1]"

'समयसार' और उसकी टीका 'आत्मख्याति' पूर्णतः आध्यात्मिक रचनाएँ हैं, अतः उन पर आधारित इस 'समयसार-कलश-टव्वाटीका' की विषयवस्तु भी आध्यात्मिक है। इसमें आत्मतत्त्व और इसके अनुभव का अत्यन्त भावपूर्ण वर्णन किया गया है। विषयवस्तु और टीका-पद्धति के परिचयार्थ यहाँ कलश 2 एवं उसकी टीका प्रस्तुत है:—

"अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ति प्रत्यगात्मनः।

अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम्।।

किसी छै शुद्धात्मा अनन्तस्वभाव नै धर्‌या छै। स्वरूप ने देखावै छै। शुद्धात्मा का। अनेकान्त छै मूरित जिह अैसी जो जिनवाणी। सो नित्य ही प्रकाश ने करौ। किसी छै जिनवाणी।[2]"

'समयसार-कलश-टव्वाटीका' का प्रकाशन अभी तक कहीं से नहीं हुआ है। इसकी एकमात्र पांडुलिपि प्रतापगढ़ (राज०) के भाईजी के जैनमन्दिर में उपलब्ध होती है। पण्डितजी की यह रचना नितान्त अल्पज्ञात रही है।

2.3.3.2.2.2. वसुनन्दि-श्रावकाचार-टव्वाटीका

यह विक्रम की बारहवीं शताब्दी में हुये आचार्य वसुनन्दि द्वारा रचित 'उपासकाध्ययन' नामक ग्रन्थ की टीका है। 'उपासकाध्ययन' का प्रचलित नाम 'वसुनन्दि–श्रावकाचार' है। जैन-साहित्य में 'उपासक' श्रावक या व्रती गृहस्थ को कहते हैं। 'उपाकाध्ययन' में 546 गाथाओं में श्रावकाचार का प्रतिपादन हुआ है।

इस टीका का निर्माण कब हुआ– इसका उल्लेख स्वयं पण्डितजी ने प्रशस्ति के किसी छन्द में नहीं किया है, जैसा कि वे अपनी प्रायः प्रत्येक रचना के विषय में उल्लेख करते हैं, किन्तु फिर

1. समयसार कलश टव्वाटीका, अन्तिम ग्रन्थ-प्रशस्ति, छन्द 40 से 49
2. वही, कलश 2 एवं उसकी टीका

भी ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसकी रचना उन्होंने कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी, सोमवार, वि० सं० 1808 को ही या उससे कुछ ही समय पूर्व उदयपुर में रहते हुए पूर्ण की थी; क्योंकि उक्त दिन इसे मीठीबाई और राजबाई ने लिखवा भी लिया है, जैसा कि आमेर ग्रन्थ-भण्डार में उपलब्ध रचना की हस्तलिखित प्रति के अन्त में लिखित इस पंक्ति से स्पष्ट होता है:—

"संवत् 1808 वर्ष कार्तिक मासे शुक्ल पक्षे तिथौ 14 भौमवासरे उदयपुर मध्ये सेवकालूचा लाल जी सुखजी की बहु बाईमीठी तथा राजबाई ने लिखायो ग्रन्थ श्रावकाचार लिखायो।"

वीर पुस्तक भंडार, जयपुर से प्रकाशित 'पद्मपुराण-वचनिका' की प्रस्तावना (पृष्ठ 20) में भी इस टीका का रचनाकाल वि० सं० 1808 बताया गया है।

टीका-निर्माण की कहानी अंतिम ग्रन्थ-प्रशस्ति में लेखक ने स्वयं इसप्रकार बताई है कि एक बार उन्होंने उदयपुर में शास्त्रसभा में आचार्य वसुनन्दि के श्रावकाचार पर व्याख्यान किये, जिनसे प्रभावित होकर सभा के एक प्रमुख श्रोता सेठ बेलजी राम ने उनसे कहा कि यदि आप इस ग्रन्थ की टव्वाटीका लिख दें तो बहुत उत्तम रहे। सेठ बेलजीराम के इस अनुरोध को सहर्ष स्वीकार कर पं० दौलतराम ने इस टव्वाटीका का निर्माण किया। ग्रन्थ-प्रशस्ति का सम्बन्धित अंश मूलतः द्रष्टव्य है:—

"अब तुम सुनहु भव्य इक बैन। जा विधि टवा भयो सुख दैन।।
उदियापुर में कियो बखान। दौलतिराम आनँद सुत जान।।
वांच्यौ श्रावक व्रत्त विचार। वसुनन्दि गाथा अविकार।।
बोले सेठ बेलजी नाम। सुनि नृप मंत्री दौलतिराम।।
टवा होय जो गाथा तनो। पुन्य ऊपजे जिय को घनो।।
सुनि के दौलति वेल सु बैन। मन धरि गायो मारग जैन।।"

इस टीका के निर्माण के पीछे लेखक की भावना यह रही है कि संस्कृत-प्राकृत भाषा में लिखित होने के कारण श्रेष्ठ आगम को आज इस दुष्काल में मन्दबुद्धिजन नहीं समझ पाते हैं, अतः उसका आधुनिक भाषा में अवतरण आवश्यक है:—

"धर्म रूप जिन आगम सार। संस्कृत प्राकृत्त विचार।।
देव भाष कै फणपति भाष। गाथा काव्य छन्द बहु साष।।

---

1. वसुनन्दिश्रावकाचार-टव्वाटीका, अन्तिम ग्रन्थ-प्रशस्ति, छन्द 28 से 30

नर भाषा में अंग न पूर्व। सुर अर अही भाषा है अपूर्व।।

पंचम काल मांहि मतिहीन। तातैं नरभाषा हु लीन।।"

आचार्य वसुनन्दि के मूल ग्रन्थ 'उपासकाध्ययन' में 546 गाथाएँ हैं। टीका में लेखक ने सभी गाथाओं के प्रत्येक पद की क्रम से व्याख्या की है। व्याख्या की इस पद्धति को टव्वाबन्ध कहा जाता हैं। व्याख्या करते समय कहीं तो व्याख्येय पद का मात्र सरलार्थ बता दिया गया है, कहीं उसकी परिभाषा स्पष्ट कर दी गई है और कहीं उसके भेद-प्रभेदों को गिनाया गया है और यदि आवश्यक हुआ तो उत्थानिका स्वरूप उसका प्रसंग भी बताया गया है। उदाहरणार्थ 24वीं गाथा और उसकी उसकी टीकाद्रष्टव्य है :–

" *सुहया अवायविसया खणखइणो अत्थपज्जया दिट्ठा।*

वंजण पज्जाया पुण थूला गिरगोयरा चिरविवत्था।।

टव्वाटीकाः— आगैं कहै छै जो पर्याय दोय प्रकार छै। एक अर्थपर्याय एक व्यंजन पर्याय। सो अर्थपर्याय तो छह ही द्रव्यां कै छै अर व्यंजन पर्याय जीव पुद्गल दोय ही कै छै, च्यारि कै नहीं। सो अर्थपर्याय को स्वरूप कहै छै। अर्थपर्याय छै सो महासूक्ष्म छै अर वचनगोचर नहीं अर समय-समय उपजै-विनसै छै। अर्थपर्याय को स्वरूप भगवान इसो दिखायो। बहुरि व्यंजनपर्याय छै सो थूल छै अर वचनगोचर छै अर आयुप्रमाण काल तक रहै छै।[2]"

'वसुनन्दि-श्रावकाचार' की विषयवस्तु संक्षेप में इस प्रकार हैः—

सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन और उसके अन्तर्गत षट् द्रव्य, सप्त तत्त्व, सप्त व्यसन, अष्ट अंगादि का निरूपण किया गया है। तदनन्तर विस्तारपूर्वक श्रावक की 11 प्रतिमाओं का भेद-प्रभेद सहित स्वरूप बताया गया है। तदनन्तर श्रावक को यथाशक्ति विनय, वैयावृत्य, कायक्लेश और पूजन-विधानादि शुभ कार्य करने की प्रबल प्रेरणा दी गई है और इन सभी का पृथक्-पृथक् विस्तार से स्वरूप भी स्पष्ट किया गया है। अन्त में सिद्धावस्था प्राप्त होने का क्रमिक उल्लेख किया गया है। सम्पूर्ण टीका गद्य में है, किन्तु टीका के प्रारंभ और अन्त में कुछ काव्य भी लिखे गये हैं। प्रारम्भ के काव्यों में 4 दोहा छन्दों में मंगलाचरण किया गया है, जो नमस्कारात्मक भी है और वस्तुनिर्देशात्मक भी। यथाः—

"इन्द्रमुकुट के रतन की, जोती हुई जलधार।

ताकरि सिंचे पदकमल, जिनके भवतपहार।।

---

1. वसुनन्दिश्रावकाचार-टव्वाटीका, अन्तिम ग्रन्थ-प्रशस्ति, छन्द 26 – 27

2. वही, गाथा 24 एवं उसकी टव्वाटीका

केवल बोध प्रबोध करि, परकासे सहु तत्त्व।
सुकल सुध्यान विधान करि, टारे सकल अतत्त्व।।
श्रावक अर जति धर्म को, दीयो जेह उपदेस।
सुर नर मुनिवर गणधरा, ध्यांवै जाहि असेस।।
ताहि प्रणमि श्रावक धरम, भासौं श्रुति अनुसार।
श्रेणिक प्रति जा विधि प्रगट, भाष्यौ श्री गणधार।।[1]

टीका के अन्त में 8 सोरठा छन्दों में श्रावक के 12 व्रतों का और 12 सोरठा छन्दों में श्रावक की 11 प्रतिमाओं का स्वरूप बताया गया है। इसके बाद 5 छन्द (सोरठा-त्रिभंगी) सामान्य श्रावकाचार से सम्बन्धित हैं। सबसे अन्त में 7 चौपाइयों में ग्रंथ-प्रशस्ति है।

यह टीका अद्यावधि अप्रकाशित है। इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ भी बहुत कम मिलती हैं। प्रस्तुत शोध-प्रबंध में हमने अपने अध्ययन का आधार आमेर (जयपुर–राजस्थान) की प्रति को बनाया है। इसमें 25 x 17 सेमी साइज के 267 पृष्ठ हैं।

2.3.3.2.2.3. कार्तिकेयानुप्रेक्षा-टब्बाटीका :–

पं० दौलतराम कासलीवाल की यह रचना विक्रम की दूसरी शताब्दी में हुए प्रसिद्ध जैनाचार्य कुमारस्वामी अपरनाम कार्तिकेयस्वामी द्वारा रचित 'द्वादशानुप्रेक्षा' नामक प्राकृत-ग्रन्थ की सरल-सुबोध और पदानुसारिणी टीका है। 'द्वादशानुप्रेक्षा' कर्ता के नाम पर 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' के नाम से प्रसिद्ध है।

इसकी रचना पं० दौलतराम ने ज्येष्ठ कृष्णा द्वादशी, वि० सं० 1826 के दिन पूर्ण की थी। रचना का उद्देश्य किसी इन्द्रजीत नामक व्यक्ति को प्रबुद्ध करना था, जैसा कि अन्तिम प्रशस्ति में स्वयं टीकाकार ने उल्लेख किया है।

"इन्द्रजीत के कारनैं, टवा जु बालाबोध।
भाष्यौ दौलतराम ने, जाकरि होय प्रबोध।[2]"

'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' एक आध्यात्मिक ग्रन्थ है, जिसमें वैराग्य-वर्द्धन हेतु अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म – इन 12 भावनाओं का

---

1. वसुनन्दिश्रावकाचार-टब्बाटीका, मंगलाचरण, पृष्ठ 1
2. कार्तिकेयानुप्रेक्षा-टब्बाटीका, अन्तिमग्रंथ-प्रशस्ति, छन्द

सुन्दर विवेचन किया गया है। जैन-साहित्य में इन्हीं 12 भावनाओं को 'द्वादशानुप्रेक्षा' भी कहा जाता है। 'द्वादशानुप्रेक्षा' जैन-साहित्य का अत्यधिक महत्वपूर्ण विषय है। जैन-साहित्य के प्रायः प्रत्येक लेखक ने चाहे वह किसी भी भाषा का क्यों न हो, इन 12 भावनाओं पर थोड़ा या बहुत अवश्य लिखा है।

'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' और इसकी यह 'टव्वाटीका' इसी परम्परा की उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा-टव्वाटीका' अद्यावधि अप्रकाशित है और इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ भी प्रायः नहीं मिलती हैं। दिल्ली के धर्मपुरा-स्थित जैनमन्दिर के ग्रन्थ-भण्डार में इस रचना के प्राप्त होने का उल्लेख मिलता है, पर बहुत खोजने पर भी मुझे यह कृति वहाँ प्राप्त नहीं हुई।

2.3.3.2.2.4. तत्त्वार्थसूत्र-टव्वाटीकाः—

पं० दौलतराम कासलीवाल की यह रचना विक्रम की पहली शताब्दी में हुए सुप्रसिद्ध जैनाचार्य उमास्वामी द्वारा विरचित 'तत्त्वार्थसूत्र' नामक संस्कृत-ग्रन्थ की पदानुसारिणी टीका है।

'तत्त्वार्थसूत्र' जैनदर्शन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सूत्र-ग्रन्थ माना जाता है, क्योंकि उसमें जैनदर्शन के प्रायः सभी प्रमुख विषय बीजरूप में समाहित हैं। जैनसमाज में इसके दैनिक पाठ की परम्परा रही है। अनेक लोग वर्तमान में भी इसका प्रतिदिन पाठ करने को नियम पालन करते हैं। समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंकदेव आदि अनेक दिग्गज आचार्यों ने इस पर विद्वत्तापूर्ण संस्कृत-टीकाएँ लिखी हैं। हिन्दी में भी इस 'तत्त्वार्थसूत्र' पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं। पं० दौलतराम कासलीवाल द्वारा लिखित 'तत्त्वार्थसूत्रटव्वाटीका' इसी शृंखला में लिखी गई एक महत्त्वपूर्ण टीका है।

'तत्वार्थसूत्र-टव्वाटीका' की रचना पण्डितजी ने कब की— यह निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता है; क्योंकि इस ग्रन्थ के अन्त में प्रशस्ति नहीं पाई जाती। परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि इसकी रचना पण्डितजी ने अपने जयपुर—प्रवास की अवधि में ही की होगी, क्योंकि इस ग्रन्थ की एकमात्र हस्तलिखित प्रति जयपुर में श्री दिगम्बर जैन मन्दिर लूणकरण पांडया के ग्रन्थ-भण्डार में ही प्राप्त होती है। जयपुर-प्रवास की अवधि में भी वि० सं० 1809 से 1821 के बीच में इस टीका के निर्माण की सम्भावना अधिक है, क्योंकि इस लम्बी अवधि में उनकी कोई रचना प्राप्त नहीं होती।

संस्कृत भाषा के मूल 'तत्वार्थसूत्र' में कुल 315 सूत्र हैं, जो 10 अध्यायों में विभक्त हैं। पण्डित दौलतराम की 'तत्त्वार्थसूत्र-टव्वाटीका' इन सभी सूत्रों पर तो आधारित है ही, किन्तु इसके प्रारम्भ और अन्त में क्रमशः 4 और 8 संस्कृत व प्राकृत के छन्द भी टव्वाटीका-सहित पाये जाते हैं।

ये छन्द "तत्त्वार्थसूत्र" नामक मूल ग्रन्थ के अंश नहीं हैं, किन्तु 'तत्त्वार्थसूत्र' का नित्य पाठ करनेवाले लोगों में उसी के साथ पढ़े जाते रहे हैं। पण्डित दौलतराम ने 'तत्त्वार्थसूत्र' के साथ इन

छन्दों की भी टव्वाटीका इसीलिए लिखी प्रतीत होती है कि लोग इन छन्दों को पढ़ते तो हैं, पर इनका अर्थ नहीं समझते।

इन छन्दों में प्रारम्भ के छन्द मंगलाचरण की भाँति और अन्त के छन्द उपसंहार की भाँति ज्ञात होते हैं। मूल ग्रन्थ में प्रत्येक अध्याय की समाप्ति पर एक पुष्पिका-वाक्य भी संस्कृत भाषा में उपलब्ध होता है। यथा प्रथम अध्याय का पुष्पिका-वाक्य इस प्रकार है :—"इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे प्रथमोऽध्यायः।" पं० दौलतराम ने इन पुष्पिका-वाक्यों की भी टव्वाटीका लिखी है।

टव्वाटीका का आरम्भ "श्रीपरमात्मने नमः। अथ तत्त्वार्थसूत्र टव्वाबन्ध लिख्यते।" कहकर होता है और समापन अन्त में "इति श्री उमास्वामि-मुनिविरचितं तत्त्वार्थसूत्रं टव्वासहितं समाप्ति। ओइम् सिद्धेभ्यः नमः।" कहकर किया गया है।

'तत्त्वार्थसूत्र-टव्वाटीका' की विषयवस्तु वही है जो मूल ग्रन्थ 'तत्त्वार्थसूत्र' की है। 'तत्त्वार्थसूत्र' में मुख्यरूप से जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष – इन सात तत्त्वों का विस्तार से विवेचन किया गया है। जीवतत्त्व के प्रसंग में उर्ध्व, मध्य और अधोलोक का भी वर्णन किया गया है। अजीव तत्त्व के प्रसंग में पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल– इन 5 द्रव्यों का वर्णन किया गया हैं। आस्रव-बन्ध तत्त्व के प्रसंग में कर्मसिद्धान्त और व्रतों का भी व्यापक निरूपण किया गया है। संवर-निर्जरा तत्त्व के प्रसंग में गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय, चारित्र, तप और ध्यान का भी भेद-प्रभेद-सहित विवेचन किया गया है।

टव्वाटीका में मूलग्रन्थ के विषय को किंचित् विस्तार के साथ सरलता और स्पष्टतापूर्वक समझाया गया है। तथा कहीं-कहीं सारग्राही भावार्थ भी लिखे गये हैं। उदाहरणार्थ टीका के निम्नलिखित अंश द्रष्टव्य हैं:—

1.[6] (त्रैकाल्यं) तीन काल भूत, भविष्यत, वर्तमान (द्रव्यषट्कं) षट्द्रव्य जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, (नवपदसहितं) नव पदार्थ सहित हैं, जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप (जीवषट्काय) षट्काय पृथ्वी, अप, तेज, वायु, वनस्पति, त्रस (लेश्याः) लेश्या कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल (पंचान्ये) पाँच-पाँच हैं अन्य (च) बहुरि (अस्तिकाया) अस्तिकाय जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश (व्रत) अहिंसा, अनृत, स्तेय, ब्रह्मचर्य, आकिंचन (समिति) समिति ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपणा, प्रतिष्टापना (गति) गति देव, मनुष्य, तिर्यन्च, नरक अर सिद्ध ए पाँचवीं गति (ज्ञान) ज्ञान मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय, केवलज्ञान (चारित्र) चारित्र सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, यथाख्यात (भेदाः) भेद 5 (इत्येतन्मोक्षमूलं) येह सो मोक्ष के मूल हैं (त्रिभुवनमहितैः)

त्रिभुवनमहितैः कहिए सो तीन भवन का पूज्य (प्रोक्त) कह्या छै (महद्भिरीशै) महद्भिरीशैः कहिंता अर्हंत देव ईश्वर परमेश्वर है त्ते (प्रत्येति) प्रतेति कहितां प्रतीति करणी (श्रद्धधाति) श्रद्धधाति कहितां श्रद्धा करिके (स्पृशति) स्पृशति कहितां स्पर्शन करै (च) बहुरि (मतिमान यः) मतिमान कहितां बुद्धिवान (स वै शुद्धदृष्टि) यः कहितां जो पुरुष है सो स वै शुद्धदृष्टि कहितां सो ही शुद्ध सम्यग्दृष्टि है।[1]"

2"(मोक्षमार्गस्य) मोक्षमार्गस्य कहितां मोक्षमार्ग के (नेतारं) नेतारं कहिंतां प्राप्त के करनहार है (भेत्तारं) भेत्तारं कहितां चूर्ण के करनहार है (कर्मभूभृताम्) कर्मभूभृताम् कहितां वे कर्म रूपी ए पर्वत तिनके समूह कूं (ज्ञातारं) ज्ञातारं कहितैं जाननहार है (विश्वतत्त्वानां) विश्वतत्त्वानां कहितां समस्त तत्त्वनिकों (वंदे तद्गुणलब्धये) नमस्कार करता हूँ अहं उमास्वामी जिन अर्हन्त कौं तिनके गुणनि की लब्धि के अर्थ।[2]"

उक्त दोनों अंशों से स्पष्ट है कि टीकाकार ने टीका करते समय आवश्यकतानुसार कहीं तो पद का मात्र हिन्दी सरलार्थ लिखा है, कहीं उसकी परिभाषा बताई है और कहीं उसके भेद-प्रभेदों से पाठक को परिचित कराया है। टीका में अनावश्यक विस्तार और अस्पष्टता कहीं नहीं है।

इस टीका के निर्माण का उद्देश्य भी वही है कि इस युग में सामान्यजन संस्कृत भाषा के कल्याणकारी ग्रन्थों को नहीं समझ पाते हैं, अतः उन्हें हिन्दी भाषा में लिखना अत्यन्त उपयोगी है।

पं० दौलतराम ने संस्कृत-ग्रन्थ 'तत्त्वार्थसूत्र' की यह भाषामय टीका लिख कर साधारण जन का बड़ा उपकार किया है। यों तो 'तत्त्वार्थसूत्र' की अनेक टीकाएँ पूर्व में ही उपलब्ध हैं, किन्तु दौलतराम की इस टीका के समान सरल और संक्षिप्त कोई नहीं है। जो लोग 'तत्त्वार्थसूत्र' को शब्दशः समझना चाहते हैं, उनके लिए तो यह बहुत ही उपयोगी रचना है। इसके अध्ययन से थोड़े में ही वह बहुत जानकारी प्राप्त हो जाती है जो बड़े-बड़े संस्कृत-ग्रंथों में प्राप्त होती है, अतः यह बहुत सारग्राही टीका भी है। दुर्भाग्य की बात है कि इसका प्रकाशन अभी तक कहीं से भी नहीं हुआ है। हस्तलिखित प्रतियाँ भी बहुत कम प्राप्त होती हैं। सम्पूर्ण भारतवर्ष में मुश्किल से दो-तीन होगी। मेरे देखने में मात्र एक प्रति आई है जो जयपुर में श्री दि० जैन मन्दिर लूणकरण पांड्या के ग्रन्थ-भण्डार में उपलब्ध है। इस प्रति में 16X28 सेमी आकार के कुल 44 पत्र (88 पृष्ठ) हैं। प्रस्तुत शोध-अध्ययन का आधार भी इसी प्रति को बनाया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पं० दौलतराम कासलीवाल ने कुल 20 कृतियों का निर्माण किया, जिनमें 3 चरितकाव्य हैं, 7 विचारकाव्य हैं, 5 अनुवादात्मक गद्य रचनाएँ हैं और 5 टीकात्मक गद्य रचनाएँ हैं। सभी कृतियाँ भाव एवं शिल्प दोनों ही दृष्टियों से अपना विशेष महत्त्व धारण करती हैं।

□□□

1. तत्त्वार्थसूत्र-टब्बाटीका, पृष्ठ 1-2
2. वही, पृष्ठ 2

पं. दौलतराम कासलीवाल की रचनाएँ—

क्रम.	रचना का नाम	रचना-काल					रचना-स्थान	रचना का स्वरूप	मुख्य विषयवस्तु	प्रकाशित/अप्रकाशित	अनुयोग	परिमाण
		मास	पक्ष	तिथि	वार	वि०सं०						
1.	पुण्यास्रवकथाकोश-भाषा	भाद्रपद	कृष्णा	5	–	1777	आगरा	अनूदित गद्य	56 धर्मकथाएँ	अप्रकाशित	प्रथमानुयोग	266 पृष्ठ
2.	श्रेणिकचरित	चैत्र	शुक्ला	5	सोम	1982	अज्ञात	मौलिक चरितकाव्य	श्रेणिक-चरित्र	अप्रकाशित	प्रथमानुयोग	92 पृष्ठ
3.	क्रियाकोश	भाद्रपद	शुक्ला	12	मंगल	1795	उदयपुर	मौलिक विचारकाव्य	श्रावकाचार	प्रकाशित	चरणानुयोग	2504 छन्द
4.	अध्यात्मबारहखड़ी	फाल्गुन	शुक्ला	2	गुरु	1798	उदयपुर	मौलिक विचारकाव्य	भक्ति व अध्यात्म	अप्रकाशित	द्रव्यानुयोग	860 पृष्ठ
5.	समयसार-कलश-टब्बाटीका	आसोज	कृष्णा	5	शनि	1804	उदयपुर	टीका गद्य	अध्यात्म	अप्रकाशित	द्रव्यानुयोग	278 श्लोक
6.	जीवंधरस्वामिचरित	आषाढ़	शुक्ला	2	गुरु	1805	उदयपुर	मौलिक चरितकाव्य	जीवंधर-चरित्र	प्रकाशित	प्रथमानुयोग	72 पृष्ठ
7.	वसुनन्दि-श्रावकाचार-टब्बाटीका	कार्तिक	शुक्ला	14	सोम	1808	उदयपुर	टीका गद्य	श्रावकाचार	अप्रकाशित	चरणानुयोग	268 पृष्ठ
8.	श्रीपालचरित	फाल्गुन	शुक्ला	11	–	1822	अज्ञात	मौलिक चरितकाव्य	श्रीपाल-चरित्र	अप्रकाशित	प्रथमानुयोग	98 पृष्ठ
9.	पद्मपुराण-वचनिका	माघ	शुक्ला	9	शनि	1823	जयपुर	अनूदित गद्य	राम-चरित्र	प्रकाशित	प्रथमानुयोग	21000 श्लोक-प्रमाण
10.	आदिपुराण-वचनिका	आसोज	कृष्णा	11	शुक्र	1824	जयपुर	अनूदित गद्य	ऋषभ-चरित्र	प्रकाशित	प्रथमानुयोग	8000 श्लोक-प्रमाण
11.	कार्तिकेयानुप्रेक्षा-टब्बाटीका	ज्येष्ठ	कृष्णा	12	–	1826	जयपुर	टीका गद्य	बारह भावनाएँ	अप्रकाशित	द्रव्यानुयोग	
12.	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-भाषाटीका	मार्गशीर्ष	शुक्ला	2	सोम	1827	जयपुर	टीका गद्य	श्रावकाचार	अप्रकाशित	चरणानुयोग	198 पृष्ठ
13.	विवेक-विलास	पौष	शुक्ला	3	गुरु	1827	जयपुर	मौलिक विचारकाव्य	अध्यात्म	प्रकाशित	द्रव्यानुयोग	924 दोहे
14.	हरिवंशपुराण-वचनिका	चैत्र	शुक्ला	30	शुक्र	1829	जयपुर	अनूदित गद्य	नेमिनाथ-चरित्र	प्रकाशित	प्रथमानुयोग	19000 श्लोक-प्रमाण
15.	परमात्मप्रकाश-वचनिका	रचनाकाल अज्ञात है।					अज्ञात	अनूदित गद्य	अध्यात्म	अप्रकाशित	द्रव्यानुयोग	6890 श्लोक-प्रमाण
16.	चौबीस-दण्डक	रचनाकाल अज्ञात है।					अज्ञात	मौलिक विचारकाव्य	चतुर्गति-भ्रमण	प्रकाशित	करणानुयोग	57 छन्द
17.	चतुर-चितारणी	रचनाकाल अज्ञात है।					अज्ञात	मौलिक विचारकाव्य	चतुर्गति-भ्रमण	अप्रकाशित	द्रव्यानुयोग	149 सोरठे
18.	तत्त्वार्थसूत्र-टब्बाटीका	रचनाकाल अज्ञात है।					अज्ञात	टीका गद्य	सात तत्त्व	अप्रकाशित	द्रव्यानुयोग	176 पृष्ठ
19.	सार-समुच्चय	रचनाकाल अज्ञात है।					अज्ञात	मौलिक विचारकाव्य	अध्यात्म	अप्रकाशित	द्रव्यानुयोग	103 दोहे
20.	सिद्धपूजाष्टक	रचनाकाल अज्ञात है।					अज्ञात	मौलिक विचारकाव्य	भक्ति	अप्रकाशित	चरणानुयोग	12 दोहे

तृतीय अध्याय

चरितकाव्य

क्रम.	पृष्ठ-संख्या
3.1. जैन-चरितकाव्य-परम्परा	**121**
3.1.1. प्राकृत-जैन-चरितकाव्य-परम्परा	121
3.1.2. संस्कृत-जैन-चरितकाव्य-परम्परा	121
3.1.3. अपभ्रंश-जैन-चरितकाव्य-परम्परा	127
3.1.4. हिन्दी-जैन-चरितकाव्य-परम्परा	131
3.2. जैन-चरितकाव्यों का संरचना-विधान और पं० दौलतराम के चरितकाव्य	**133**
3.2.1. जैन-चरितकाव्यों का संरचना–विधान (कथावस्तु, चरित्र-योजना, उद्देश्य, निष्कर्ष)	134
3.2.2. पं० दौलतराम के चरितकाव्यों का संरचना-विधान (कथावस्तु, चरित्र-गठन, उद्देश्य)	140
3.3. प्रतिपाद्य	**147**
3.3.1. धर्म (मुनिधर्म, श्रावकधर्म, सम्यग्दर्शन, मोह)	147
3.3.2. दर्शन (कर्मसिद्धान्त)	151
3.3.3 नीति	153
(संगतिविषयक,	153
मित्रता-विषयक,	154
उत्तमपुरुष व अधमपुरुष की प्रकृति-विषयक,	154
परोपकार-विषयक,	155
स्वामिभक्ति-विषयक,	155
पश्चात्तापविषयक)	155
3.3.4. अन्य (णमोकार महामंत्र, दिव्यध्वनि)	156

तृतीय अध्याय

चरितकाव्य

3.0. जैन-साहित्य में प्रारंभ से लेकर अब तक हजारों कृतियाँ ऐसी लिखी गई हैं, जो चरित, पुराण या कथा के नाम से जानी जाती हैं। स्थूल दृष्टि से ये सब एक कोटि की दिखाई देती हैं, लेकिन सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि इनमें परस्पर अन्तर है।

डॉ० शम्भूनाथ सिंह के अनुसार चरित, पुराण और कथा– तीनों एकार्थवाची हैं। वे लिखते हैं कि "चरितकाव्य प्रबन्धकाव्य का ही एक विशेष रूप या प्रकार है, जिसमें प्रबन्धकाव्य, कथाकाव्य और इतिवृत्तामक कथा (पुराण कथा आदि), तीनों के लक्षणों का समन्वय हुआ है। यही कारण है कि प्रायः चरितकाव्यों को कभी चरित, कभी कथा और कभी पुराण कहा गया है। जैसे, पउमचरिउ, रिट्ठणेमिचरिउ, जसहरचरिउ, पज्जुण्ण कहा, भवियत्त कहा, महापुराण, हरिवंशपुराण आदि। वस्तुतः चरितकाव्यों में इन तीनों शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग हुआ है।[1]"

जैन-साहित्यानुसारेण समग्र जैन-साहित्य को चार अनुयोगों में विभाजित किया गया है:– प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। जिन ग्रन्थों में त्रेसठ शलाका पुरुषों[2] अथवा अन्य पुण्यशाली महापुरुषों का चरित वर्णित होता है, उन्हें प्रथमानुयोग के ग्रन्थ कहते हैं। जिन ग्रन्थों में लोकालोक-विभाग, युग-परिवर्तन, चर्तुगति और कर्मादि का वर्णन होता है वे ग्रन्थ करणानुयोग के अन्तर्गत आते हैं। जिन ग्रन्थों में गृहस्थ और मुनियों के चरित्र की उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा का वर्णन होता है उन्हें चरणानुयोग के ग्रन्थ कहते हैं। जिनमें जीवादि सप्त तत्त्वों, पुण्य-पाप आदि का वर्णन होता है उन्हें द्रव्यानुयोग के ग्रन्थ कहते हैं।[3] इस दृष्टि से भी चरित, कथा और पुराण––तीनों एक ही कोटि 'प्रथमानुयोग' में आते हैं।

किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर चरित, कथा और पुराण– तीनों में परस्पर बहुत भिन्नता दिखाई देती है जिसकी विस्तृत चर्चा यहाँ विस्तार-भय के कारण सम्भव नहीं है। संक्षेप में इतना कहना पर्याप्त है कि चरितकाव्य में किसी एक व्यक्ति के चरित्र का वर्णन होता है, जबकि पुराण में अनेक व्यक्तियों के चरित्र का वर्णन होता है तथा कथा किसी एक विशिष्ट सन्देश या शिक्षा को हृदयग्राह्य बनाने

---

1. हिन्दी-साहित्य कोश, भाग 1, पृष्ठ 244
2. जैन साहित्य में 24 तीर्थंकर, 12 चक्रवर्ती, 9 बलदेव, 9 नारायण और 9 प्रतिनारायण को सामूहिक रूप से त्रेसठ शलाका पुरुष कहते हैं। इनका विस्तृत विवरण इसी शोध-प्रबंध में पृष्ठ 135 पर देखा जा सकता है।
3. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक 43 से 46

हेतु प्रायः लघु आकार में लिखी जाती है जो अपनी प्रकृति में चरित और पुराण दोनों से पर्याप्त भिन्न होती है। अतः यहाँ चरितकाव्य-परम्परा में उन्हीं कृतियों को स्थान दिया जा रहा है जो वास्तव में चरितकाव्य हैं अथवा जिनके नाम में अन्त में 'चरित्र', 'चरिय', 'चरिउ' या 'चरित' शब्द का प्रयोग हुआ है।

3.1. जैन-चरितकाव्य-परंपराः—

जैन-साहित्य में चरितकाव्यों की परम्परा बहुत लम्बी है। यद्यपि अभी बहुत कम चरित-ग्रन्थ प्रकाश में आये हैं और न जाने कितने चरितकाव्य ग्रन्थ-भण्डारों के अन्धकार में विद्वानों की कृपा की प्रतीक्षा कर रहे हैं, तथापि जितने-से भी चरितकाव्य अद्यावधि प्रकाश में आये हैं, उनसे पता चलता है कि जैन-साहित्य में चरित काव्यों की परम्परा अत्यन्त समृद्ध है। प्रारम्भ से लेकर अब तक निरन्तर यहाँ प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश आदि विविध भाषाओं में विपुल मात्रा में चरितकाव्यों की रचना होती रही है।

3.1.1. प्राकृत-जैन-चरितकाव्य-परम्पराः—

एक ओर जहाँ संस्कृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी भाषा में लिखित जैन-चरितकाव्यों की परम्परा अत्यन्त समृद्ध है, वहीं दूसरी ओर प्राकृत भाषा में रचित जैन-चरितकाव्यों की संख्या नगण्य है। इस भाषा का एकमात्र चरितकाव्य विमलसूरि कृत पउमचरिय प्राप्त होता है। 'पउमचरिय' भगवान राम के जीवनचरित से ही संबद्ध महाकाव्य है। इसकी रचना विमलसूरि ने की। विमलसूरि का स्थान प्राकृत में चरितकाव्य के रचयिता के रूप में सबसे आगे है। विमलसूरि का निश्चित समय ज्ञात नहीं है, किन्तु डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य ने इनका समय ईसा की चौथी शताब्दी माना है। 'पउमचरिय' में भगवान राम का जीवनचरित बहुत विस्तार के साथ अंकित है। इसमें 118 सर्ग हैं। यह प्राकृत भाषा का सर्वप्रथम चरितकाव्य है। इसकी भाषा महाराष्ट्रीय प्राकृत है जिस पर यत्र-तत्र अपभ्रंश का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

3.1.2. संस्कृत-जैन-चरितकाव्य-परम्पराः—

संस्कृत भाषा के जैन-चरितकाव्यों की परम्परा अत्यन्त दीर्घ और सुसमृद्ध है। संस्कृत भाषा के अधिकांश जैन-चरितकाव्य प्रारम्भ में दक्षिण भारत में लिखे गये, किन्तु बाद में उत्तर भारत में भी अनेक संस्कृत-चरितकाव्य लिखे गये। इन चरितकाव्यों में प्रधानतः ऋषभदेव, चन्द्रप्रभ, शान्तिनाथ, पार्श्वनाथ, वर्द्धमान, यशोधर, श्रीपाल, जम्बूस्वामी, धन्यकुमार आदि महापुरुषों को नायक बनाया गया है। ये सभी पौराणिक पात्र हैं, जो लौकिक और पारमार्थिक दोनों ही दृष्टि से भारतवर्ष की जनता

के महान आदर्श रहे हैं। एक ही नायक पर अनेक कवियों द्वारा चरितकाव्य लिखे गये हैं, ताकि जनता को उन महापुरुषों से विशेष प्रेरणा मिल सके। इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत-कवियों ने चुने महापुरुषों में से भी अपने नायक का चुनाव किया है। जैसे– तीर्थंकर तो चौबीस माने गये हैं, पर अधिकांश कवियों ने ऋषभदेव, शान्तिनाथ या महावीर को ही अपने काव्य का नायक बनाया है; क्योंकि इनके जीवन से वे अपने पाठकों को विशेषतया आकर्षित और प्रेरित कर सकते थे। संस्कृत-काव्य-परम्परा की प्रमुख कृतियाँ निम्नलिखित हैं :–

1. **पद्मचरितम्** :– इसकी रचना आचार्य रविषेण ने वि० सं० 734 में पूर्ण की थी। 'पद्म'का अर्थ 'राम' है अर्थात् इस कृति में जैन-मान्यतानुसार भगवान 'राम' का जीवन-चरित्र वर्णित है। यह काव्य जैन समाज में सर्वाधिक लोकप्रिय रामकाव्य है। इस काव्य का अपर नाम 'पद्मपुराण' भी है। इसमें 123 पर्व हैं। पं० दौलतराम कासलीवाल की 'पद्मपुराण-वचनिका' इसी ग्रंथ का भाषानुवाद है।

2. **वरांगचरितम्** :– इसकी रचना आचार्य जटासिंह नन्दी ने विक्रम की आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में की थी। इसके कथा-नायक भोजवंशी महाराज धरसेन के पुत्र वरांग हैं, जो तीर्थंकर नेमिनाथ और श्रीकृष्ण के समकालिक थे। संस्कृत में यह अश्वघोष के 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरनन्द' की कोटि का महाकाव्य है। इसमें 31 सर्ग हैं।

3. **जिनदत्तचरितम्**:– इसकी रचना आचार्य गुणभद्र ने विक्रम की दसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में की थी। इसमें 9 सर्गों में अंगदेश के वसंतपुर नामक नगर के सेठ जीवदेव के पुत्र जिनदत्त का आख्यान निबद्ध है। इस काव्य का अपर नाम 'जिनदत्त-कथा-समुच्चय' भी है। समस्त काव्य अनुष्टुप् छन्द में लिखा गया है।

4. **चन्द्रप्रभचरितम्** :– इसकी रचना आचार्य वीरनन्दी ने विक्रम की दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में की थी। इसमें जैनधर्म के आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ का जीवन-चरित्र निबद्ध है। इसमें 18 सर्ग और 1697 पद्य हैं। इसमें सभी रसों, छन्दों और अलंकारों का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

5. **प्रद्युम्नचरितम्** :– इसकी रचना आचार्य महासेन ने विक्रम की दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में की थी। इसमें श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न का जीवन-चरित्र निबद्ध है। यह 14 सर्गों का श्रेष्ठ काव्य है।

6. **वर्धमानचरितम्** : इसकी रचना महाकवि असग ने वि० सं० 1050 में की थी। इसके अन्य नाम 'महावीरचरितम्' या 'सन्मतिचरितम्' भी है। इसमें जैनधर्म के अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर के प्रेरक जीवन चित्रित है। यह 18 सर्गों का महाकाव्य है।

7. **शान्तिनाथचरितम्** :— इसकी रचना भी महाकवि असग ने ही विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में की थी। इसमें 16 सर्ग हैं। इसमें जैनधर्म के सोलहवें तीर्थंकर श्री शांतिनाथ का जीवन-चरित्र वर्णित है।

8. **पार्श्वनाथचरितम्** :— इसकी रचना वादिराज मुनि ने वि० सं० 1087 में की थी। इसमें जैनधर्म के तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ के दस जन्मों की रोचक कथा वर्णित है। इसमें वैरभाव के त्याग की मार्मिक प्रेरणा दी गई है।

9. **यशोधरचरितम्** :— इसकी रचना भी मुनि वादिराज ने ही की थी। इसमें राजा यशोधर की कथा वर्णित है, जिसमें हिंसा के कटु फलों का रोमांचक चित्रण किया गया है। इससे पाठक पर अहिंसा का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है।

10. **नागकुमारचरितम्** :— इसकी रचना मल्लिषेण ने विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में की थी। इसमें पाँच सर्गों के माध्यम से नागकुमार का चरित्र निबद्ध किया गया है। नागकुमार जैन-परम्परानुसार बाईसवें कामदेव थे। इस काव्य का उद्देश्य श्रुतपंचमी नामक जैन पर्व का माहात्म्य प्रकट करना भी है।

11. **धर्मनाथचरितम्** :— इसकी रचना महाकवि नेमिचन्द्र ने वि० सं० 1216 में की थी। इसमें जैनधर्म के पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ के जीवन-चरित्र का वर्णन किया गया है।

12. **धन्यकुमार चरितम्** :— इसकी रचना गुणभद्र मुनि ने अनुमानतः ईसा की बारहवीं शताब्दी में की थी। इसमें 7 सर्गों में धन्यकुमार का जीवन-चरित्र लिखा गया है। धन्यकुमार भगवान महावीर के समकालीन राजगृह के श्रेष्ठिपुत्र थे। इस चरितकाव्य का कथानक आचार्य गुणभद्र द्वारा रचित 'उत्तरपुराण' से लिया गया है।

13. **मुनिसुव्रतचरितम्** :— इसकी रचना कवि अर्हद्दास ने की थी। अर्हद्दास का समय ठीक-ठीक ज्ञात नहीं है, लेकिन कतिपय अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर अनुमान होता है कि ये दसवीं शताब्दी में होने वाले 'सागारधर्मामृत' आदि ग्रन्थों के रचयिता महापण्डित आशाधर के परवर्ती हैं। डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य ने इनका समय विक्रम की चौदहवीं शताब्दी माना है।[1] 'मुनिसुव्रतचरितम्' में जैनधर्म के बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत का जीवन-चरित्र लिखा गया है। इसमें 10 सर्ग हैं। इसका भी कथानक आचार्य गुणभद्र द्वारा रचित 'उत्तरपुराण' से लिया गया है।

---

1. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा, भाग 4, पृष्ठ 50

14. **शान्तिनाथचरितम्** :— इसकी रचना 'पुण्यास्रवकथाकोश' के विख्यात रचयिता मुमुक्षु रामचन्द्र ने विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में की थी। इसमें जैनधर्म के सोलहवें तीर्थंकर भगवान शांतिनाथ के जीवन-चरित्र का वर्णन किया गया है।

15. **वर्धमानचरितम्** :— इसकी रचना भट्टारक पद्मनंदि ने की थी। भट्टारक पद्मनंदि का निश्चित समय ज्ञात नहीं है, किन्तु डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य ने इनका समय ईसा की चौदहवीं शताब्दी माना है।[1] 'वर्धमानचरितम्' में मात्र 300 छन्द हैं, जिनमें भगवान महावीर का संक्षिप्त जीवन चरित्र प्रस्तुत किया गया है।

16. **ऋषभदेवचरितम्** :— इसकी रचना महाकवि वाग्भट्ट ने की थी। महाकवि वाग्भट्ट का भी निश्चित समय ज्ञात नहीं है, किन्तु विद्वानों ने उनका समय अनुमानतः ईसा की चौदहवीं शताब्दी माना है। ध्यान रहे, 'ऋषभदेवचरितम्' के रचयिता महाकवि वाग्भट्ट, वाग्भटालंकार के रचयिता वाग्भट्ट से भिन्न हैं। यह 'ऋषभदेवचरितम्' अभी तक अप्राप्त है, किन्तु नाम से प्रतीत होता है कि इसमें जैनधर्म के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का जीवन–चरित्र लिखा गया होगा।

17. **शान्तिनाथचरितम्** :— इसकी रचना भट्टारक सकलकीर्ति ने विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में की थी। इसमें सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ का जीवन-चरित्र लिखा गया है। 'शान्तिनाथचरित' में 16 अधिकार हैं।

18. **वीरवर्धमानचरितम्** :— इसकी रचना भी भट्टारक सकलकीर्ति ने ही विक्रम की पंद्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में की थी। इसमें भगवान महावीर का जीवन–चरित्र लिखा गया है। वर्धमान, भगवान महावीर का ही दूसरा नाम है। इसमें 19 परिच्छेद हैं।

19. **ऋषभदेवचरितम्** :— इसकी रचना भी भट्टारक सकलकीर्ति ने की थी। इसमें 20 सर्गों के माध्यम से भगवान ऋषभदेव के जीवन–चरित्र का वर्णन किया गया है।

20. **यशोधरचरितम्** :— इसकी रचना भी भट्टारक सकलकीर्ति ने ही की थी। इसमें महाराज यशोधर के जीवन-चरित्र को 8 सर्गों में लिपिबद्ध किया गया है और हिंसा के भयंकर फल दिखाकर अहिंसा की अपार महिमा प्रकट की गई है।

21. **धन्यकुमारचरितम्** :— इसकी रचना भी भट्टारक सकलकीर्ति ने ही की है। विपुल चरितकाव्य-प्रणयन की दृष्टि से भट्टारक सकलकीर्ति का स्थान सर्वोत्कृष्ट और महत्त्वपूर्ण है। 'धन्यकुमारचरितम्' में धन्यकुमार श्रेष्ठी की कथा कही गई है। इसमें 7 सर्ग हैं।

---

2. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा, भाग 3, पृष्ठ 323

22. **सुकुमालचरितम्** :— इसकी रचना भी भट्टारक सकलकीर्ति ने ही की है। इसमें 9 सर्गों के द्वारा सुकुमाल मुनि की अनेक जन्मों की कहानी का वैराग्योत्पादक चित्रण किया गया है।

23. **सुदर्शनचरितम्** :— इसकी रचना भी भट्टारक सकलकीर्ति ने ही की है। इसमें 8 सर्गों में सेठ सुदर्शन का जीवन-चरित्र गुम्फित किया गया है। इस चरितकाव्य से शीलव्रत के पालन की प्रबल और हृदयग्राही प्रेरणा प्राप्त होती है।

24. **श्रीपालचरितम्** :— इसकी रचना भी भट्टारक सकलकीर्ति ने ही की है। इसमें कोटिभट राजा श्रीपाल के पराक्रम और उसकी पत्नी मैनासुन्दरी के शीलव्रत का सुन्दर वर्णन किया गया है। इसका उद्देश्य सिद्धपूजा की महिमा को प्रदर्शित करना है। इसमें 7 परिच्छेद हैं। वर्तमान में भी इसकी कथा अत्यन्त लोकप्रिय है।

25. **मल्लिनाथचरितम्** :— इसकी रचना भी भट्टारक सकलकीर्ति ने की है। इसमें उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ का जीवन-चरित्र निबद्ध है। 'मल्लिनाथचरितम्' 7 सर्गों में विभक्त काव्य है, जिसमें कुल 874 श्लोक हैं।

26. **जम्बूस्वामिचरितम्** :— इसकी रचना ब्रह्म जिनदास ने विक्रम की सोलहवीं या सत्रहवीं शताब्दी में की थी।'जम्बूस्वामि-चरितम्' में अन्तिम केवली जम्बूस्वामी के वैराग्यमय जीवन का चित्रण किया गया है। इसमें 11 सर्ग हैं।

27. **रामचरितम्** :— इसकी रचना भी ब्रह्म जिनदास ने ही की है। इसमें 83 सर्गों में मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान राम का जीवन-चरित्र वर्णित है। इसकी कथावस्तु आचार्य रविषेण द्वारा विरचित 'पद्मचरितम्' या 'पद्मपुराण' से ली गई है।

28. **अंजनाचरितम्** :— इसकी रचना भट्टारक भुवनकीर्ति ने की है। भुवनकीर्ति का निश्चित समय ज्ञात नहीं है, किन्तु श्री विद्याधर जोहरापुरकर ने उनको भट्टारक सकलकीर्ति का शिष्य मानते हुए उनका समय वि० सं० 1508 से 1527 तक माना है।[1] 'अंजनाचरितम्' में पवनसुत हनुमान की माता अंजना का प्रसिद्ध आख्यान वर्णित है। इस चरितकाव्य में करुणरस की पुष्टि अवलोकनीय है।

29. **भद्रबाहुचरितम्** :— इसकी रचना रत्नकीर्ति ने की है। रत्नकीर्ति का समय डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य ने विक्रम की सोलहवीं सदी का उत्तरार्द्ध माना है।[2] भद्रबाहुचरितम्' में इतिहास-प्रसिद्ध राजा चन्द्रगुप्त और आचार्य भद्रबाहु का आख्यान वर्णित किया गया है। इसमें केवल 4 सर्ग हैं।

1. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा, भाग 3, पृष्ठ 336
2. वही, वही, पृष्ठ 434

30. **श्रीपालचरितम्** :— इसकी रचना ब्रह्म नेमिदत्त ने विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में की थी। 'श्रीपालचरितम्' में कुष्ठव्याधि से पीड़ित राजा श्रीपाल के जीवन-चरित्र का वर्णन है। इसका उद्देश्य शीलव्रत और सिद्धचक्र विधान की महिमा से पाठक को परिचित कराना है। इसमें 9 अधिकार हैं।

31. **धन्यकुमारचरितम्** :— इसकी रचना भी ब्रह्म नेमिदत्त ने ही की थी। इसमें श्रेष्ठिपुत्र धन्यकुमार के जीवन-चरित्र का वर्णन है। इसका उद्देश्य भाग्य अथवा पुण्यकर्म की अद्भुत महिमा को प्रकट करना है। इसमें 5 सर्ग हैं।

32. **प्रीतिंकरमहामुनिचरितम्** :— इसकी रचना भी ब्रह्म नेमिदत्त ने ही की है। इसमें महामुनि प्रीतिंकर का तपोमय जीवन चित्रित है। इसमें 5 सर्ग हैं।

33. **चन्द्रप्रभचरितम्** :— इसकी रचना भट्टारक शुभचन्द्र ने की है। भट्टारक शुभचन्द्र का भट्टारक–काल डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य ने वि० सं० 1535 से 1620 माना है।[1] 'चन्द्रप्रभचरितम्' में 12 सर्गों में आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ का जीवन–चरित्र निबद्ध है।

34. **जीवंधरचरितम्** :— इसकी रचना भी भट्टारक शुभचन्द्र ने ही वि० सं० 1603 में पूर्ण की थी। इसमें 13 सर्गों में पुण्यपुरुष जीवंधर स्वामी का जीवन-चरित्र सुबद्ध है।

35. **जम्बूस्वामिचरितम्** :— इसकी रचना कवि राजमल्ल ने वि० सं० 1632 में साहू टोडर के लिए आगरा में की थी। इसमें जम्बूस्वामी के अनेक जन्मों का जीवन-चरित्र लिखा गया है। इसमें 13 सर्ग हैं। यह सम्पूर्ण चरितकाव्य अनुष्टुप् छन्द में लिखा गया है।

36. **समुद्रदत्तचरितम्** :— इसकी रचना भूरामल शास्त्री जो बाद में मुनि ज्ञानसागर के नाम से लोकविख्यात हुए, ने की है। भूरामल शास्त्री का समय वि० सं० 1948 से 2012 तक है। 'समुद्रदत्तचरितम्' में युगपुरुष समुद्रदत्त का जीवन-चरित्र लिखा गया है। इसमें 9 सर्ग तथा कुल 345 छन्द हैं।

37. **महावीरचरितम्** :— इसकी रचना भी भूरामल शास्त्री ने ही की है। इसमें भगवान महावीर का जीवन-चरित्र वर्णित है। यह 22 सर्गात्मक उत्कृष्ट महाकाव्य है। इसका दूसरा नाम 'वीरोदयकाव्य' भी है।

उक्त चरितकाव्यों के अतिरिक्त सोमकीर्ति कृत प्रद्युम्नचरितम्, शुभचन्द्र कृत करकण्डुचरितम्, चन्दनाचरितम् व श्रेणिकचरितम्, जिनदास कृत होलिकारेणुचरितम्, धर्मधरकृत श्रीपालचरितम् व

1. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परंपरा, भाग 3 पृष्ठ 364

नागकुमारचरितम्, पद्मनाभ कृत होलिकाचरितम् व सुभगसुलोचनाचरितम्, ज्ञानकीर्ति कृत यशोधरचरितम्, पद्मसुन्दरकृत भविष्यदत्तचरितम् और जगन्नाथ कृत सुषेणचरितम् भी संस्कृत-जैन-चरितकाव्य-परम्परा की उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। इन सभी का रचनाकाल विक्रम की 15, 16 एवं 17वीं शताब्दी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सातवीं शताब्दी से लेकर अद्यावधि संस्कृत में जैन-चरितकाव्यों की एक बड़ी समृद्ध परम्परा रही है। यहाँ विस्तार-भय के कारण कुछ ही प्रमुख चरितकाव्यों का परिचय दिया जा सका है।

3.1.3. अपभ्रंश-जैन-चरितकाव्य-परंपरा :—

संस्कृत की भाँति अपभ्रंश भाषा में लिखे गये जैन-चरितकाव्यों की परंपरा भी सुसमृद्ध है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में आदिकाल के अन्तर्गत अपभ्रंश भाषा के चार-पाँच ही जैन-चरितकाव्यों के नाम गिनाए जाते हैं, किन्तु आधुनिक युग में हुए नवीन-नवीन शोधकार्यों से अब अपभ्रंश भाषा के अनगिनत चरितकाव्य सामने आ चुके हैं। इनमें से अधिकांश का रचनाकाल वही है जो हिन्दी-साहित्य के आदिकाल का समय माना जाता है। अतः यदि इन सब चरितकाव्यों का पृथक् रूप में व्यवस्थित अध्ययन किया जाये तो निश्चय ही हिन्दी-साहित्य के आदिकाल के गौरव में बड़ी वृद्धि होगी। इन चरितकाव्यों की भाषा सन्धिकाल की भाषा है, अतः भाषा की दृष्टि से भी इन सभी का अध्ययन नये आयामों का उद्घाटन कर सकता है। अपभ्रंश भाषा के अधिकांश चरितकाव्यों की रचना राजस्थान, मालवा, उत्तरप्रदेश एवं दिल्ली में हुई है। संस्कृत की भाँति अपभ्रंश के चरितकाव्यों के प्रधान नायक मुख्यतः राम, ऋषभदेव, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ, महावीर, यशोधर, जम्बूस्वामी आदि हैं। अपभ्रंश भाषा के कतिपय प्रमुख जैन-चरितकाव्यों का अतिसंक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

1. **पउमचरिउ** :— प्राकृत और संस्कृत की भाँति अपभ्रंश भाषा की चरितकाव्य-परंपरा का भी यह पहला ग्रन्थ भगवान राम के जीवन-चरित पर आधारित है। इसकी रचना महाकवि स्वयंभू ने की है। महाकवि स्वयंभू का समय अनुमानतः सन् 734 ई० से 840 ई० के बीच माना जाता है। 'पउमचरिउ' 12000 श्लोकप्रमाण है। इसमें 5 काण्ड और सब मिलाकर 90 सन्धियाँ हैं। यह ग्रन्थ इस परम्परा का मुकुटमणि है।

2. **रिट्ठणेमिचरिउ** :— इसकी रचना भी महाकवि स्वयंभू ने की है। इसमें बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ, श्रीकृष्ण और यादवों की कथा अंकित है। इस ग्रन्थ का प्रमाण 18000 श्लोक है। इसमें तीन काण्ड हैं :—यादव काण्ड, कुरु काण्ड और युद्ध काण्ड। यादव काण्ड में 113, कुरु काण्ड में 19 और युद्ध काण्ड में 60 सन्धियाँ हैं। यदि 'पउमचरिउ' जैन रामायण है तो 'रिट्ठणेमिचरिउ' जैन महाभारत है।

3. **णायकुमारचरिउ** :— इसकी रचना महाकवि पुष्पदन्त ने की है। पुष्पदन्त का समय डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य ने विक्रम संवत 994 से 1044 के मध्य माना है। 'णायकुमारचरिउ' में पंचमी के उपवास का फल प्राप्त करने वाले नागकुमार का चरित वर्णित है। इसमें 9 सन्धियाँ हैं।

4. **जसहरचरिउ** :— इसकी रचना भी महाकवि पुष्पदंत ने ही की है। इसमें पुण्यशाली महापुरुष यशोधर का जीवन-चरित अंकित है। इसमें 4 सन्धियाँ हैं। यह एक सुन्दर खण्डकाव्य है। राजनीति की दृष्टि से यह रचना संस्कृत के महाकवि बाणभट्ट की रचनाओं के समान है।

5. **जंबूसामिचरिउ** :— इसकी रचना महाकवि वीर ने वि० सं० 1076 माघ शुक्ला दशमी को की थी। इसमें जंबू स्वामी के वैराग्यमय जीवन का चित्रण है। इसमें 11 सन्धियाँ हैं।

6. **सुदंसणचरिउ** :— इसकी रचना आचार्य नयनन्दी ने वि० सं० 1100 में की थी। 'सुदंसणचरिउ' अपभ्रंश का एक ऐसा चरितकाव्य है जो महाकाव्य की कोटि में परिगणित किया जा सकता है। इसमें सेठ सुदर्शन के चरित का वर्णन किया गया है। यह 12 सन्धियों में विभक्त है।

7. **पासणाहचरिउ** :— इसकी रचना मुनि पद्मकीर्ति ने वि० सं० 1134 में कार्तिक मास की अमावस्या को पूर्ण की थी। इसमें जैनधर्म के तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ के जीवन-चरित्र का वर्णन है। यह अठारह सन्धियों में विभक्त है। हर सन्धि में अनेक कड़वक गर्भित हैं। यह ग्रन्थ जैन सिद्धान्त और महाकाव्यत्व की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है।

8. **पासणाहचरिउ** :— इसकी रचना श्रीधर प्रथम ने वि० सं० 1189 में की थी। इसमें तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चरित है। इसमें 12 सन्धियाँ हैं। इसका उद्देश्य अहिंसा और ब्रह्मचर्य के संदेश को जनसामान्य तक पहुँचाना है।

9. **वड्ढमाणचरिउ** :— इसकी रचना भी श्रीधर प्रथम ने की है। इसमें चौबीसवें तीर्थंकर वर्धमान का जीवनवृत्त चित्रित है। यह ग्रन्थ 10 सन्धियों में विभक्त है।

10. **भविसयत्तचरिउ** :— इसकी रचना श्रीधर ने वि० सं० 1200 में की थी। इसमें भविष्यदत्त के जीवनचरित्र का वर्णन है। इसमें 6 परिच्छेद हैं। यह कड़वक पद्धति में पद्धड़िया छन्द में लिखा गया है।

13. **सुकुमालचरिउ** :— इसकी रचना श्रीधर तृतीय ने वि० सं० 1208 में की थी। इसमें सुकुमाल के पूर्वभव के साथ वर्तमान जीवन का चित्रण किया गया है। यह ग्रन्थ 1200 श्लोकप्रमाण है और 6 सन्धियों में विभक्त है।

14. **सुलोयणाचरिउ** :— इसकी रचना देवसेन कवि ने की थी। देवसेन का समय डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य के अनुसार वि० सं० 1132 के आसपास है। इस ग्रन्थ में भरत चक्रवर्ती के प्रधान सेनापति जयकुमार की पत्नी सुलोचना का सरस आख्यान वर्णित है। इसमें 28 सन्धियाँ हैं।

15. **णेमिणाहचरिउ** :— इसकी रचना अमरकीर्ति ने वि० सं० 1244 में की थी। इसमें बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ का जीवन-चरित्र वर्णित है। प्रसंगवश श्रीकृष्ण और उनके चचेरे भाइयों का जीवन-चरित्र भी पाया जाता है। इसमें 25 सन्धियाँ हैं।

16. **करकंडुचरिउ** : इसकी रचना मुनि कनकामर ने विक्रम की बारहवीं शताब्दी में की है। इसमें करकंडु महाराज की कथा वर्णित है, जो 10 सन्धियों में विभक्त है।

17. **चंदप्पहचरिउ** :— इसकी रचना कवि यशःकीर्ति प्रथम ने विक्रम की ग्यारहवीं सदी के अन्त में या बारहवीं सदी के प्रारम्भ में की थी। इसमें आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ का जीवन-चरित्र प्रतिपादित किया गया है, जो 11 सन्धियों में विभक्त है।

18. **पासणाहचरिउ** :— इसकी रचना महाकवि देवचन्द्र ने विक्रम की बारहवीं शताब्दी में की थी। इसमें तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के चरित को निबद्ध किया गया है। इसमें 11 सन्धियाँ हैं।

19. **णेमिणाहचरिउ** :— इसकी रचना महाकवि दामोदर प्रथम ने की थी। कवि दामोदर का समय विक्रम की तेरहवीं सदी में माना जाता है। 'णेमिणाहचरिउ' में बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के जीवन-चरित्र का वर्णन किया गया है। प्रसंगवश श्रीकृष्ण, पाण्डवों और कौरवों का जीवनवृत्त भी अंकित है। इसमें 5 सन्धियाँ हैं।

20. **सिरिपालचरिउ** :— इसकी रचना दामोदर द्वितीय ने की थी। दामोदर द्वितीय का समय विक्रम की सोलहवीं सदी है। 'श्रीपालचरिउ' में सिद्धचक्र का माहात्म्य बतलाने के लिए चम्पापुर के राजा श्रीपाल और मैनासुन्दरी का जीवनवृत्त अंकित है। इसमें चार सन्धियाँ हैं।

21. **चन्दप्पहचरिउ** :— इसकी रचना भी दामोदर द्वितीय ने की थी। इसमें आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ का जीवन–चरित्र वर्णित है। इस ग्रन्थ की एक पाण्डुलिपि नागौर के भट्टारकीय शास्त्र-भण्डार भण्डार में सुरक्षित है।

22. **मेहेसरचरिउ** :— इसकी रचना महाकवि रइधू ने की। रइधू का रचनाकाल वि० सं० 1457 से 1536 माना जाता है। 'मेहेसरचरिउ' में जयकुमार और सुलोचना की कथा अंकित है। इसमें 13 सन्धियाँ हैं।

23. **सिरिबालचरिउ** :— इसकी रचना भी महाकवि रइधू ने की है। इसमें राजा श्रीपाल और मैनासुन्दरी के प्रसिद्ध आख्यान को अंकित किया गया है। इसका उद्देश्य सिद्धचक्र के माहात्म्य को प्रदर्शित करना है।

24. **बलहद्धचरिउ** :— इसकी रचना भी महाकवि रइधू ने की है। इसमें रामकथा वर्णित है। 'बलभद्र' राम का ही अपर नाम है। कवि ने इस काव्य में परंपरागत रामकथा को ही ग्रहण किया है, किन्तु अनेकत्र मौलिकता भी देखने को मिलती है।

25. **सुक्कोसलचरिउ** :— इसकी रचना भी महाकवि रइधू ने की है। इसमें पुण्यपुरुष सुकोशल की लोककथा वर्णित है। इसमें 4 सन्धियाँ हैं।

26. **पासणाहचरिउ** :— इसकी रचना भी महाकवि रइधू ने की है। अपभ्रंश में चरितकाव्य-प्रणेता के रूप में रइधू का नाम सर्वोपरि कहा जा सकता है। 'पासणाहचरिउ' में तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की कथा निबद्ध है। इसकी कथावस्तु 7 सन्धियों में विभक्त है।

27. **णेमिणाहचरिउ** :— इसकी रचना भी महाकवि रइधू ने की है। इसमें बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ का जीवन वर्णित है। इसकी कथावस्तु 14 सन्धियों में विभक्त है।

28. **सम्मइजिणचरिउ** :— इसकी रचना भी महाकवि रइधू ने की है। इसमें अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान या महावीर का जीवनवृत्त वर्णित है। 'सन्मतिजिन' भी भगवान महावीर का ही अपरनाम है।

30. **संभवणाहचरिउ** :— इसकी रचना कवि तेजपाल ने वि० सं० 1515 में की थी। इसमें जैनधर्म के तृतीय तीर्थंकर संभवनाथ का जीवन-चरित वर्णित है। इसमें 6 सन्धियाँ हैं।

31. **वरंगचरिउ** :— इसकी रचना भी महाकवि तेजपाल ने की है। इसमें पुण्यपुरुष वरांग का जीवनवृत्त प्रस्तुत किया गया है। इसमें 4 सन्धियाँ हैं।

32. **बाहुबलिचरिउ** :— इसका दूसरा नाम 'कामचरिउ' भी है। इसकी रचना कवि धनपाल द्वितीय ने की है। इसमें प्रथम कामदेव ऋषभपुत्र बाहुबली की रोचक कथा गुम्फित है। यह 18 सन्धियों में विभक्त है।

33. **वड्ढमाणचरिउ** :— इसकी रचना कवि हरिचन्द ने की है। कवि हरिचन्द का समय विक्रम की पन्द्रहवीं सदी है। इसमें अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान महावीर का जीवन-चरित्र अंकित है। इसमें 11 सन्धियाँ हैं।

34. **मयणपराजयचरिउ** :— इसकी रचना कवि हरिदेव ने की थी। कवि हरिदेव का समय चौदहवीं शताब्दी माना जाता है। 'मयणपराजयचरिउ' में मदन या कामदेव को जीतने का सरस वर्णन

है। यह एक छोटा-सा रूपककाव्य है जो कथात्मक कम, आध्यात्मिक अधिक है। इसमें 2 परिच्छेद हैं।

35. **संतिणाहचरिउ** :— इसकी रचना वि० सं० 1537 में कवि महीन्दु या महीचन्द्र ने की थी। इसमें सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ का जीवन–चरित्र अंकित है। यह 13 परिच्छेदों में विभक्त है।

36. **पासणाहचरिउ** :— इसकी रचना कवि असवाल ने वि० सं० 1479 में की थी। इसमें तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जीवन-चरित्र अंकित है। इसमें 13 सन्धियाँ हैं।

37. **संतिणाहचरिउ** :— इसकी रचना कवि शाह ठाकुर ने वि० सं० 1652 में की थी। इसमें सोलहवें तीर्थंकर शांतिनाथ का जीवन-चरित्र वर्णित है और इसमें 5 सन्धियाँ हैं।

38. **अमरसेनचरिउ** : - इसकी रचना कवि माणिक्यराज ने सोलहवीं शताब्दी में की थी। इसमें मुनि अमरसेन का जीवनवृत्त वर्णित है। इसकी कथावस्तु 7 सन्धियों में विभक्त है।

39. **मृगांकलेखाचरिउ** :— इसकी रचना पं० भगवतीदास ने वि० सं० 1700 में की थी। इसमें चन्द्रलेखा और सागरचन्द्र के चरित का वर्णन है। इसमें 4 सन्धियाँ हैं।

इसके अतिरिक्त स्वयंभू कृत **सोद्धयचरिउ** व पंचमीचरिउ, चतुर्मुखकृत पंचमीचरिउ, देवदत्त कृत वरांगचरिउ, वेवचन्द्र कृत पासणाहचरिउ, अमरकीर्ति कृत जसहरचरिउ एवं महावीरचरिउ भी अपभ्रंश-जैन-चरितकाव्य-परम्परा की उल्लेखनीय कृतियाँ हैं।

3.1.4. हिन्दी-जैन-चरितकाव्य-परंपरा :—

संस्कृत और अपभ्रंश की भाँति हिन्दी भाषा में भी जैनकवियों ने विपुल मात्रा में चरितकाव्यों का निर्माण किया है। हिन्दी के चरितकाव्य मुख्यतः राजस्थान और उत्तरप्रदेश में लिखे गये। इनके कथानायक भी प्रधानतः वही रहे जो संस्कृत और अपभ्रंश के चरित काव्यों के थे:– श्रीपाल, पार्श्वनाथ, जम्बूस्वामी, जीवधंरस्वामी, भरत-बाहुबली; किन्तु हिन्दी के चरितकाव्यों में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह दिखाई देता है कि प्राकृत, संस्कृत एवं अपभ्रंश के चरितकाव्यों के नायक तो पौराणिक पात्र ही होते थे, किन्तु हिन्दी के चरितकाव्यों में काल्पनिक एवं मानवीकृत मनोभावों को भी कथानायक के सिंहासन पर विराजमान किया गया है। प्रस्तुत है कतिपय प्रमुख हिन्दी-जैन-चरितकाव्यों का अंतिसंक्षिप्त परिचय।

1. **प्रद्युम्न-चरित** :— इसकी रचना कवि सधारू ने वि० सं० 1411 में की है। इसमें इक्कीसवें कामदेव कृष्णपुत्र प्रद्युम्न का जीवन-चरित निबद्ध है।

2. **जिनदत्त-चरित** :— इसकी रचना कवि राजसिंह ने वि० सं० 1354 में की थी। राजसिंह का अपरनाम रल्ह भी है।

3. **जंबूस्वामि-चरित** :— इसकी रचना पांडे जिनदास ने वि० सं० 1642 में की थी। इसमें जैनधर्म के अन्तिम केवली जंबूस्वामी का वैराग्यमय जीवनवृत्त अंकित है।

4. **श्रीपाल-चरित** :— इसकी रचना कवि परिमल्ल ने वि० सं० 1651 में की थी। इसमें कोटिभट राजा श्रीपाल और उनकी पतिव्रता रानी मैनासुन्दरी का प्रसिद्ध आख्यान अंकित है। कवि परिमल की यह रचना आज भी बहुत लोकप्रिय है।

5. **कृपण-जगावन-चरित** :— इसकी रचना कवि ब्रह्मगुलाल ने वि० सं० 1671 में की थी। इसमें कंजूस धनवान का चित्रण है। यह उपदेशात्मक काव्य है। संभवतः यह पहला चरितकाव्य है जिसकी कथावस्तु काल्पनिक है।

6. **प्रीतिंकर-चरित** :— इसकी रचना कवि जोधराजगोदीका ने वि० सं० 1721 में की थी। इसमें महामुनि प्रीतिंकर का जीवन-चरित्र अंकित है।

7. **सीता-चरित** :— इसकी रचना कवि रामचन्द्र ने वि० सं० 1713 में की थी। इसमें भगवान राम की पत्नी सीता का जीवन-चरित्र अंकित है। नायिका-प्रधान चरितकाव्यों में 'सीताचरित' का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

8. **भरत-भुजबलि-चरित** :— इसकी रचना कवि पामो ने वि० सं० 1749 में की थी। इसमें ऋषभदेव के प्रतापी पुत्र भरत और बाहुबली का रोचक जीवन-चरित्र अंकित है।

9. **सगर-चरित** :— इसकी रचना ब्रह्म जयसागर ने वि० सं० 1722 में की थी। इसमें चक्रवर्ती सम्राट् सगर का जीवनवृत्त अंकित है।

10. **चेतनकर्म-चरित** :— इसकी रचना भैय्या भगवतीदास ने विक्रम की अठारहवीं शताब्दी में की थी। इसमें चेतन आत्मा और उसकी कुबुद्धि, सुबुद्धि आदि दशाओं का संवादरूप चित्रण है। यह कथात्मक नहीं, आध्यात्मिक काव्य है। इसमें कुल 296 पद्य हैं।

11. **भद्रबाहु-चरित** :— इसकी रचना वि० सं० 1785 में किसनसिंह ने की थी। इसमें आचार्य भद्रबाहु का जीवनवृत्त लिखा गया है।

12. **धन्यकुमार-चरित** :— इसकी रचना खुशालचन्द काला ने विक्रम की अट्ठारहवीं शताब्दी में की थी। इसमें श्रेष्ठिपुत्र धन्यकुमार के जीवन-चरित्र का वर्णन है।

13. **चारु-चरित** :— इसकी रचना कवि भारामल ने वि० सं० 1813 में की थी। इसमें चारुदत्त का जीवन-चरित्र अंकित है।

14. **सप्तव्यसन-चरित** :— इसकी रचना भी कवि भारामल ने ही की थी। इसमें जुआ, मांसभक्षण, मदिरापान, वेश्यासेवन, शिकार, चोरी, परस्त्रीसेवन – इन सात व्यसनों के दुर्गुणों का चित्रण है।

15. **नागकुमार-चरित** :— इसकी रचना कवि नथमल बिलाला ने वि० सं० 1834 में आगरा में की थी। इसमें नागकुमार का जीवन-चरित्र निबद्ध है जो जैन-परंपरानुसार बाईसवें कामदेव हैं।

16. **जीवंधरस्वामि-चरित** :— इसकी रचना वि० सं० 1805 में पं० दौलतराम कासलीवाल ने की थी। इसका विस्तृत परिचय शोध-प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में दिया ही गया है।

17. **श्रीपाल-चरित** :— इसकी रचना भी पं० दौलतराम कासलीवाल ने वि० सं० 1822 में की थी। इसका भी विस्तृत परिचय शोध-प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में दिया गया है।

18. **सप्तव्यसन-चरित** :— इसकी रचना कवि मनरंगलाल ने विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में की थी। इसमें सप्तव्यसन की हानियों को दर्शाया गया है। जुआ, मांसभक्षण, मदिरापान, वेश्यासेवन, शिकार, परस्त्रीसेवन, चोरी– ये सात व्यसन हैं।

19. **धन्यकुमार-चरित** :— इसकी रचना जैनग्रन्थों के लोकप्रिय वचनिकाकार पं० जयचन्द छाबड़ा ने विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में की थी। इसमें श्रेष्ठिपुत्र धन्यकुमार के जीवन-चरित्र का वर्णन है।

इसके अतिरिक्त खुशालचन्द काला कृत धन्यकुमार-चरित व जंबूस्वामिचरित, लोहट कृत यशोधर-चरित, नथमल बिलाला कृत जम्बूस्वामिचरित व जीवंधरस्वामिचरित भी हिन्दी-जैन-चरितकाव्य-परम्परा की उल्लेखनीय कृतियाँ हैं।

3.2. जैन-चरितकाव्यों का संरचना-विधान और पं० दौलतराम के चरितकाव्यः–

जैन-चरितकाव्य-परंपरा के उपर्युक्त सिंहावलोकन से स्पष्ट होता है कि जैन-साहित्य में चरितकाव्यों की परम्परा बहुत सम्पन्न है, जैन-कवियों द्वारा बड़ी संख्या में चरितकाव्य लिखे गये हैं और उनकी एक विशिष्ट सामान्य संरचना रही है। अतः अब यहाँ यह ज्ञातव्य है कि परंपरागत जैन-चरितकाव्यों का संरचना-विधान कैसा है और महाकवि पं० दौलतराम के चरितकाव्यों में उसका कितना निर्वाह हुआ है।

3.2.1. जैन-चरितकाव्यों का संरचना-विधानः–

जैन-चरितकाव्यों की संरचना को हम प्रमुख तत्त्वों के आधार पर इस प्रकार समझ सकते हैंः–

1 कथावस्तुः– जैन-चरितकाव्यों की कथावस्तु प्रायः पौराणिक होती है और उसका मूल स्रोत मुख्यरूप से महापुराण, हरिवंशपुराण और पद्मपुराण नामक जैन-पुराणग्रन्थ ही होते हैं। जिस प्रकार समस्त हिन्दू-कथा-साहित्य के प्रधान उपजीव्य ग्रन्थ 'रामायण' और 'महाभारत' हैं, उसी प्रकार समस्त जैन-कथा-साहित्य के मुख्य आधार उक्त तीन पुराणग्रन्थ हैं।

जैन-चरितकाव्यों का नामकरण प्रायः नायक के नाम के आधार पर ही होता है, किन्तु कुछ चरितकाव्यों के नाम नायिका के नाम पर भी रखे गये हैं। जैसे – अंजनाचरित, सीताचरित आदि।

जैन-चरितकाव्यों की कथावस्तु का विभाजन सर्गों, परिच्छेदों या अध्यायों में होता है, किन्तु उनकी संख्या निश्चित नहीं है। किसी चरितकाव्य में मात्र पाँच सर्ग या परिच्छेद हो सकते हैं, जैसे– मल्लिषेण कृत 'नागकुमारचरित'; और किसी चरितकाव्य में एक सौ तेईस सर्ग या परिच्छेद भी हो सकते हैं, जैसे – आचार्य रविषेण कृत 'पद्मचरित'। वैसे एक सौ तेईस सर्ग तो अपवाद ही समझना चाहिए, क्योंकि आचार्य रविषेण कृत 'पद्मचरित' के अतिरिक्त अन्य किसी चरितकाव्य में इतने सर्ग नहीं हैं। अधिक से अधिक सर्ग इकतीस हैं, जो जटासिंह नन्दि कृत 'वरांगचरित' में मिलते हैं। सामान्यतः हिन्दी के चरितकाव्यों में पाँच, छः या सात सर्ग ही होते हैं।

प्रथम सर्ग में सर्वप्रथम मंगलाचरण होता है, जिसमें कवि अपने इष्टदेव सिद्ध परमात्मा या भगवान महावीर को नमस्कार करके अपनी गुरु-परंपरा को भी नमस्कार करता है। कहीं-कहीं मंगलाचरण में ही वस्तुनिर्देश भी होता है। मंगलाचरणोपरान्त कवि नाना प्रकार से दृष्टान्त दे-देकर अपनी लघुता प्रकट करता है और सम्बन्धित महापुरुष के चरित का वर्णन करने में अपनी असामर्थ्य घोषित करता है; साथ ही यह भी कहता है कि मैं असमर्थ और अल्पज्ञ होते हुए भी भक्तिवश इस चरित को लिखने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

इसके बाद कथावस्तु का प्रारम्भ होता है, जो प्रायः समस्त जैन-चरितकाव्यों में एक सुनिश्चित प्रश्नोत्तर शैली में ही होता है कि एक बार विपुलाचल पर्वत पर भगवान महावीर के समवशरण में राजा श्रेणिक भगवान महावीर या गौतम गणधर से सम्बन्धित महापुरुष के जीवन-चरित के विषय में प्रश्न करते हैं और फिर उसके उत्तरस्वरूप सारा चरितकाव्य अवतरित होता है। प्रश्नोत्तरया वक्ता-श्रोता

की यह शैली जैन-कथासाहित्य में ही नहीं, समूचे भारतीय साहित्य में प्राचीनकाल से प्राप्त होती है। प्रमाणस्वरूप 'महाभारत', 'कादम्बरी', 'रामचरितमानस' आदि ग्रन्थों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

इसके बाद जैन-चरितकाव्यों में सम्बधित कथा के भौगोलिक क्षेत्र का विस्तृत परिचय होता है, जो यद्यपि कहीं-कहीं कुछ अधिक विस्तृत हो जाता है और कथा में नीरसता भी उत्पन्न करता है, किन्तु पूर्णता उसी में प्राप्त होती है। इसमें कहा जाता है कि यह सम्पूर्ण विश्व दो भागों में बँटा हुआ है:— अलोकाकाश और लोकाकाश। लोकाकाश में तीन लोक हैं:— ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक। ऊर्ध्वलोक में स्वर्गादि हैं, अधोलोक में नरकादि हैं और मध्यलोक में असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं। इन असंख्यात द्वीप-समुद्रों में एक जम्बूद्वीप नामक श्रेष्ठ द्वीप है। जम्बू-द्वीप में भी एक भरतक्षेत्र नामक महा मनोहर क्षेत्र है। भरतक्षेत्र में भी एक अमुक नाम का देश है और उसमें भी एक अमुक नाम की नगरी है जो अपनी सुन्दरता में स्वर्ग को भी लज्जित करने वाली है, इत्यादि।

इसके बाद मूलकथा प्रारम्भ होती है जो किसी-न-किसी महापुरुष से ही सम्बन्धित होती है। उन महापुरुषों को जैन-साहित्य में त्रेसठ शलाकापुरुषों के नाम से जाना जाता है।[1] ये प्रत्येक कल्पकाल में पृथक्-पृथक् होते हैं। वर्तमान कल्पकाल के त्रेसठ शलाकापुरुषों का विवरण निम्नलिखित है जिनसे समूची जैन-चरितकाव्य-परंपरा सम्बन्धित है:—

24 **तीर्थंकर** :— 1.ऋषभ, 2. अजित, 3. संभव, 4. अभिनन्दन, 5. सुमति, 6. पद्मप्रभ, 7. सुपार्श्व, 8. चन्द्रप्रभ, 9. पुष्पदन्त, 10. शीतल, 11. श्रेयांस, 12. वासुपूज्य, 13. विमल, 14. अनन्त, 15. धर्मनाथ, 16. शान्तिनाथ, 17. कुंथुनाथ, 18. अरनाथ, 19. मल्लिनाथ, 20. मुनिसुव्रत, 21. नमिनाथ, 22. नेमिनाथ, 23. पार्श्वनाथ, 24. वर्धमान।

12 चक्रवर्ती :— 1. भरत, 2. सगर, 3. मधवा, 4. सनत्कुमार, 5. शान्तिनाथ, 6. कुंथुनाथ, 7. अरनाथ, 8. सुभौम, 9. पद्म, 10. हरिषेण, 11. जयसेन, 12. ब्रह्मदत्त।

9 बलदेव :— 1. विजय, 2. अचल, 3. सुधर्म, 4. सुप्रभ, 5. सुदर्शन, 6. नन्दी, 7. नन्दिमित्र, 8. राम, 9. पद्म।

9 नारायण :— 1. त्रिपृष्ठ, 2. द्विपृष्ठ, 3. स्वयंभू, 4. पुरुषोत्तम, 5. पुरुषसिंह, 6. पुण्डरीक, 7. दत्त, 8. नारायण (लक्ष्मण), 9. कृष्ण।

9 प्रतिनारायण :— 1. अश्वग्रीव, 2. तारक, 3. मेरक, 4. मधुकैटभ, 5. निशुंभ, 6. बलि, 7. प्रहरण, 8. रावण, 9. जरासंध।

---

1. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 4, पृष्ठ 9

उक्त 63 शलाकापुरुषों के अतिरिक्त जिन व्यक्तियों को जैन-चरितकाव्यों में प्रमुख स्थान मिला है, उनमें 24 कामदेवों के नाम भी उल्लेखनीय हैं:-

1. बाहुबली, 2. प्रजापति, 3. श्रीभद्र, 4. दर्शनभद्र, 5. प्रसेनचन्द्र, 6. चन्द्रवर्ण, 7. अग्निमुख, 8. सनत्कुमार, 9. वत्सराज, 10. कनकप्रभ, 11. मेघप्रभ, 12. शान्तिनाथ, 13. कुंथुनाथ, 14. अरनाथ, 15. विजयचन्द्र, 16. श्रीचन्द्र, 17. नल राजा, 18. हनुमान, 19. बलिराज, 20. वसुदेव, 21. प्रद्युम्न, 22. नागकुमार, 23. जीवन्धर, और 24. जम्बूस्वामी।

जैन-चरितकाव्यों में नायक का जन्म एक निश्चित शैली में होता है। नायक के जन्म से पूर्व उसकी माता को रात्रि के अंतिम प्रहर में अनेक शुभ स्वप्न आते हैं। प्रातःकाल होने पर माता अपने पति से उन स्वप्नों का फल पूछती है। राजा अपने निमित्त ज्ञान से बताते हैं कि उसके एक परम प्रतापी और बहुत धर्मात्मा पुत्र उत्पन्न होगा, जो अपनी कीर्ति से दशों दिशाओं को प्रकाशित करेगा। यह सुनकर माता बहुत प्रसन्न होती है और यथासमय नायक को जन्म देती है।

इनमें से जो चरितकाव्य तीर्थंकरों के जीवन से सम्बन्धित होते हैं, उनमें भारी एकरूपता दिखाई देती है। सभी तीर्थंकरों का जीवन जन्म से निर्वाण-पर्यन्त लगभग एक-सा होता है। सभी के पंचकल्याणक[1] देवों द्वारा समान रीति से मनाये जाते हैं। इन चरितकाव्यों में नामों का ही अन्तर विशेष दिखाई देता है, शेष सब वर्णन वही का वही होता है। इनमें कुछ नया बहुत कम होता है।

जैन-चरितकाव्यों की कथावस्तु में एक जन्म की ही नहीं, पूर्व के अनेक जन्म-जन्मान्तरों की कहानी गर्भित रहती है जिसके माध्यम से जैन-कवि, जैनधर्म के कर्म-सिद्धान्त का सुन्दर चित्रण करने में सफल रहते हैं। जन्मान्तरों के विवेचन के कारण इन काव्यों में एक ही कथा में अनेक उपकथाएँ गर्भित रहती हैं।

जैन-चरितकाव्यों की कथावस्तु में नायकप्रतिनायक का संघर्ष भी चित्रित रहता है, किन्तु वह भी मात्र इस जन्म का नहीं होता, अपितु अनेक जन्मों से चला आ रहा होता है। पार्श्वनाथ-विषयक चरितकाव्यों में कमठ और मरुभूति का संघर्ष विशेष उल्लेखनीय है। वास्तव में जैन-चरितकाव्यों का प्रयोजन यही प्रतिपादन करना होता है कि संसार में प्राणियों को जो भी संयोग-वियोग प्राप्त होते हैं, वे सब पूर्व कर्माधीन हैं, अतः उनसे राग-द्वेष करना व्यर्थ है।

जैन-चरितकाव्यों की कथा का अन्त तब होता है जब नायक परमपद मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है। यह जैन-चरितकाव्यों की एक ऐसी महत्त्वपूर्ण विशेषता है जो इन्हें जैनेतर-चरितकाव्यों से

---

1. तीर्थंकरों के जीवन में घटने वाले पाँच प्रमुख प्रसंगों को पंचकल्याणक कहते हैं। वे ये हैं:-गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और मोक्ष।

पृथक् और विशिष्ट स्थान प्रदान करती है। जैनेतर-चरितकाव्य नायक के राज्याभिषेक पर ही समाप्त हो जाते हैं, जबकि जैन-चरितकाव्य उससे भी आगे बढ़ते हैं और नायक को परम कल्याणरूप सिद्धदशा की प्राप्ति होने पर ही समाप्त होते हैं।

सबसे अन्त में कवि-प्रशस्ति और भरत-वाक्य होते हैं। रस-विधान की दृष्टि से, जैन-चरितकाव्यों के प्रधान रस शृंगार, वीर और शान्त हैं, जिनमें अन्तिम प्रधानता शान्त रस को ही प्राप्त होती है; किन्तु अन्य रसों का भी यथाप्रसंग समावेश होता है।

2. चरित्र-योजना :– पहले कहा जा चुका है कि जैन-चरितकाव्यों की कथा 63 शलाका पुरुषों से सम्बन्धित होती है। अतः स्पष्ट है कि जैन-चरितकाव्यों के प्रधान पात्र ये पुण्यशाली महापुरुष ही होते हैं जो राजपरिवार या अन्य प्रतिष्ठित उच्चकुल से सम्बन्धित होते हैं। इनमें धीरोदात्त नायक के लक्षण मिलते हैं। प्रायः ये सब चरमशरीरी और तद्भव मोक्षगामी[1] होते हैं। अधिकांश जैन-चरितकाव्य नायकप्रधान ही हैं, नायिकाप्रधान चरितकाव्य जैन-साहित्य में अपेक्षाकृत कम हैं।

जैन-चरितकाव्यों का नायक अद्भुत पराक्रम व पुण्य का धारक होता है, अतः उसे जीवन में नाना प्रकार की अनुकूलताएँ ही मिलती हैं। जो कदाचित् प्रतिकूलता आती भी है तो वह उनके पुण्य के प्रभाव से सहज ही विनष्ट हो जाती है।

जैन-चरितकाव्यों का नायक अत्यन्त सुन्दर रूप वाला होता है। साथ ही नाना प्रकार की कलाओं में भी कुशल होता है। इन कलाओं में सुगन्ध-परीक्षा, वीणा-वादन, विष-निवारण, नाग-वशीकरण, हस्ति-वशीकरण आदि प्रमुख हैं। अपने रूप-सौन्दर्य और कला-कौशल के कारण वह अनेक मानिनी कन्याओं को रिझाने में समर्थ होता है और उनके साथ विवाह करता है।

जैन-चरितकाव्यों के नायक की एक विशेषता यह भी है कि वह युद्ध, प्रेम आदि कार्यों को करते हुए भी मोक्षमार्गी होता है। वह अपने इस जन्म से ही नहीं, पिछले आठ–दस जन्मों से मोक्षमार्ग पर चल रहा होता है। मोक्षमार्ग का प्रारम्भ उसके जीवन में किसी मोक्षमार्गी मुनिराज का उपदेश सुनकर होता है।

जैन-चरितकाव्यों का नायक महाबलशाली और शूरवीर होता है, किन्तु अहिंसाप्रेमी भी होता है। वह हिंसारूप पाप से बचने की यथा-संभव कोशिश करता है। उसकी वीरता अत्यन्त सात्त्विक होती है।

---

1. जो मनुष्य उसी जन्म से मोक्ष की प्राप्ति करते हैं उन्हें चरमशरीरी और तद्भव मोक्षगामी कहते हैं।

जैन-चरितकाव्यों का नायक यद्यपि महापुण्यशाली होता है, किन्तु पूर्वजन्म के किसी पापवश उसे यहाँ कुछ दुःख भी उठाने पडते हैं, अपने परिवार या माता या पत्नी का वियोग झेलना पड़ता है। जीवंधर स्वामी को अपनी माता से सोलह वर्ष तक इसलिए अलग रहना पड़ता है, क्योंकि उन्होंने पूर्वजन्म में अज्ञानवश एक हंस पक्षी के बालक को सोलह दिन के लिए उसकी माता से अलग कर दिया था।

नायक की भाँति जैन-चरितकाव्यों की नायिका भी अत्यन्त रूपमती और विविध कलाओं की ज्ञाता होती है। उसके इस गुण के कारण, उसके माता-पिता उसके योग्य वर की प्राप्ति की चिन्ता करते रहते हैं। जैन-चरितकाव्यों की नायिका पतिव्रता स्त्री का उत्कृष्ट उदाहरण होती है। उसके शील में रंचमात्र दोष कभी स्वप्न में भी नहीं लगता है। जैन-चरितकाव्यों का प्रतिनायक क्रूर, पापी और हिंसक होता है जो नायक से व्यर्थ ही वैरभाव धारण करता दिखाई देता है। यद्यपि उसका यह वैरभाव अनेक जन्मों से चल रहा होता है, किन्तु अन्त में वह अपनी भूल स्वीकार करता है और नायक के कल्याणकारी मार्ग को अपना लेता है।

नायक-नायिका और प्रतिनायक के अतिरिक्त जैन-चरितकाव्यों में अनेक पात्र होते हैं, जो प्रायः सभी नायक के सहयोगी होते हैं और अन्त में उनमें से अधिकांश पात्र नायक के साथ ही संसार से विरक्त होकर जिनदीक्षा अंगीकार कर लेते हैं। पुरुषपात्र मुनि हो जाते हैं और स्त्रीपात्र आर्यिका।

जैन-चरितकाव्यों में दैवी पात्रों के भी दर्शन होते हैं। यथाः– सौधर्मेन्द्र, स्वर्ग के देव-देवियाँ, यक्ष, यक्षिणी आदि। ये सभी दैवी पात्र नायक की सेवा और सहायता में सदैव तत्पर रहते हैं।

3. उद्देश्य :– कहा जा चुका है कि जैन-चरितकाव्य प्रथमानुयोग की कोटि में आते हैं, अतः स्पष्ट है कि उनका भी मुख्य उद्देश्य वही है जो प्रथमानुयोग का है। प्रथमानुयोग का उद्देश्य आचार्यकल्प पं० टोडरमल के शब्दों में इस प्रकार है :–

"प्रथमानुयोग विषैं तो संसार की विचित्रता, पुण्य-पाप का फल, महन्त पुरुषनि की प्रवृत्ति इत्यादि निरूपण करि जीवनि कों धर्म विषैं लगाय हैं। जे जीव तुच्छबुद्धि होंय ते भी तिस करि धर्मसन्मुख हो हैं जातैं वे जीव सूक्ष्म निरूपण कौं पहचानै नाहीं, लौकिक वार्तानि कौं जानै।

तहाँ तिनका उपयोग लागै। बहुरि प्रथमानुयोग विषैं लौकिक प्रवृत्ति रूप ही निरूपण होते ताकों ते नीके समझ जांय। बहुरि लोकविषैं तो राजादिक की कथानि विषैं पाप का पोषण हो है। तहाँ महन्त पुरुष राजादिक तिनकी कथा तो हैं, परन्तु प्रयोजन जहाँ तहाँ पाप को छुड़ाय धर्म विषैं लगावने का

प्रगट करें हैं; तातैं जे जीव कथानि के लालचकरि तो तिसकों बांचै सुनै, पीछैं पाप को बुरा, धर्म को भला जानि धर्म तैं रुचिवंत हो हैं।"[1]

इस प्रकार यह अत्यन्त स्पष्ट है कि जैन-चरितकाव्यों का वास्तविक उद्देश्य रोचक रीति से मनुष्य का आध्यात्मिक परिष्कार करना है।

4. निष्कर्ष :– निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि जैन-चरितकाव्यों में परस्परबड़ा सादृश्य है और उनमें अनेक विशेषताएँ ऐसी हैं जो प्रायः सभी में समान रूप से दृष्टिगोचर होती हैं:–

(क) जैन-चरितकाव्यों का नामकरण प्रायः नायक या नायिका के नाम पर होता है।

(ख) उनका कथानक जैन-पुराणों में प्रसिद्ध 63 शलाका पुरुषों से सम्बन्धित होता है।

(ग) कथा का प्रारम्भ वक्ता-श्रोता या प्रश्नोत्तर की प्राचीन शैली में होता है। वक्ता के रूप में प्रायः सर्वत्र गौतम गणधर होते हैं और श्रोता के रूप में मगध-नरेश राजा श्रेणिक।

(घ) सभी जैन-चरितकाव्यों का मूलाधार जैन पौराणिक आख्यान होते हैं।

(ङ) जैन-चरितकाव्यों में नायक, प्रतिनायक और उनसे सम्बद्ध प्रमुख व्यक्तियों के अनेक जन्म-जन्मान्तरों का वर्णन किया जाता है। इनमें नायक को उत्तरोत्तर उन्नत और प्रतिनायक को जन्म-जन्मान्तर में नायक से शत्रुता करते हुए दिखाया जाता है। अन्ततः प्रतिनायक नायक के समक्ष अपनी हार स्वीकार करता है और नायक के मार्ग पर चलने लगता है।

(च) भारतीय साहित्य की प्राचीन परंपरानुसार इन काव्यों में भी प्रसंगतः दार्शनिक एवं धार्मिक तत्त्वों का समावेश पाया जाता है। इसी कारण कहीं–कहीं कोई काव्य नीरस भी लगने लगता है।

(छ) जैन-चरितकाव्यों का अन्तिम उद्देश्य जनता का आध्यात्मिक परिष्कार है, अतः इन काव्यों में भोग पर त्याग की विजय दिखलाई जाती है।

(ज) कथा का विभाजन सर्गों, परिच्छेदों या अध्यायों में होता है।

(झ) ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगलाचरण होता है जो नमस्कारात्मक ही नहीं, वस्तुनिर्देशात्मक भी होता है।

(ञ) उनका प्रधान रस शान्त होता है, किन्तु शृंगार आदि अन्य रसों का भी यथाप्रसंग उत्कृष्ट वर्णन प्राप्त होता है।

---

1. मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ 394

(ट) कथा का नायक बुद्धि, बल, सौन्दर्य आदि उत्तम गुणों से युक्त महापुण्यशाली पुरुष होता है तथा नायिका भी शील एवं सौन्दर्य की अनन्य मूर्त्ति होती है।

(ठ) नायक अन्त में सांसारिक वैभव का त्याग करके मुनि हो जाता है और परमपद मोक्ष की प्राप्ति करता है।

(ड) जैन-चरितकाव्यों में अन्त में प्रशस्ति लिखी गई है, जिसमें ग्रन्थ-रचना का समय, तत्कालीन राजा एवं अन्य ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लेख किया गया है। कहीं-कहीं मंगलाचरण में भी पूर्वकवियों की प्रशस्ति प्राप्त होती है, जो प्रायः सर्वत्र कालानुक्रमिक है। अतएव जैन-चरितकाव्यों के मंगलाचरण और अन्तिम प्रशस्ति-पद्यों का ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा महत्त्व है।

3.2.2. पं० दौलतराम के चरितकाव्यों का संरचना-विधानः—

पं० दौलतराम कासलीवाल के चरितकाव्यों का संरचना-विधान यद्यपि जैन-चरितकाव्यों के परम्परित संरचना-विधान के पर्याप्त अनुकूल है, तथापि कहीं-कहीं कुछ भिन्नता भी दृष्टिगोचर होती है। पं० दौलतराम के चरितकाव्यों के संरचना-विधान को प्रमुख तत्त्वों के आधार पर इस प्रकार समझा जा सकता है :—

(1) **कथावस्तुः**— पं० दौलतराम कासलीवाल के तीनों चरितकाव्यों की कथावस्तु मूलतः धार्मिक है और उसका मुख्य स्रोत महापुराणादि जैन-पुराण-ग्रन्थ हैं। 'जीवंधरस्वामिचरित' की कथा का स्रोत बताते हुए स्वयं कवि ने लिखा है कि "इह जीवन्धर चरित पूरन, भास्यों महापुराण मैं ।"[1]

जैन-चरितकाव्य-परम्परा की भाँति पं० दौलतराम के तीनों चरितकाव्यों का नामकरण नायक के नाम पर हुआ है, जैसा कि उनके नामों से स्पष्ट है।

जैन-चरितकाव्य-परम्परा के ग्रन्थों की कथावस्तु का विभाजन सर्गों या अध्यायों में होता है, किन्तु पं० दौलतराम के तीन चरितकाव्यों में से मात्र एक 'जीवन्धरस्वामिचरित' की ही कथा का विभाजन परिच्छेदों में किया गया है। शेष दो चरितकाव्यों की कथा का विभाजन सर्गों या परिच्छेदों में नहीं किया गया है। उनमें एक ही प्रवाह के साथ पूरी कथा को प्रस्तुत कर दिया गया है।

जैन-चरितकाव्य-परम्परा की भाँति पं० दौलतराम के तीनों चरितकाव्यों के प्रारम्भ में मंगलाचरण और अन्त में ग्रन्थ-प्रशस्ति प्राप्त होती है। मंगलाचरण नमस्कारात्मक होने के साथ-साथ वस्तुनिर्देशात्मक भी है। ग्रन्थ-प्रशस्ति 'जीवन्धरस्वामिचरित' की विस्तृत है और शेष दो चरितकाव्यों की संक्षिप्त।

---

1. जीवंधरस्वामिचरित, छन्द 5/125

पं० दौलतराम के चरितकाव्यों की कथावस्तु का प्रारम्भ जैन-चरितकाव्यों की उसी परम्परित प्रश्नोत्तर शैली से होता है जिसमें राजगृही-नरेश श्रेणिक भगवान महावीर या गौतमादि गणधरों से सम्बन्धित महापुरुष के विषय में प्रश्न करते हैं और उसके उत्तरस्वरूप सारा चरितकाव्य अवतरित होता है। 'जीवन्धरस्वामिचरित' और 'श्रीपालचरित' के वक्ता-श्रोता क्रमशः सुधर्म-श्रेणिक एवं गौतम-श्रेणिक हैं। 'श्रेणिकचरित' की एकमात्र पाण्डुलिपि का प्रथम पत्र अनुपलब्ध है, अतः उसके सम्बन्ध में यहाँ कुछ नहीं कहा जा सकता।

जैन-चरितकाव्यों में कथा से पूर्व सम्बन्धित भौगोलिक क्षेत्र का भी विस्तृत परिचय प्राप्त होता है, किन्तु पं० दौलतराम के चरितकाव्यों में यह अति संक्षिप्त है जो कथा की सरसता एवं प्रवाहशीलता की दृष्टि से कवि का उचित कार्य है।

जैन-चरितकाव्यों में प्रधानतया जैन-पुराणों में प्रसिद्ध त्रेसठ शलाका पुरुषों के जीवन-चरित्र का निरूपण होता है, किन्तु पं० दौलतराम के तीनों चरितकाव्य इस बन्धन से मुक्त हैं। उनके तीनों नायक– जीवन्धर, श्रीपाल एवं श्रेणिक– त्रेसठ शलाका पुरुषों की कोटि में नहीं आते। यही कारण है कि उनका चरित्र-निरूपण भी परम्परित या रूढ़ पद्धति में नहीं किया गया है।

जैन-चरितकाव्यों की कथावस्तु में पात्रों के एक जन्म का ही नहीं, अपितु पूर्व के अनेक जन्म-जन्मान्तरों का वर्णन होता है। यद्यपि पं० दौलतराम के चरितकाव्यों में भी पात्रों के पूर्वजन्मों का वर्णन प्राप्त होता है, किन्तु वह अनेक जन्म-जन्मान्तरों का नहीं है, मात्र एक या दो ही पूर्वजन्मों तक सीमित है। चरितकाव्यों के सम्बन्ध में यह भी कवि का मौलिक दृष्टिकोण है। इससे कथा की रसात्मकता में वृद्धि हुई है।

जैन-चरितकाव्य-परम्परा की भाँति पं० दौलतराम के चरितकाव्यों की कथा के अन्त में भी नायक अपने अनेक सहयोगियों के साथ समस्त राज्य-वैभवादि का त्याग करके निर्ग्रन्थ मुनि दीक्षा धारण कर लेता है और पूर्ण आत्मिक शुद्धि के द्वारा परमपद मोक्ष की प्राप्ति करता है। जैन-चरितकाव्य-परम्परा की भाँति पं० दौलतराम के चरितकाव्यों का पर्यवसान शान्त रस में होता है। कथा के अन्त में कवि-प्रशस्ति और भरत–वाक्य भी देखने को मिलते हैं।

2. चरित्र-गठन :– समूची जैन-चरितकाव्य-परंपरा की प्रकृति के अनुरूप महाकवि पं० दौलतराम कासलीवाल के चरितकाव्यों में भी हमें प्रायः सभी पात्र धर्मात्मा प्रकृति के प्राप्त होते हैं, क्योंकि समस्त जैन-चरितकाव्यों का मूल प्रयोजन धर्मात्मा पुरुषों के जीवन द्वारा प्राथमिक जीवों को धर्म के मार्ग में लगाना रहा है।

इन चरितकाव्यों में मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी भी धर्मात्माओं के सम्पर्क में आकर धर्मात्मा होते देख जाते हैं।

पं० दौलतराम कासलीवाल कृत चरितकाव्यों के पात्रों को हम अनेक प्रकार से वर्गीकृत करके समझ सकते हैं। यथा– लिंग के आधार पर वे दो प्रकार के हैं:– स्त्री पात्र और पुरुष पात्र।मनुष्यत्व के आधार पर वे दो प्रकार के हैं:– मानव पात्र और मानवेतर पात्र। जीवंधर, काष्ठांगारिक, गंधोत्कट आदि पात्र मानव पात्र हैं तथा यक्ष, यक्षिणी आदि मानवेतर पात्र हैं। क्रिया के आधार पर दौलतराम के चरितकाव्यों के पात्र दो प्रकार के हैं:– गतिशील और स्थिर। गंधोत्कट, मुनिराज, प्रजापाल आदि स्थिर पात्र हैं तथा जीवंधर, श्रीपाल आदि गतिशील पात्र हैं।

महाकवि पं० दौलतराम की चरित्र-चित्रण-शैली से परिचित होने के लिए यहाँ 'जीवन्धरस्वामिचरित' के नायक जीवन्धर स्वामी और प्रतिनायक काष्ठांगारिक का चरित्र-चित्रण प्रस्तुत है:–

(क) **जीवंधर स्वामी** :– जीवंधर स्वामी 'जीवंधरस्वामिचरित' के कथानायक हैं। 'जीवंधरस्वामिचरित' का अध्ययन करने पर वे हमारे समक्ष एक ऐसे महापुरुष के रूप में उपस्थित होते हैं जो सर्वगुणसम्पन्न है; सुन्दर भी है, बुद्धिमान भी है, विद्यावान भी है, विविधकलाओं में कुशल भी है। पराक्रमी और शूरवीर भी है, महापुण्यशाली भी है, सच्चा धर्मात्मा भी है, परोपकारी भी है, मधुरभाषी भी है, जिनेन्द्रभक्त भी है और आगे चलकर बनने वाला जिनेन्द्र भी है।

'जीवंधरस्वामिचरित' में जीवंधर स्वामी के तीन भवों का चित्रण हुआ है। तदनुसार वे पहले भव में पूर्वविदेह के पुष्कलावती देश की पुण्डरीकणी नगरी के राजा जयंध का पुत्र जयद्रथ थे। इस भव में उन्होंने अज्ञानवश एक बालहंस को अपनी माता से सोलह दिन के लिए अलग कर दिया था, किन्तु बाद में अपनी माता के समझाने पर अपने मन में बहुत पश्चात्ताप किया और फिर कुछ दिन बाद मुनिदीक्षा लेकर घोर तप किया। इसके बाद अगले दूसरे भव में वे सहस्रार नामक बारहवें स्वर्ग में देव हुए तथा तीसरे भव में भरतक्षेत्र के हिमांगद देश के राजपुर नगर के राजा सत्यंधर के पुत्र जीवंधर हुए। 'जीवंधरस्वामिचरित' में उनके इस तीसरे भव का ही विस्तार से चित्रण है।

जीवंधर स्वामी का उल्लेख जैन-साहित्य में वर्णित 24 कामदेवों में हुआ है। कामदेव सर्वांग सुन्दर पुरुष होते हैं, अतः ज्ञात होता है कि जीवंधर स्वामी अत्यन्त सुन्दर रूप को धारण करनेवाले हैं। महाकवि पण्डित दौलतराम कासलीवाल ने भी 'जीवन्धरस्वामिचरित' में यत्र-तत्र अनेक स्थानों पर इनकी सुन्दरता का उल्लेख किया है। यथा:–

1 "अति सुरूप सुन्दर महा, ... ।[1]"

2 "महा मनोहर रूप रसाल। मानौं ऊग्यौ चंद बिसाल।।"[2]

3 "..... –सुन्दर सुधा अपार।"[3]

4 "तब याकौं निज रूप दिखायो। परै जाहि लखि सुर सरमायो।।"[4]

जीवंधर स्वामी विचक्षण बुद्धि के धारक हैं। बालावस्था में ही उन्होंने अपनी बुद्धिमत्ता से एक राहगीर तपस्वी को अत्यन्त प्रभावित कर दिया था :– "यद्यपि तेरी वय है छोटी, तौ पनि तो मैं मति अति मोटी"[5]। जीवंधरस्वामी की बुद्धि लौकिक मार्ग में ही अग्र नहीं है, अलौकिक या पारमार्थिक मार्ग में भी अत्यन्त निपुण है। कवि का कहना है कि उन्होंने अपनी विलक्षण बुद्धि से अपने समस्त अज्ञान-अंधकार का नाश कर दिया।[6]

जीवंधर स्वामी अनेक विद्याओं के धारक हैं। उन्होंने गुरु आर्यवर्मा के सान्निध्य में शस्त्र, शास्त्र छन्द, व्याकरण, गद्य, पद्य आदि अनेक विद्याएँ अर्जित कीं। कवि के अनुसार वे इन विद्याओं से सूर्य की भाँति दीप्त होने लगे।[7]

जीवंधर स्वामी विविध कलाओं में अत्यन्त कुशल हैं, जिनमें सुगंध-परीक्षा, वीणा-वादन, हस्ति-वशीकरण, शर-संधान आदि कलाएँ प्रमुख हैं। सुगंध-परीक्षा और हस्ति-वशीकरण के द्वारा उन्होंने सुरमंजरी नामक रूपवती कन्या का हृदय जीता[8], वीणा-वादन द्वारा उन्होंने गंधर्वदत्ता[9] और गुणमाला[10] को मोहित किया और शर-संधान द्वारा उन्होंने दुर्लभ कन्या हेमाभा से विवाह किया।[11]

जीवंधर स्वामी अतुल बल के धारक हैं। किशोरावस्था में ही उन्होंने कालकूट भील को युद्ध में उसी प्रकार पराजित कर दिया था, जिस प्रकार सम्यक्नय दुर्नयों को पराजित कर देते हैं।[12] इसी

1. जीवंधरस्वामिचरित, छन्द 1/8
2. वही, छन्द 1/47
3. वही, छन्द 5/23
4. वही, छन्द 4/133
5. वही, छन्द 1/103
6. वही, छन्द – 5/120
7. वही, छन्द, 1/118--119
8. वही, छन्द 2/70
9. वही, छन्द 2/41
10. वही, छन्द 4/
11. वही, छन्द 3/60
12. वही, छन्द 1/142

प्रकार काष्ठांगारिक के काल-समान कोतवाल को भी भगा दिया था, जो इनके प्राण लेने आया था। उसके अतिरिक्त भीलों के राजा हरिविक्रम के चंगुल से श्रीचन्द्रा को छुड़ाना आदि अनेक घटनाएँ ऐसी हैं जो जीवंधर स्वामी के अतुल बल को प्रकट करती हैं। जीवंधर स्वामी ने अपनी शूरवीरता से काष्ठांगारिक को भी युद्ध में जीतकर परलोक पहुँचा दिया था। इस प्रसंग में कहा गया जीवंधर स्वामी का यह कथन यहाँ विशेषतया उल्लेखनीय है :–

"लियो धनी कौ राज इह, अब मैं मारौं याहि।
जाय रसातल मैं घुसैं, तौउ न छोड़ौं ताहि।।"

काष्ठांगारिक की राज-सभा में युद्ध से पूर्व विचार-विमर्श करते समय काष्ठांगारिक–मंत्री का निम्नलिखित कथन भी यह प्रकट करता है कि दुश्मन भी जीवंधर स्वामी की शूरवीरता का लोहा मानते थे :–

"इह जीवंधर अति प्रबल, महाभाग मतिवंत।
अर इह डीला अति सुभट, है अभेद्य रण मांहि।
तातैं यासौं युद्ध की, मन मैं आवैं नाहिं।।"

जीवंधर स्वामी शूरवीर और महाबलशाली होकर भी हिंसाभीरु हैं। उनके मन में अपार जीवदया है। वे जहाँ तक संभव हो,युद्ध से बचना ही चाहते हैं; क्योंकि युद्ध में घोर जीवहिंसा होती है। काष्ठांगारिक के योद्धाओं के युद्ध हेतु तैयार होने पर वे सोचते हैं :–

"कहा रंक ए मौसौं लरैं। मेरे वांणनि तैं सब मरैं।।
पनि हिंसा सौ और न पाप। जीवनि कौ करणौ न सताप।।
तातैं कोइ उपाय विचारि। मेटौं पाप कारिणी रारि॥"[3]

इसी प्रकार हरिविक्रम के युद्ध हेतु तैयार होने पर भी वे युद्ध टालने की बहुत कोशिश करते हैं। सोचते हैं कि–

"नास होयगौ बहु जीवनि कौ, या मैं कछु न भलाई।"

---

1. जीवंधरस्वामिचरित, छन्द 5/44
2. वही, छन्द 5/8 एवं 12
3. वही, छन्द 2/103–104
4. वही, छन्द 3/176

जीवंधर स्वामी का हृदय करुणा और परोपकार की भावना से भरा हुआ है। वे किसी भी प्राणी को चाहे वह सामान्य पशु-पक्षी ही हो, दुःखी नहीं देख सकते हैं। एक बार की बात है कि एक कुत्ता एक गहरे गड्ढे में गिरकर मरणासन्न हो गया। जीवंधर स्वामी ने जैसे ही उसे देखा, तुरन्त बाहर निकलवाया और उसके कान में णमोकार महामंत्र सुनाया, जिसके प्रभाव से वह देवगति को प्राप्त हुआ। इसी प्रकार एक बार कालकूट भील ने नगर के गाय आदि पशुओं पर घोर उपद्रव प्रारम्भ कर दिया था, जिसे जीवदया से प्रेरित होकर ही जीवंधर स्वामी ने दूर किया था।

जीवंधर स्वामी महापुण्यशाली हैं। श्मशान में जन्म होने पर भी उनका कोई बाल-बाँका नहीं हुआ। वे सुरक्षित रूप से सेठ गंधोत्कट के घर पहुँच कर वृद्धि को प्राप्त होने लगे। यह उनके महापुण्य का ही प्रभाव है।[1] सहस्रकूट चैत्यालय के बंद पड़े हुए विशाल कपाट भी उनके महापुण्य से ही खुले थे।[2] सागरदत्त नामक वणिक को अपनी दुकान में अपार लाभ की प्राप्ति भी उनके पुण्य-प्रभाव से हुई।[3] गंधर्वदत्ता आदि आठ अत्यंत रूपवती और दुर्लभ कन्याओं की प्राप्ति भी उन्हें पुण्य से ही हुई थी।[4]

जीवंधर स्वामी गंभीर प्रकृति के महापुरुष हैं। किसी भी आवेश में आकर वे कभी कोई कार्य नहीं करते। अपनी माता से काष्ठांगारिक के षड़यन्त्र को सुनकर उन्हें क्रोध तो बहुत आता है, पर वे यह सोचकर अपने हृदय में ही दबा लेते हैं कि :–

"निज मन मैं धारी तव स्वांमी। बिना समै सूरत्व न कांमी।।

सब कारिज कौ साधन काला। काल पाय है धान विसाला।।[5]"

उनका यह स्वभाव उन्हें धीरोदात्त नायक की कोटि में रखता है।

जीवंधर स्वामी एक अत्यन्त योग्य राजा भी हैं। उन्होंने दुष्ट राजा का विनाश किया, प्रजाजनों को सन्तुष्ट किया और सारे राज्य में अभय-घोषणा करवाई। उन्होंने राज्य के समस्त शत्रुओं को सहज ही जीत लिया एवं समस्त प्रजा का दया भाव से पालन किया।[6]

---

1. जीवन्धरस्वामिचरित, छन्द 1/70–71
2. वही, छन्द 3/21
3. वही, छन्द 4/81
4. वही, छन्द 5/119
5. वही, छन्द 4/72
6. वही, छन्द 5/61

जीवंधर स्वामी धर्मात्मा प्रकृति के महापुरुष हैं। जिनेन्द्र देव, निर्ग्रन्थ गुरु और दयामय धर्म की आराधना उनके रोम-रोम में भरी हुई है। उनकी इस सच्ची भावना के कारण सहस्रकूट चैत्यालय के बन्द पड़े हुए विशाल कपाट स्वयमेव खुल गये, जहाँ उन्होंने अत्यन्त तल्लीनता के साथ जिनेन्द्रदेव के दर्शन किये :– "जिन स्तवन करने लागौ, अति भक्त शान्तरस पागौ।[1]" जीवन्धर स्वामी ने एक बार वन में चारणऋद्धिधारी मुनिराज को भक्तिपूर्वक आहारदान भी दिया था, जिसके प्रभाव से पंच आश्चर्य हुए थे।

जीवंधर स्वामी के धर्मात्मा व्यक्तित्व के मुख्यतः तीन रूप हैं। सबसे पहले उन्होंने वरधर्म नामक मुनिराज के उपदेश से सम्यग्दर्शन और अणुव्रतों को धारण किया था, इसके बाद वे समस्त संसार-शरीर-भोगों से विरक्त होकर निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि बन गये और इसके भी बाद वे आत्मध्यान में पूर्ण लीन होकर, अपने समस्त रागादि विकारों को नष्ट कर परम वीतरागी परमात्मा बन गये।

(ख) **काष्ठांगारिक** :– यह 'जीवंधरस्वामिचरित' का प्रतिनायक है, जो कृतघ्नता, क्रूरता, कायरता, अज्ञान आदि अनेक अवगुणों से युक्त है।

काष्ठांगारिक कृतघ्न है। वह जिस थाली में खाता है उसी में छेद करता है। कभी वह सिर पर रखकर लकड़ी और कोयला बेचा करता था,[2] किन्तु जिस राजा सत्यन्धर ने उस पर इतनी कृपा की कि वह मंत्री बन गया, उसी राजा सत्यन्धर को उसने षड़यंत्र करके मार डाला। उसने इस कहावत को चरितार्थ कर दिया कि साँप को कितना ही दूध पिलाओ, परन्तु वह जहर ही उगलता है।

काष्ठांगारिक दूसरों की उन्नति से जलता है और उन्हें जान से मारने का भरसक प्रयास करता है। जीवंधर स्वामी की चारों ओर कीर्ति फैलती देखकर वह मन ही मन बहुत ईर्ष्या करता है और चंडदंड नामक क्रूर कोतवाल को आज्ञा देता है कि तुरन्त जीवंधर को मार दिया जाए; किन्तु स्वयं ही मारा जाता है।

(3) **उद्देश्य** :– जैन-चरितकाव्य-परम्परा की भाँति पं० दौलतराम कासलीवाल के चरितकाव्यों का उद्देश्य भी वस्तुतः जनता का धार्मिक या आध्यात्मिक परिष्कार करना है। जो मनुष्य निरंतर पापकार्यों में लीन रहते हैं उनको कवि ने अपने चरितकाव्यों के द्वारा यह अमृत-सन्देश दिया है कि हे जीवो! पापबुद्धि अत्यन्त दुःखदायी है, उससे जन्म-जन्मान्तरों में नाना दुःख सहन करने पड़ते हैं; अतः उसे सर्वथा छोड़ो और अपने हृदय में सदैव उस धर्म को धारण करो जो सर्व सुखों को देनेवाला है। यथा:–

1. जीवन्धरस्वामिचरित, छन्द 3/22
2. वही, छन्द 5/10

"धर्म सकल सुखदाय है, तातें भवि उर आन।

पाप बुद्धि दुखदा सही, छांडन की बुद्धि ठान।। [1]"

महाकवि पं० दौलतराम ने अपने चरितकाव्यों के माध्यम से मानव को सदाचार की पावन प्रेरणा भी दी है। 'जीवन्धरस्वामिचरित' के अन्त में पुनः कथा-सार लिखते हुए कवि स्पष्ट कहता है कि हे भव्य जीवो! इस चरित से यह शिक्षा ग्रहण करो कि सभी जीव अपने समान हैं और उनको कोई कष्ट मत पहुँचाओः—

"इह उर में धरि भव्य जीवा, सुजन विछोहा जनि करौ।

सकल जीव हैं आप सारिखा, इह जिन आग्या उर धरौ। [2]"

तथा प्रमाद, विषाद, विवादादि का सम्पूर्णतः त्याग करके संसार-शरीर-भोगों से विरक्त होओ और अपने जीवन को अत्यन्त वैराग्यमय बनाओः—

"तजौ प्रमाद विषाद सारा, नाहिं विवाद जु उर धरौ।

भव तन भोग विरत्त चित्ता, दिढ़ वैराग जु अनुसरौ।। [3]"

तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को धारण करके अपने शुद्ध-बुद्ध आत्मस्वरूप को पहचानोः—

"जिन आज्ञा उर धारि, धरौं रतनत्रय विमला।

लखौ आपनौं रूप, शुद्ध बुद्ध जु अति अमला।। [4]"

3.3. प्रतिपाद्य :—

महाकवि पं० दौलतराम कासलीवाल के चरितकाव्यों में धर्म, दर्शन, नीति आदि अनेक विषयों का प्रतिपादन हुआ है।

3.3.1. धर्म :—

महाकवि पण्डित दौलतराम कासलीवाल के चरितकाव्यों का मुख्य प्रतिपाद्य है धर्म, क्योंकि वे प्रधानतः धार्मिक प्रेरणा से लिखे गये हैं। धर्म के विषय में कवि का कहना है कि व्यवहार से जीवदया का नाम धर्म है और निश्चय से वस्तुस्वभाव का नाम धर्म है।[5]

---

1. श्रीपालचरित, छन्द 753
2. जीवन्धरस्वामिचरित, छन्द 5/121
3. वही, छन्द 5/124
4. वही, छन्द 5/124
5. वही, छन्द 5/66-67

धर्म के विषय में ही कवि यह भी कहता है कि धर्म स्वर्ग-मोक्ष का देनेवाला है, धर्म के समान श्रेष्ठ वस्तु दुनिया में और कोई नहीं है। तथा धर्म को सही रूप में वे ही जीव धारण करते हैं जो अपनी आत्मा को जानते हैं। यथा :–

"सुरग मुकति दातार, धर्म समान न वस्तु को।
जे आतम ग्यातार, ते ही धर्म धरैं सही।।[1]"

धारण करनेवालों की अपेक्षा यह धर्म दो प्रकार का होता है :–मुनिधर्म और श्रावकधर्म। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह – इन पाँच पापों का सर्वथा त्याग मुनिधर्म है और इन्हीं पाँच पापों का एकदेश या स्थूल त्याग श्रावकधर्म है।[2]

1. मुनिधर्म :– मुनिधर्म के सम्बन्ध में कवि का कहना है कि मुनि हुए बिना कभी किसी जीव को पूर्ण शुद्ध सिद्ध दशा की प्राप्ति नहीं हो सकती, अतः मोक्षार्थी को मुनिदशा ग्रहण करने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए। मुनि पंच आचार, दस धर्म, द्वादशविधि संयम और तप को धारण करने वाले होते हैं। मुनियों के मूलगुण 28 और उत्तरगुण 84,00,000 होते हैं। वे बाईस परिषह भी सहन करते हैं, मुनियों के जीवन में माया, मोह, मिथ्यात्व आदि नहीं हाते। वे तो निरन्तर शम, दम, यम, नियम और ध्यान में लीन रहकर अमृतरस का पान करते रहते हैं। मुनि प्रमाद, विषाद व विवाद से दूर रहते हैं और संसार-शरीर-भोगों से विरक्त रहकर दृढ़ वैराग्य का अनुसरण करते हैं।[3]

ऐसे इस मुनिधर्म की साधना, कवि के अनुसार, घर में रहकर नहीं हो सकती है; क्योंकि उसके दो कारण हैं:– एक तो घर में मोह का जाल है और दूसरे, उसमें आरम्भजनित हिंसा अवश्य होती है, जो कि मुनिधर्म के अत्यन्त प्रतिकूल है :–

"जगविरकत मत जैन कौ, सधै न घर के मांहि।
मोहजाल है घर विषै, यामैं संसै नांहि।।
धंधा बिनु नहिं होय घर, सो हिंसा कौ मूल।
हिंसा श्री जिनधर्म तैं, है अति ही प्रतिकूल।।[4]"

---

1. जीवन्धरस्वामिचरित, छन्द 3/132
2. वही, छन्द 5/73
3. वही, छन्द 5/123–124
4. वही, छन्द 5/98–99

2. **श्रावकधर्म** :— श्रावकधर्म 11 प्रकार का होता है, जिन्हें श्रावक की 11 प्रतिमाएँ कहते हैं। इन 11 प्रतिमाओं के नाम और स्वरूप निम्न प्रकार हैं :—

समस्त कुव्यसन और अभक्ष्य आहार के त्यागपूर्वक निर्मल सम्यग्दर्शन को धारण करने का नाम **पहली** दर्शन प्रतिमा है। इस प्रतिमा को धारण करने वाला श्रावक अनेक प्रकार के 25 दोषों का भी त्याग करता है।[1] 5 अणुव्रत, 3 गुणव्रत और 4 शिक्षाव्रत— इन 12 व्रतों को भली प्रकार अंगीकार करने का नाम **दूसरी** व्रत प्रतिमा है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह— पाँच पापों का एकदेश त्याग 5 अणुव्रत कहलाता है। दिग्व्रत, भोगोपभोगपरिमाणव्रत और अनर्थदण्डत्यागव्रत ये 3 गुणव्रत हैं। सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिसंविभाग और देशव्रत ये 4 शिक्षाव्रत हैं।[2] इन 12 व्रतों का पालन करनेवाले श्रावक को जीवन के अंत में समाधिमरण भी धारण करना योग्य है, क्योंकि इसी में दूसरी प्रतिमा धारण करने की सार्थकता है।[3] सामायिक के काल में मुनि की भाँति स्थिर होकर आत्मध्यान करने का नाम **तीसरी** सामायिक प्रतिमा है।[4] 16, 12 या 8 प्रहर का उपवास ग्रहण करने का नाम **चौथी** प्रोषधोपवास प्रतिमा है।[5] सचित्त पदार्थों के भक्षण का त्याग करना सचित्त त्याग नामक **पाँचवीं** प्रतिमा है।[6] दिन में स्त्रीसेवन का त्याग करना और रात्रि में भोजन का त्याग करना— इसका नाम दिवामैथुनत्याग अथवा रात्रिभुक्तित्याग नामक **छठी** प्रतिमा है।[7] सदा सर्वथा स्त्रीसेवन का त्याग करना **सातवीं** ब्रह्मचर्य प्रतिमा कहलाती है।[8] सर्व 'आरम्भ को त्याग करने का नाम **आठवीं** आरम्भत्याग प्रतिमा है।[9] **नौवीं** प्रतिमा का नाम परिग्रह त्याग प्रतिमा है।[10] समस्त प्रकार के लौकिक कार्यों में किसी प्रकार की अनुमति अथवा परामर्श न देने का नाम **दसवीं** अनुमतित्याग प्रतिमा है।[11] **ग्यारहवीं** गृहत्याग नामक प्रतिमा के दो भेद हैं:— क्षुल्लक और ऐलक। यद्यपि इन दोनों रूपों के धारक वनवासी होते

---

1. जीवन्धरस्वामिचरित, छन्द 5/75–76
2. वही, छन्द 5/77–78–79–80
3. वही, छन्द 5/81
4. वही, छन्द 5/82–83
5. वही, छन्द 5/84
6. वही, छन्द 5/85
7. वही, छन्द 5/85
8. वही, छन्द 5/86
9. वही, छन्द 5/86
10. वही, छन्द 5/87
11. वही, छन्द 5/87

हैं और मुनियों की भाँति आहार हेतु परघर जाते हैं, किन्तु क्षुल्लक तो अपने पास एक लंगोट एवं एक अन्य खण्ड वस्त्र भी रख सकता है, किन्तु ऐलक केवल एक लंगोट ही रखता है। क्षुल्लक अपने केशों का मुंडन करा सकता है और बर्तन में भोजन ग्रहण करता है, किन्तु ऐलक अपने केशों का लोंच करता है और हाथ में ही भोजन ग्रहण करता है। क्षुल्लक प्रतिमा तो चारों वर्णों के मनुष्य धारण कर सकते हैं, किन्तु ऐलक प्रतिमा तीन उत्तम वर्ण वाला ही धारण कर सकता है।[1]

3. सम्यग्दर्शन :— महाकवि पण्डित दौलतराम कासलीवाल के अनुसार उपर्युक्त दोनों धर्मों का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन के बिना नहीं होता है। अतः धर्मार्थी को सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करना चाहिए।[2]

देव, गुरु और धर्म के यथार्थ श्रद्धान का नाम सम्यग्दर्शन है। व्यवहारनय से वीतरागी जिनेन्द्रदेव ही सच्चे देव हैं, महाव्रतधारी मुनि ही सच्चे गुरु हैं और जीवदया ही सच्चा धर्म है। तथा निश्चयनय से वास्तव में अपना आत्मा ही देव है, आत्मा ही गुरु है और वस्तु का स्वभाव ही धर्म है।[3]

यह सम्यग्दर्शन तीन प्रकार का होता है :— उपशम, क्षायिक और क्षयोपशम। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ और तीन प्रकृति मिथ्यात्व की — इन सात प्रकृतियों के उपशम से उपशम सम्यग्दर्शन होता है, क्षय से क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है और यदि इन सातों में से एक सातवीं प्रकृति उदय में रहे तो क्षयोपशम सम्यग्दर्शन होता है।[4]

4. मोह :— धर्म के बाधक तत्त्व के रूप में कवि ने मोह का वर्णन किया है। मोह के विषय में कवि का कहना है कि मोह इस जीव का सबसे बड़ा शत्रु है। संसार में अन्य कोई वास्तविक शत्रु नहीं है। मोह ही इस जीव को जन्म-जन्म में परिभ्रमण कराता है। यथाः—

"भव भव अति दुखदाय, मोह समान न शत्रु को।[5]"

कवि का कहना है कि धन, यौवन, जीवन आदि समस्त सांसारिक पदार्थ क्षणभंगुर हैं, शरीर अशुचिता का स्थान है और राजपद चपला-चमत्कार के समान है, अतः इनसें अज्ञानी जीव ही राग करता है, ज्ञानीपुरुष तो सदैव समता भाव से रहते हैं। वे जानते हैं कि जगत के समस्त पदार्थों का

---

1. जीवन्धरस्वामिचरित, छन्द 5/88–89–90–91
2. वही, छन्द 5/65
3. वही, छन्द 5/65–66
4. वही, छन्द 5/68–69–70
5. वही, छन्द 3/103

स्वभाव ही विनाशीक है, सकल पदार्थो के ज्ञाता सर्वज्ञ भगवान ने समस्त पर्यायों को अस्थिर रूप ही देखा-जाना है।[1]

3.4.2. दर्शन :

1. **कर्मसिद्धान्त** :— जैनदर्शन में कर्मसिद्धान्त का विवेचन बड़ी सूक्ष्मता के साथ किया गया है, जिसके अनुसार प्रत्येक संसारी आत्मा कर्माधीन है, उसे जो भी संयोग-वियोग, जीवन-मरण अथवा सांसारिक सुख या दुःख प्राप्त होता है, वह सब उसके स्वयंकृत पूर्वकर्मो का फल है। अन्य कोई पदार्थ तो उसके इस परिणमन में निमित्त मात्र होता है, कर्त्ता कदापि नहीं। अन्य पदार्थ को जीवन-मरण, सुख-दुख आदि का कर्त्ता मानना तो संसारी प्राणियों का अज्ञान है। सुप्रसिद्ध जैन आचार्य अमृतचन्द्रसूरि का निम्नलिखित कथन इस संदर्भ में विशेषतया द्रष्टव्य है :—

"सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीयकर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम्।

अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य कुर्यात्पुमान्मरणजीवितदुःखसौख्यम्।।"[2]

अर्थात् इस जगत में जीवों के मरण, जीवित, दुःख, सुख— सब सदैव नियम से अपने कर्मोदय से होते हैं। दूसरा पुरुष दूसरे के मरण, जीवन, दुःख, सुख को करता है— ऐसा मानना तो अज्ञान है।

पण्डित दौलतराम कासलीवाल ने अपने चरितकाव्यों में जैनदर्शन के इस कर्मसिद्धान्त का हृदयग्राही प्रतिपादन किया है। "जीवंधर-स्वामिचरित" के नायक जीवंधर स्वामी जैसे पुण्यशाली पुरुष को अपनी माता से 16 वर्ष तक इसलिए अलग रहना पड़ा, क्योंकि उन्होंने पूर्व में हंस के बालक को 16 दिन तक उसकी माँ से अलग किया था।[3] नन्दाढ्य-पत्नी श्रीचन्द्रा का अपहरण हरिविक्रम नामक भील ने इसलिए किया था, क्योंकि स्वर्णतेज के जन्म में उसकी उससे सगाई हुई थी।[4] श्रीचंद्रा और नंदाढ्य पूर्वजन्म में कपोत-कपोती थे, किन्तु तत्त्वश्रवण के शुभभाव से मरकर सेठ के घर मनुष्यपर्याय में उत्पन्न हुये।

कर्मसिद्धान्त के अनुसार स्वयंकृत कर्म का फल प्रत्येक जीव को भोगना ही पड़ता है; और वह भी स्वयं ही भोगना पड़ता है, उसमें अन्य कोई कुछ नहीं कर सकता है। मैनासुन्दरी के भाग्य

---

1. जीवन्धरस्वामिचरित, छन्द 1/50–51–52–53–54–55
2. आत्मख्याति, कलश, 168
3. जीवन्धरस्वामिचरित, छन्द 5/121
4. वही, छन्द 3/131

को बदलने की कोशिश उसके पिता ने बहुत की, पर वह सब जलमन्थन की भाँति व्यर्थ ही रही। श्रीपाल को मारने और मैनासुन्दरी से अलग करने का इतने लोगों ने प्रयत्न किया, पर वह भी सब निष्फल सिद्ध हुआ। कवि का कहना है कि :—

"पुन्य पाप जो जीव के होय। ताकूं मेट सके नहिं कोय।।"

अथवाः—

"पीछे सुभ अरु असुभ सु जोय। कर्म उदैसा है सो होय।।

सुख दुख होय भाग तें सही। ताकूं मेट सके नहीं कोई।।"

कर्मसिद्धान्त-प्रतिपादन के माध्यम से कवि ने जनता को यह शुभ सन्देश दिया है कि हे भव्यजीवों ! इस जिन-आज्ञा को अपने हृदय में अच्छी प्रकार धारण कर लो कि संसार के समस्त जीव अपने ही समान हैं और कभी किसी जीव को दुःख मत पहुँचाओ।[3]

कर्मसिद्धान्त-प्रतिपादन के माध्यम से कवि आत्मा की अमरता को भी हृदयग्राही ढंग से सिद्ध करने में सफल हुआ है।

कर्म के दो भेद हैंः— शुभ और अशुभ। इन्हें ही पुण्य और पाप भी कहते हैं। कवि का कहना है कि जिस प्राणी ने जो भी पुण्य और पाप कर्म किये होते हैं उन्हें कोई मिटा नहीं सकता। व्यक्ति को उन्हें निश्चितरूप से भोगना ही पड़ता हैः—

"कन्या कही सुनो मो पिता, सुभ अरु असुभ कर्म ते हुता।

जो जो सुख होनों सो होय, ताकूं मेट सकै नहिं कोय।।"

तथा जो कार्य होता है, वह कर्म के अनुसार ही होता है; बाह्य संयोगी पदार्थों के अनुसार नहीं। बाह्य संयोगी पदार्थ तो निमित्त मात्र होते हैं :—

"कन्या कही सत्य सो बात, कर्म करे सो होय विख्यात।

मैं तो निमत मात्र करतार, कारज होय कर्म अनुसार।।"

---

1. श्रीपालचरित, छन्द 62
2. वही, छन्द 40–41
3. जीवन्धरस्वामिचरित, छन्द 5/121
4. श्रीपालचरित, छन्द 5/50
5. वही, छन्द 5/61

पुण्य कर्म के विषय में कवि का कहना है कि पुण्य बहुत प्रभावशाली होता है। पुण्य के समान प्रभावशाली संसार में अन्य कोई नहीं है।[1] पुण्य के प्रभाव से संसार में समस्त कार्यों की सिद्धि और सकल सुखों की प्राप्ति सहज संभव है, अतः प्राणियों को शुभभावपूर्वक पुण्य धारण करना चाहिए

"कहा कहा नहिं होय पुण्य परभाव सौं।
तातैं धारौ पुण्य भव्य सुभ भाव सौं।।"

कवि के अनुसार संसार में पुण्यवानों की निश्चित रूप से सर्वत्र विजय ही होती है :—

"जय है सबही जायगां, पुण्यवंतनि की ठीक।
यामैं कछु अचिरज नहीं, इह जानौ तहकीक।।"

पाप कर्म के सम्बन्ध में कवि का कहना है कि पाप इस जीव का वास्तविक रोग है, उसके समान भयंकर रोग दुनिया में दूसरा कोई नहीं है।[4] पाप की तुलना धर्म से करते हुए कवि कहता है कि :—

"धर्म सकल सुखदाय है, तातें भवि उर आन।
पाप बुद्धि दुखदां सही, छाँडन की बुधि ठान।।"

3.4.3. नीति :—

महाकवि पण्डित कासलीवाल के चरितकाव्यों में धर्म और दर्शन के साथ नीतिसंबंधी विषयों का भी सुन्दर प्रतिपादन हुआ है। इनमें सत्संगति, मित्रता, उत्तम पुरुष व अधम पुरुष की प्रकृति, परोपकार, स्वामिभक्ति आदि विषय प्रमुख हैं। इनका प्रतिपादन कवि ने प्रायः उसी परम्परित रूप में किया है जिसमें भर्तृहरि, गिरिधर, रहीम आदि अनेक प्रसिद्ध नीति-कवियों ने किया है।

1. संगति-विषयक नीति :— संगति के विषय में कवि का कहना है कि उत्तम पुरुष की संगति से मनुष्य में सब प्रकार के गुण उत्पन्न हो जाते हैं और अधम पुरुष की संगति से मनुष्य में सब प्रकार के दूषण उत्पन्न हो जाते हैं। यथा :—

---

1. जीवन्धरस्वामिचरित, छन्द 4/140
2. वही, छन्द 2/39
3. वही, छन्द 5/32
4. वही, छन्द 4/36
5. श्रीपालचरित, छन्द 753

"या जग संग उच्च तें सही। क्या क्या गुण उपजे नहीं कही।।

नीच संगतें दूषण कोय। कौन कौन उपजे नहीं सोय।। [1]"

संगति के विषय में कवि ने यह भी प्रतिपादित किया है कि दुष्ट पुरुषों को अपने साथ में रखनेवाला व्यक्ति सज्जन हो तो भी निन्दनीय हो जाता है, अतः सज्जनों को दुष्ट पुरुषों से अलग ही रहना चाहिए। जयद्रथ को उसकी माता यही समझाती है:—

"रे रे पुत्र अयान तैं, कियो निंद्य इह काम।

कनैं राखि खल चेटका, हुवौ पाप कौ धाम।। [2]"

2. **मित्रता-विषयक नीति** :— महाकवि पण्डित दौलतराम कासलीवाल के अनुसार मित्रता की सबसे बड़ी कसौटी है— दुःख में साथ नहीं छोड़ना। मित्रता के प्रकरण में वे इसी एक बात को अनेक बार कहते हैं :—

"दुःख मैं कबहु न छांडे संग। इह मित्रनि कौ धर्म अभंग। [3]"

"साचौ मित्रापन है एही। आपद मैं त्यागै न सनेही। [4]"

इस प्रसंग में तुलना हेतु किसी नीतिकवि का यह छन्द द्रष्टव्य है :—

"सगा सनेही मीतजन, सुख में मिले अनेक।

भीड़ पड़्या दुख बाँट ले, सो लाखन में एक।।"

3. **उत्तमपुरुष व अधमपुरुष की प्रकृति-विषयक नीति**:— उत्तम पुरुष और अधम पुरुष की प्रकृति के विषय में कवि ने लिखा है कि जो आत्मप्रशंसा करता रहता है और दूसरे के गुणों का लोप करता है वह अधम पुरुष है तथा जो अपनी प्रशंसा व दूसरों की निन्दा नहीं करता है वही उत्तम पुरुष है। यथा :—

"तब सब बोले होय सकोपा। तू तौ तापस परगुन लोपा॥

नीच पुरिष कौ इहै सुभावा। अपने गुन कौं करैं प्रभावा॥

अपनी थुति अर पर की निन्दा। न करै तेई जानि जतिन्द्रा।। [5]"

---

1. श्रीपालचरित, छन्द 33
2. जीवन्धरस्वामिचरित, छन्द 4/22
3. वही, 1/62
4. वही, छन्द 4/66
5. जीवन्धरस्वामिचरित, छन्द 4/99-100-101

4. परोपकार-विषयक नीति :— परोपकार के विषय में कवि का कहना मात्र इतना है कि परोपकार निष्काम होना चाहिए, उसके पीछे कोई स्वार्थलाभ की अभिलाषा नहीं होनी चाहिए। जो व्यक्ति निष्काम भाव से परोपकार करते हैं वे ही श्रेष्ठ फल की प्राप्ति करते हैं। यथा :—

"बिनु कारण जे पर उपगार। करैं ते हि पावै फल सार॥"

5. स्वामिभक्ति-विषयक नीति :— स्वामिभक्ति के विषय में कवि की प्रस्तुति की दृढ़ता विशेष अवलोकनीय है। कवि का कहना है कि स्वामिधर्म का त्याग करने वाला व्यक्ति अत्यन्त कृतघ्नी है। स्वामिद्रोह के समान महापाप दुनिया में और कोई नहीं है। स्वामिद्रोह करनेवाले व्यक्ति को अगले जन्म में भी नरक के दुःख उठाने पड़ते हैं। जो व्यक्ति स्वामिधर्म का त्याग करके सुखी होना चाहता है वह मूर्ख विषमिश्रित आहार करके जीवित रहने की इच्छा करता है अथवा कपटी मित्र से मित्रता करके निश्चिंत हो जाना चाहता है अथवा हिंसक धर्म का अनुकरण करके सद्गति प्राप्त करना चाहता है। अर्थात् स्वामिधर्म का त्याग करके सुखी होना असंभव है। कवि के मूल शब्द इसप्रकार है :—

"काष्टांगारिक राजा भयो। कृतघन स्वामि धर्म तैं गयो।।

जैसैं सठ करि सविष अहार। चाहै भूख तनो परिहार।।

जिम कोई करि कपटि मिंत। चाहै जड़मति भयो नचिंत।।

ज्यों हिंसक मत धरि खल कोइ। चाहे सुगति सु कैसै होय।।

स्वामि द्रोह सौ और न पाप। पापी लहैं नरक संताप।।[1]"

कवि के अनुसार स्वामिधर्म का पालन करने वालों का कर्तव्य तो यह है कि चाहे अपना शरीर भी त्यागना पड़े, पर वे उसकी चिन्ता किये बिना स्वामी के शत्रु को मारते हैं:—

स्वामि धर्म धर सेवका, तिनकौ मारग एह।

हनै स्वामि के शत्रु कौं, त्यागै अपनी देह।।[2]"

6. पश्चात्ताप-विषयक नीति :— पश्चात्ताप के विषय में कवि का कहना है कि नष्ट वस्तु के लिए दुःखी होना, शोक करना व्यर्थ है और मूर्खता है :—

"गई वस्तु सौं कैसी प्रीति? वृथा सोक धरिवौ सठ रीति।।[3]"

---

1. जीवन्धरस्वामिचरित, छन्द 2/80
2. वही, छन्द 1/43–44–45
3. वही, छन्द 5/46
4. वही, छन्द 1/57

3.4.4. अन्य :—

1. णमोकार महामंत्र :—

"णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।

णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं।।[1]"

यह जैनधर्म का सर्वाधिक प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण मंत्र है जिसे णमोकार मंत्र के नाम से जाना जाता है। यह प्राकृत भाषा के गाथा छन्द में निबद्ध है। इसका हिन्दी-अर्थ इस प्रकार है कि अरिहंतों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो और लोक में सर्व साधुओं को नमस्कार हो। अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु – ये पंच परमेष्ठी हैं।

यह णमोकार मंत्र अन्य मंत्रों से अनेक दृष्टियों से भिन्न है और इसी कारण से महामंत्र कहा जाता है। एक तो इसमें जिन पंच परमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है, वे किसी व्यक्ति-विशेष के नाम नहीं हैं, अपितु आत्मा की ही उत्तम अवस्थाएँ हैं अर्थात् इनमें व्यक्ति की नहीं, गुणों की पूजा की गई है। दूसरे, इसमें किसी प्रकार की याचना तो दूर, कामना भी नहीं की गई है।

जैन-साहित्य में इस णमोकार मंत्र की अपार महिमा बताई गई है। महाकवि पण्डित दौलतराम कासलीवाल ने भी अपने चरितकाव्यों में णमोकार मंत्र की महिमा के विषय में यत्किंचित् प्रकाश डाला है। यथा:—

"नमोकार सो मंत्र न और। इहै मंत्र सब श्रुतको मौर।।[2]"

कवि के अनुसार णमोकार मंत्र की महिमा वचनों से कही नहीं जा सकती है।[3] "जीवंधरस्वामिचरित" में एक मरणासन्न कुत्ता णमोकार मन्त्र के प्रभाव से देवगति प्राप्त करता है।

2. दिव्यध्वनि :— जैन-साहित्य में तीर्थंकरों की उपदेश-वाणी को दिव्यध्वनि कहते हैं। महापुराण, धवला, तिलोयपण्णत्ति, हरिवंशपुराण आदि प्राचीन जैन-ग्रन्थों में दिव्यध्वनि का वर्णन विस्तार के साथ मिलता है। महाकवि पण्डित दौलतराम कासलीवाल ने अपनी कृति "श्रीपालचरित" में दिव्यध्वनि के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए तीन चौपाई छन्द लिखे हैं। कवि के अनुसार दिव्यध्वनि अतिशययुक्त होती है। दिव्यध्वनि के द्वारा पुण्य–पाप, मुनिधर्म, श्रावकधर्म, सप्ततत्त्व आदि जिन विषयों का निरूपण होता है, उसे विभिन्न भाषा-भाषी देशों के सब मनुष्य आसानी से समझ लेते हैं। तीर्थंकरों की सभा

---

1. षट्खंडागम, गाथा-संख्या 1
2. जीवन्धरस्वामिचरित 2/73
3. वही, छन्द 2/77

में जिस भी जीव के हृदय में जो भी संशय या प्रश्न उत्पन्न होता है, उस जीव को दिव्यध्वनि उसी के उत्तरस्वरूप परिणमित हो जाती है– ऐसा उसका अद्भुत अतिशय है :–

"तब जिनवर की वाणी खिरी। दिव्य ध्वनि अतिसै करि भरी।।
पुन्य पाप मुनि श्रावक धर्म। तत्वादिक के भाखे मर्म।।
देव मनख तिर्यंच वहु जान। देस देस नर की भी वानि।।
दिव्य ध्वनि अतिसैं करि खिरी। भिन भिन जीव समझि चित धरी।।
जो संसै ता जीव उर होय। ताको ज्वाब परनमे सोय।।
अदभुत रचना जिन की बानि। श्रेणिक देखि हरष अति मानि।।[1]"

इस प्रकार हम देखते हैं कि समूची चरितकाव्य-परम्परा में पं० दौलतराम कासलीवाल के चरितकाव्यों का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भाव-व्यंजना, रस-निरूपण, वस्तु-वर्णन, चरित्र-गठन आदि सभी दृष्टियों से वे श्रेष्ठ साहित्यिक कृतियाँ सिद्ध होते हैं। उनमें धर्म, दर्शन, नीति आदि अनेक विषयों का भी सुन्दर प्रतिपादन हुआ है।

□□□

1. श्रीपालचरित, छन्द 14–15–16

चतुर्थ अध्याय

विचारकाव्य

क्रम.		पृष्ठ-संख्या
4.1.	**जैन-विचारकाव्य-परम्परा**	**159**
4.1.1.	प्राकृत-जैन-विचारकाव्य-परम्परा	159
4.1.2.	संस्कृत-जैन-विचारकाव्य-परम्परा	163
4.1.3.	अपभ्रंश-जैन-विचारकाव्य-परम्परा	166
4.1.4.	हिन्दी-जैन-विचारकाव्य-परम्परा	167
4.2.	**जैन-विचारकाव्यों का संरचना-विधान और पं० दौलतराम के विचारकाव्य**	**169**
4.2.1.	जैन-विचारकाव्यों का संरचना-विधान (नामकरण, संरचना-क्रम, सर्ग-संरचना, लक्ष्य)	170
4.2.2.	पं० दौलतराम के विचारकाव्यों का संरचना-विधान (नामकरण, संरचना-क्रम, सर्ग-संरचना, लक्ष्य)	179
4.3.	**प्रतिपाद्य**	**181**
4.3.1.	धर्म (मुनिधर्म, श्रावकधर्म)	181
4.3.2.	दर्शन	188
4.3.2.1.	सम्यग्दर्शन	189
4.3.2.2.	सम्यग्ज्ञान	195
4.3.2.3.	सम्यक्चारित्र	196
4.3.2.4.	अन्य (चौबीस दण्डक, अष्ट कर्म, चतुर्दश गुणस्थान, द्रव्य-गुण-पर्याय)	197
4.3.3.	अध्यात्म	198
4.3.3.1.	आत्मा का स्वरूप	199
4.3.3.2.	आत्मा की अवस्थाएँ (बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा)	201
4.3.3.3.	शरीर और आत्मा का सम्बन्ध	202
4.3.3.4.	आत्मानुभव	203
4.3.3.5.	अनेक शब्दों की आध्यात्मिक व्याख्या (राम, क्रीड़ा, कमला, राक्षस)	203
4.3.4.	भक्ति	205
4.3.4.1.	आराध्य का स्वरूप	205
4.3.4.2.	भक्ति का स्वरूप	212
4.3.4.3.	भक्ति का फल	217
4.3.4.4.	भक्त का स्वरूप	217
4.3.4.5.	भक्त की अभिलाषा	219
4.3.4.6.	भगवत्प्राप्ति का उपाय	221
4.3.5.	नीति (साधुओं की दुर्लभता, साधुओं का स्वभाव, परधन, परस्त्री व परजीवों के प्रति साधुओं का दृष्टिकोण, उत्तम-मध्यम-अधम पुरुषों की प्रकृति, आत्मप्रशंसा का निषेध, परनिन्दा का निषेध, परदोष-दर्शन का निषेध, दयाभाव, तृष्णा की निन्दा, सन्तोष की प्रशंसा, पाप और धर्म, चुगली की निन्दा)	222

चतुर्थ अध्याय

विचारकाव्य

4.0 जैन-साहित्य में चरितकाव्यों की भाँति विचारकाव्यों की भी एक सुदीर्घ परंपरा प्राप्त होती है। जैन-विचारकाव्य-परंपरा की कृतियाँ प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी तथा कन्नड़, मराठी, तमिल आदि प्रायः सभी भाषाओं में विपुल परिमाण में उपलब्ध होती है; क्योंकि जैन-विचारकाव्य देश के किसी एक भाग में नहीं, अपितु देश के हर कोने में लिखे गये हैं। जैन-साहित्यकारों ने इन विचारकाव्यों में धर्म, दर्शन, आचार, नीति, भक्ति आदि विषयों का अत्यन्त विशद और विस्तृत प्रतिपादन किया है, जिसकी चर्चा इसी अध्याय में आगे की गई है। यहाँ सर्वप्रथम ऐतिहासिक परिज्ञान के लिए जैन-विचारकाव्य-परम्परा का अध्ययन करना उचित है।

4.1. जैन-विचारकाव्य-परंपराः—

अनुमान है कि चरितकाव्यों की भाँति विचारकाव्य-परम्परा की भी अनेकानेक कृतियाँ ऐसी हैं जो अज्ञात हैं, अप्रकाशित हैं और ग्रन्थभण्डारों के अन्धकार में खोई हुई प्रकाशन की प्रतीक्षा कर रही हैं।

4.1.1. प्राकृत-जैन-विचारकाव्य-परंपराः—

जैन-विचारकाव्य-परंपरा का प्रारम्भ प्राकृत भाषा में होता है; अतः सर्वप्रथम प्राकृत-परंपरा अध्येतव्य है। कुन्दकुन्द, यतिवृषभ, शिवकोटि, कार्तिकेय, देवसेन, नेमिचंद्र आदि आचार्य प्राकृत के प्रमुख जैन-कवि हैं, जिन्होंने साधारणजन के सम्बोधनार्थ लोकभाषा प्राकृत में ही अपने विचारकाव्यों की रचना की। इन विचारकाव्यों में जैन-तत्त्वज्ञान को अत्यन्त सरल और सुबोध शैली में समझाया गया है।

प्राकृत-विचारकाव्य-परंपरा की कतिपय प्रमुख कृतियाँ निम्नलिखित हैं:—

1. **कसायपाहुड** :— यह ग्रन्थ जैन-विचारकाव्य-परंपरा की सबसे पहली कृति मानी जाती है। इसकी रचना महाकवि गुणधराचार्य ने विक्रम-पूर्व प्रथम शताब्दी में की थी। इस ग्रन्थ का दूसरा नाम "पेज्जदोसपाहुड" भी है। इसमें 233 गाथाएँ हैं। यह ग्रन्थ राग और द्वेष रूप समस्त कषायों का विस्तार से वर्णन करता है।

2. **छक्खण्डागमः**— इसकी रचना आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि ने ईसा की प्रथम शताब्दी में सम्मिलित रूप से की है। जीव-स्थानादि छह खण्डों में विभक्त होने के कारण इसका नाम

'छक्खण्डागम' प्रसिद्ध हुआ है। यह कर्मसिद्धान्त का अत्यन्त सूक्ष्मता से विवेचन करनेवाला विशिष्ट ग्रन्थ है।

3. **तिलोयपण्णत्तीः**— इसकी रचना आचार्य यतिवृषभ ने की थी। यतिवृषभ का समय अनुमानतः ईसवी सन् 176 के आसपास सिद्ध होता है। इस ग्रन्थ में 8000 चूर्णिसूत्र हैं, जो 15 अधिकारों में विभक्त हैं।

4. **पवयणसारोः**— इसकी रचना आचार्य कुन्दकुन्द ने की थी। आचार्य कुन्दकुन्द का समय ईसा की प्रथम शताब्दी माना जाता है। पवयणसारो में 3 अधिकार हैंः— ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन, ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन और चरणानुयोग-सूचक चूलिका। इस ग्रन्थ में 317 गाथाएँ हैं। इसमें इन्द्रियसुख, अतीन्द्रिय सुख, सर्वज्ञसिद्धि, द्रव्य-गुण पर्याय, श्रामण्य आदि का कथन किया गया है।

5. **समयपाहुडः**— इसकी रचना भी आचार्य कुन्दकुन्द ने की है। इस ग्रन्थ में 439 गाथाएँ हैं, जो 10 अधिकारों में विभक्त हैं। यह अध्यात्म का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है। शुद्ध आत्मा का इतना सुन्दर और व्यवस्थित विवेचन अन्यत्र दुर्लभ है।

6. **पंचत्थिकायः**— इसकी रचना भी आचार्य कुन्दकुन्द ने की है। इसमें 181 गाथाएँ हैं, जो 2 अधिकारों में विभक्त हैं। इस ग्रन्थ में द्रव्य, गुण, पर्याय, पुण्य, पाप, जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध,संवर, निर्जरा आदि का निरूपण किया गया है।

7. **णियमसारोः**— इसकी रचना भी आचार्य कुन्दकुन्द ने की है। इसमें 170 गाथाएँ हैं, जो 12 अधिकारों में विभक्त हैं। इसमें आध्यात्मिक दृष्टि से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का वर्णन किया गया है। यह ग्रन्थ आत्मभावना का उत्कृष्ट ग्रन्थ है।

8. **रयणसारोः**— यह ग्रन्थ भी आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा विरचित माना जाता है; किन्तु निर्विवाद रूप से नहीं, क्योंकि डॉ० ए० एन० उपाध्ये एवं डॉ० नेमीचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य आदि अनेक विद्वानों ने इसे कुन्दकुन्द-कृत होने में आशंका प्रकट की है।[1] इसमें 169 गाथाएँ हैं। इसमें गृहस्थ और मुनियों की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का विवेचन किया गया है।

9. **बारस-अणुवेक्खाः**— इसकी रचना भी आचार्य कुन्दकुन्द ने की है। इसमें 91 गाथाओं के द्वारा अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधिदुर्लभ— इन बारह भावनाओं का वर्णन किया गया है। यह संसार से विरक्ति उत्पन्न करनेवाली सुन्दर रचना है।

---

1. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग 2, पृष्ठ 115

10. **मूलायारो**:— इसकी रचना आचार्य वट्टकेर ने विक्रम की प्रथम शताब्दी में की है। कितने ही विद्वान वट्टकेर को कुन्दकुन्द से अभिन्न मानते हैं। इस ग्रन्थ में 12 अधिकार और 1252 गाथाएँ हैं। इसमें मुनि के आचार का बहुत ही विस्तृत वर्णन किया गया है। मुनि धर्म से परिचित होने के लिए यह एक अकेला ग्रंथ पर्याप्त है। उत्तरवर्ती अनेक ग्रन्थकारों ने इसके उद्धरण अपनी रचनाओं में देकर इसकी प्रामाणिकता प्रकट की है।

11. **भगवदी आराहणा**:— इसकी रचना आचार्य शिवकोटि या शिवार्य ने विक्रम की प्रथम शती में की थी। इस ग्रन्थ में 40 अधिकार और कुल 2166 गाथाएँ हैं। इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप— इन चार आराधनाओं का विस्तृत निरूपण किया गया है। यह ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। अनेक विद्वानों ने इस पर टीकाएँ और विवृत्तियाँ लिखी हैं।

12. **बारसाणुवेक्खा**:— वर्तमान में स्वामी कार्तिकेय द्वारा रचित होने के कारण यह ग्रंथ 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' नाम से प्रसिद्ध है। कार्तिकेयस्वामी का समय अनुमानतः विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दी होना चाहिए। इस ग्रन्थ में 489 गाथाओं के द्वारा अनित्यादि द्वादश अनुप्रेक्षाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। प्रसंगवश जीवादि सात तत्त्वों, संलेखना और दानादि का भी वर्णन किया गया है। इस ग्रंथ पर पं० दौलतराम कासलीवाल ने एक सुबोध टब्बाटीका भी लिखी है।

13. **सम्मइसुत्तं**:— इसकी रचना कवि सिद्धसेन ने अनुमानतः वि० सं० 625 के आसपास की है। इस ग्रन्थ में 3 काण्ड और 166 गाथाएँ हैं। यह न्याय और दर्शन का अनूठा ग्रन्थ है।

14. **दंसणसारं**:— इसकी रचना आचार्य देवसेन ने विक्रम की नौवीं—दसवीं शताब्दी में की थी। इसमें 51 गाथाओं के द्वारा एकान्त, संशय, विपरीत, विनय और अज्ञान — इन पाँच एकान्त मार्गों का वर्णन किया गया है।

15. **आराहणासारो**:— इसकी रचना भी आचार्य देवसेन ने की है। इसमें 115 गाथाओं के द्वारा ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप — इन चार आराधनाओं का वर्णन निश्चय-व्यवहार दोनों नयों की दृष्टि से किया गया है।

16. **तच्चसारं**:— इसकी रचना की आचार्य देवसेन ने की है। इसमें 74 गाथाओं के द्वारा स्वतत्त्व निजात्मा और परतत्त्व परमेष्ठी का निरूपण आध्यात्मिक दृष्टि से किया गया है। यह आत्मानुभूति या आत्मसिद्धि का उपाय बताने वाला ग्रन्थ है।

17. **णयचक्कं**:— इसकी रचना भी आचार्य देवसेन ने की है। इसमें 87 गाथाओं के द्वारा नय का स्वरूप, उसकी उपयोगिता एवं उसके भेद-प्रभेदों का वर्णन किया गया है।

18. **गोम्मटसारः**— इसकी रचना नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने की है। इन का समय अनुमानतः ईसा की दशम शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। यह ग्रन्थ दो भागों में विभक्त है :—जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड। जीवकाण्ड में 734 गाथाएँ हैं और कर्मकाण्ड में 962 गाथाएँ हैं। जीवकाण्ड में गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा आदि जीव की अनेक अवस्थाओं का प्रतिपादन किया गया है। कर्मकाण्ड में अष्ट कर्मों का सूक्ष्म वर्णन है।

19. **तिलोयसारः**— इसकी रचना भी नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने की है। इसमें 6 अधिकार और 1018 गाथाएँ हैं। इसमें ऊर्ध्व, मध्य और अधो— तीनों लोकों का विस्तार से वर्णन किया है। यह करणानुयोग का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

20. **लब्धिसारः**— इसकी रचना भी नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने की है। इसमें 649 गाथाओं के द्वारा क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण— इन 5 लब्धियों का विस्तार से वर्णन किया गया है।

21. **दव्वसंगहः**— इसकी रचना भी नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती ने की है। इस ग्रन्थ में 58 गाथाओं के द्वारा छह द्रव्यों, सात तत्त्वों एवं मोक्षमार्ग का सारग्राही विवेचन किया गया है।

22. **उवासयाज्झयणं**:— इसकी रचना आचार्य वसुनन्दि (प्रथम) ने की है। वसुनन्दि का समय ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी का अन्तिम चरण या बारहवीं शताब्दी का प्रथम चरण सम्भव है। इसमें 546 गाथाओं के द्वारा श्रावक के आचरण का विस्तृत वर्णन किया गया है। पं० दौलतराम कासलीवाल ने इस ग्रंथ पर एक सरल-सुबोध टब्बाटीका भी लिखी है।

23. **परमागमसारः** इसकी रचना आचार्य श्रुतमुनि ने ईसा की तेरहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में की थी। इसमें 230 गाथाओं के द्वारा आगम के स्वरूप और भेद—प्रभेदों का वर्णन किया गया है।

इनके अतिरिक्त आचार्य कुन्दकुन्द कृत दंसणपाहुड, चारित्तपाहुड, सुत्तपाहुड, बोहपाहुड, भावपाहुड, मोक्खपाहुड, लिंगपाहुड, सीलपाहुड, सिद्धभत्ति, सुदभत्ति, चारित्तभत्ति आदि, आचार्य देवसेन कृत भावसंगहो, आचार्य नेमिचन्द्र कृत खवणासारं, मुनि पद्मसिंहनन्दि कृत णाणसारं, पद्मनंदि प्रथम कृत धम्मरसायण, दुर्गदेव कृत रिट्ठसमुच्चय, मरणकण्डिका एवं अर्धकाण्ड और भट्टारक जिनचन्द्र कृत सिद्धान्तसार आदि अनेक विचारकाव्य भी लिखे गये हैं जो प्राकृत जैन विचारकाव्य-परम्परा की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। इनमें से अधिकांश का काल विक्रम की प्रथम सहस्राब्दी है।

4.1.2. संस्कृत-जैन-विचारकाव्य-परंपराः—

प्राकृत की भाँति संस्कृत में भी जैन-कवियों द्वारा विपुल मात्रा में विचारकाव्य लिखे गये हैं, जिनमें से कतिपय प्रमुख निम्नलिखित हैः—

1. **बृहत् स्वयम्भूस्तोत्रः**— इसकी रचना आचार्य समन्तभद्र ने की है। इनका समय अनुमानतः ईसा की द्वितीय शताब्दी है। इसका अपर नाम 'चतुर्विंशति-स्तोत्र' भी है, क्योंकि इसमें ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की गई है। इसमें कुल 143 पद्य हैं। यह भक्ति विषय की उत्कृष्ट रचना है।

2. **स्तुतिविद्याः**— इसकी रचना भी आचार्य समन्तभद्र ने की है। इसके अपरनाम 'जिनशतक' और 'जिनशतकालंकार' भी हैं। इसमें कुल 116 पद्य हैं, जिनमें नाना प्रकार से जिनेन्द्र भगवान की आराधना की गई है।

3. **आप्तमीमांसाः**— इसका अपर नाम 'देवागमस्तोत्र' है। इसकी रचना भी आचार्य समन्तभद्र ने की है। इसमें 115 पद्य हैं, जिनमें विविध एकान्तों का निषेध करके अनेकान्तात्मकता सिद्ध की गई है। इसमें समन्तभद्र की तार्किक दृष्टि विशेषतया द्रष्टव्य है।

4. **युक्त्यनुशासनः**— इसकी रचना भी आचार्य समन्तभद्र ने की है। इसमें 64 पद्यों के द्वारा युक्तिपूर्वक महावीर के शासन का मण्डन करके उसे सर्वोदय तीर्थ सिद्ध किया है।

5. **रत्नकरंडश्रावकाचारः**— इसकी रचना भी आचार्य समन्तभद्र ने की है। इसमें 150 पद्यों में विस्तारपूर्वक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का विवेचन किया गया है। सम्यक्चारित्र के प्रसंग में श्रावकाचार का वर्णन मुख्य है।

6. **समाधितन्त्रः**— इसकी रचना आचार्य पूज्यपाद ने की है। पूज्यपाद का समय ईसा की छठी शताब्दी माना जाता है। इस ग्रन्थ का दूसरा नाम 'समाधिशतक' है। इस ग्रन्थ में 105 पद्यों द्वारा आध्यात्मिक दृष्टि से बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के स्वरूप का विवेचन किया गया है।

7. **इष्टोपदेशः**— इसकी रचना भी आचार्य पूज्यपाद ने की है। इसमें 51 पद्यों के द्वारा अध्यात्मशास्त्रों का सार संक्षेप में समझाया गया है।

8. **आप्तपरीक्षाः**— इसकी रचना आचार्य विद्यानन्दि ने ईसा की नौवीं शताब्दी में की थी। इसमें 124 कारिकाओं के द्वारा ईश्वर, कपिल, सुगत आदि की परीक्षा करते हुए अर्हत्सर्वज्ञ-सिद्धि की गई है। यह जैन-न्यायशास्त्र का उत्कृष्ट ग्रन्थ है।

9. **आत्मानुशासनः**— इसकी रचना आचार्य गुणभद्र ने विक्रम की नौवीं शताब्दी में की है। इस ग्रन्थ में 269 पद्य हैं। इसमें आत्मा के यथार्थ स्वरूप की शिक्षा दी गई है। इसमें सूक्तियों और अन्योक्तियों का प्रयोग अत्यन्त मनोहारी है।

10. **अध्यात्मतरंगिणीः**— इसका दूसरा नाम 'योगमार्ग' भी है। इसकी रचना आचार्य सोमदेव ने विक्रम की दसवीं शताब्दी में की है। इसमें 40 पद्यों के द्वारा आत्मा के स्वरूप, शक्ति, गुण, समुद्घातादि का विश्लेषण किया गया है।

11. **योगसारप्राभृतः**— इसकी रचना आचार्य अमितगति प्रथम ने विक्रम की दसवीं शताब्दी में की थी। इसमें 9 अधिकार और 540 श्लोक है। इसमें जीवादि सात तत्त्वों का वर्णन करते हुए योग या ध्यान के स्वरूप का निरूपण किया गया है।

12. **सुभाषितरत्नसंदोहः**— इसकी रचना आचार्य अमितगति द्वितीय ने विक्रम की ग्यारहवीं शती में की है। इसमें 922 पद्य हैं, जिनमें माया-अहंकार-निराकरण, इन्द्रियनिग्रहोपदेश, स्त्री-गुण-दोष आदि अनेक विषयों का निरूपण किया गया है। यह ग्रन्थ सुभाषित रूपी रत्नों का भण्डार है।

13. **उपासकाचारः**— इसकी रचना भी आचार्य अमितगति द्वितीय ने की है। यह 'अमितगति श्रावकाचार' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें 15 अध्याय और 1352 पद्य हैं, जिनमें श्रावक के विभिन्न आचरणों का वर्णन किया गया है।

14. **पंचसंग्रहः**— इसकी रचना भी आचार्य अमितगति द्वितीय ने की है। इसमें कुल 1375 पद्य हैं और 5 प्रकरण हैं। यह जैनदर्शन के कर्मसिद्धान्त का निरूपक ग्रन्थ है।

15. **पुरुषार्थसिद्ध्युपायः**— इसकी रचना आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ने विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में की है। इसमें 226 आर्या छन्द हैं। यह श्रावकाचार सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। हिंसा-अहिंसा का इतना विशद विवेचन अन्यत्र दुर्लभ है।

16. **तत्त्वार्थसारः**— इसकी भी रचना आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ने की है। इसमें 9 अधिकार और 718 पद्य हैं। इसमें सम्यग्दर्शनादि का स्वरूप बतलाते हुए जीवादि तत्त्वों का विशद विवेचन किया गया है।

17. **पद्मनंदिपंचविंशतिः**— इसकी रचना आचार्य पद्मनंदि द्वितीय ने विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में की है। इसमें 26 अधिकार और कुल 939 पद्य हैं। इसमें धर्म, दान, अनित्यता, देशव्रत, सिद्धस्तुति, ब्रह्मचर्य, जिनपूजा आदि विषयों का व्याख्यान किया गया है।

18. **ज्ञानार्णवः**— इसकी रचना आचार्य शुभचन्द्र ने विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में की है। इसमें 42 सर्ग और 2500 पद्य हैं। इसमें ध्यान का अत्यन्त सूक्ष्म और विस्तृत वर्णन है, जो अन्यत्र दुर्लभ है।

19. **तत्त्वानुशासनः**— इसकी रचना आचार्य रामसेन ने विक्रम की बारहवीं शताब्दी में की है। इसमें 259 पद्य हैं। इसमें आध्यात्मिक दृष्टि से ध्यान, ध्याता, ध्येय आदि का निरूपण किया गया है।

20. **धर्मामृतः**— इसकी रचना पं० आशाधर ने विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में की है। इसके दो खण्ड हैं:— अनगार धर्मामृत और सागार धर्मामृत। अनगार धर्मामृत में मुनिधर्म का विस्तृत वर्णन है और सागार धर्मामृत में गृहस्थ धर्म का निरूपण है।

21. **प्रश्नोत्तरोपासकाचारः**— इसकी रचना भट्टारक सकलकीर्ति (वि० सं० 1443 से 1499) ने की है। इसमें 24 परिच्छेद हैं। इसमें श्रावक के अष्ट मूलगुण एवं द्वादश व्रतादि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

22. **तत्त्वज्ञानतरंगिणीः**— इसकी रचना भट्टारक ज्ञानभूषण (वि० सं० 1500 से 1562) ने की है। इसमें 18 अध्याय और कुल 536 पद्य हैं। इसमें ध्यान, भेदविज्ञान आदि के वर्णनपूर्वक शुद्ध चैतन्य के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है।

23. **भव्यजनकण्ठाभरणः**— इसकी रचना महाकवि अर्हद्दास ने विक्रम की चौदहवीं शती में की है। इसमें 242 पद्यों के द्वारा आचार, नीति, दर्शन, सूक्ति आदि अनेक विषयों का प्रतिपादन हुआ है। इस ग्रन्थ पर आचार्य समन्तभद्र के 'रत्नकरंड श्रावकाचार' का विशेष प्रभाव है।

24. **मदनपराजयः**— इसकी रचना कविवर नागदेव ने विक्रम की चौदहवीं शती में की है। यह एक रूपक काव्य है। इसमें जिनराज और कामदेव का संघर्ष दिखाकर मदन को पराजित दिखाया गया है।

25. **भावसंग्रहः**— इसकी रचना पं० वामदेव ने विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी में की है। इसमें 782 पद्य हैं। इसमें मिथ्यामतों की समीक्षा और 14 गुणस्थान आदि का स्वरूप प्रतिपादित है।

26. **लाटीसंहिताः**— इसकी रचना कवि राजमल्ल ने विक्रम की सत्रहवीं शती में की है। इसमें 7 सर्ग और कुल 1287 पद्य हैं। इसमें अष्ट मूलगुण, सप्त व्यसन, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं अणुव्रतादि का वर्णन किया गया है।

इनके अतिरिक्त आचार्य मानतुंग कृत भक्तामर स्तोत्र, सोमदेवसूरि कृत नीतिवाक्यामृत, आचार्य अमितगति कृत पंचसंग्रह, वादिराजसूरि कृत एकीभावस्तोत्र, अर्हद्दास कृत भव्यजनकंठाभरण, भट्टारक सकलकीर्ति कृत सद्भाषितावली, भट्टारक ज्ञानभूषण कृत आत्मसम्बोधन काव्य भी संस्कृत-जैन-विचारकाव्य-परम्परा की उल्लेखनीय कृतियाँ हैं।

27. **अध्यात्मकमलमार्तण्डः**— इसकी रचना भी कवि राजमल्ल ने की है। इसमें 4 अध्याय और 101 पद्य हैं। इसमें निश्चय-व्यवहारात्मक नय-व्यवस्था, सम्यग्दर्शनादि रूप रत्नत्रय, जीवादि सप्ततत्त्व एवं द्रव्य-गुण-पर्याय आदि का निरूपण किया गया है। इस पर आचार्य कुन्दकुन्द के 'समयपाहुड' का विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

28. **पंचाध्यायीः**— इसकी रचना भी कवि राजमल्ल ने ही की है। यह ग्रन्थ अपूर्ण रह गया है, अतः इसमें केवल दो ही अध्याय हैं। फिर भी सम्पूर्ण जैन-सिद्धान्त को हृदयंगम करने के लिए यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है। इसमें सत्ता का स्वरूप, नयों के भेद–प्रभेद और उनका स्वरूप, ज्ञानी का स्वरूप, ज्ञानी के चिह्न आदि अनेक विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

4.1.3. अपभ्रंश-जैन-विचारकाव्य-परंपराः—

विचारकाव्यों की रचना प्राकृत और संस्कृत की अपेक्षा अपभ्रंश भाषा में कम हुई है। यद्यपि अपभ्रंश भाषा में चरितकाव्यों की रचना बड़ी संख्या में हुई, किन्तु विचारकाव्यों की रचना अपेक्षाकृत कम ही हुई है। अपभ्रंश-जैन-विचारकाव्य-परपंरा की कतिपय प्रमुख कृतियाँ निम्नलिखित हैं:—

1. **परमप्पयासुः**— इसकी रचना मुनिराज जोइन्दु ने विक्रम की सातवीं शताब्दी में की है। इसमें 2 अधिकार हैं। प्रथम अधिकार में 126 और द्वितीय अधिकार में 219 दोहे हैं। इसमें अध्यात्म-विचारों की सशक्त अभिव्यंजना विशेष उल्लेखनीय है, जिसमें आत्मशुद्धि और आत्मलीनता पर विशेष बल दिया गया है।

2. **जोगसारुः**— इसकी रचना भी मुनिराज जोइन्दु ने की है। इसमें 108 दोहे हैं, जिनमें 1 चौपाई और दो सोरठे भी हैं। इसमें आत्मतत्त्व को समझने की विशेष प्रेरणा दी गई है और बाह्य क्रियाकाण्ड में उलझने का निषेध किया है। यह एक प्रकार का संतकाव्य है।

3. **पाहुडदोहाः**— इसकी रचना मुनि रामसिंह ने विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में की है। इसमें बाह्य क्रियाकाण्ड की अपेक्षा आत्मिक शुद्धि पर विशेष ध्यान देने की प्रेरणा दी गई है। कबीर की साखियों पर इनका विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

4. **पाहुडदोहाः**— इसकी रचना मुनि महनन्दि ने विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में की है। इसमें 333 दोहे हैं। यह रचना बारहखड़ी के क्रम से लिखी गई है, किन्तु ङ, ञ, ण, य, श, ष— इन वर्णो का इसमें समावेश नहीं किया गया है। यह रचना उपदेशात्मक, आध्यात्मिक और नीतिविषयक है। इसमें कवि ने छोटे-छोटे दोहों में सुन्दर भावों का गुम्फन किया है।

5. **चेयणपुग्गलधमाल** (चेतनपुद्गलधमाल):— इसकी रचना कवि बल्ह या बूचिराज (विक्रम की सोलहवीं शती) ने की है। इस रचना का दूसरा नाम 'अध्यात्मधमाल' भी है। इसमें 136 पद्य हैं। यह एक रूपक काव्य है जिसमें चेतन और पुद्गल का रोचक संवाद वर्णित है। इसमें पुद्गल की संगति से होनेवाली विकारी चेतना परिणति का सुन्दर वर्णन किया गया है।

6. **णाणसमुच्चयसारं**:— इसकी रचना तारणस्वामी (वि० सं० 1505 से 1572) ने की है। इसमें ज्ञान के महत्त्व का कथन किया गया है। तारणस्वामी ने इसके अतिरिक्त ये 13 ग्रन्थ और भी लिखे हैं:— मालारोहण, पण्डितपूजा, कमलबत्तीसी, श्रावकाचार, उपदेशशुद्धसार, त्रिभंगीसार, चौबीसठाना, ममलपाहुड, खातिकाविशेष, सिद्धिस्वभाव, शुन्नस्वभाव, छद्मस्थवाणी और नाममाला। ये सभी ग्रन्थ आध्यात्मिक हैं और इन पर कुन्दकुन्द के समयसार, पूज्यपाद के इष्टोपदेश और समाधितन्त्र, योगीन्दु के परमात्मप्रकाश और योगसार आदि आध्यात्मिक ग्रन्थों का विशेष प्रभाव लक्षित होता है। इनकी भाषा यद्यपि साहित्यिक अपभ्रंश नहीं है, किन्तु उस समय की ऐसी बोलचाल की भाषा है, जो अपभ्रंश की कोटि में ही रखी जा सकती है।

इनके अतिरिक्त कवि हरिषेण कृत धम्मपरिक्खा, अमरकीर्तिगणि कृत धम्मोवएसचूडामणि, झाणपईउ एवं छक्कम्मुवएसु, कवि लाखू कृत अणुवयरयणपईव, कवि रइधू कृत सम्मत्तगुणणिहाण, कवि बल्ह या बूचिराज कृत मयणजुज्झ, कवि अल्हूकृत अणुवेक्खा और ब्रह्म साधारण कृत अणुपेहा आदि अनेक विचारकाव्य भी लिखे गये हैं, जो अपभ्रंश-जैन-विचारकाव्य-परम्परा की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। सभी का रचनाकाल विक्रम की दसवीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य है।

4.1.4. हिन्दी-जैन-विचारकाव्य-परंपराः—

प्राकृत-संस्कृत की भाँति हिन्दी में भी विपुल मात्रा में विचारकाव्य लिखे गये हैं, जिनमें से कतिपय प्रमुख निम्नलिखित हैं:—

1. **समयसार नाटकः**— इसकी रचना कविवर पं० बनारसीदास ने विक्रम की सत्रहवीं शती में आगरा में की है। इसमें कुल मिलाकर 727 पद्य हैं, जिनमें दोहा, सोरठा, सवैया, कवित्त, चौपाई, छप्पय आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है। इसमें कवि ने रूपक द्वारा अज्ञानी जीव की स्थिति, ज्ञानी

की अवस्था, संसार का स्वरूप, आत्मजाग्रति, सप्तव्यसन एवं जीवादि सात तत्त्वों का काव्यात्मक चित्रण किया है।

2. **मोहःविवेकःयुद्धः**— इसकी रचना भी कविवर पं० बनारसीदास ने की है। इसमें 110 चौपाई छन्द हैं। यह लघु खण्डकाव्य है। इसका नायक मोह है और प्रतिनायक विवेक है। इस कृति में अध्यात्म की गम्भीर बातों को भी सरलतापूर्वक कहने की कुशलता देखने योग्य है।

3. **अध्यात्मसवैयाः**— इसकी रचना पाण्डे रूपचन्द ने विक्रम की सोलहवीं शती में की है। इसमें 101 कवित्त और सवैया छन्द हैं। यह आध्यात्मिक रचना है जिसमें जीवन की क्षणभंगुरता, जगत की असारता और जीव की विकारी दशा का सुन्दर चित्रण किया गया है।

4. **ब्रह्मविलासः**— इसकी रचना भैया भगवतीदास ने वि० सं० की अठारहवीं शती में की है। इसमें कवि की 67 रचनाएँ संगृहीत हैं। जिनमें से कुछ रूपक काव्य हैं, कुछ एकार्थ काव्य हैं और कुछ प्रकीर्णक काव्य हैं। रूपक काव्यों में चेतनकर्मचरित, स्वप्नबत्तीसी, मधु-बिन्दुक चौपाई आदि रचनाएँ प्रमुख हैं। इन रचनाओं में कल्पना, भावना, अलंकार, रस, उक्तिसौन्दर्य और रमणीयता का सुन्दर समावेश पाया जाता है।

5. **जैनशतकः**— इसकी रचना महाकवि भूधरदास ने विक्रम की अठारहवीं शती में की है। इसमें 107 छन्द हैं। छन्दों में कवित्त, सवैये, छप्पय और दोहे प्रमुख हैं। 'जैनशतक' में वृद्धावस्था, संसार की असारता, कालसामर्थ्य, दिगम्बर मुनियों की तपस्या आदि विषयों का निरूपण बड़े ही अद्भुत ढंग से किया गया है।

6. **धर्मविलासः**— इसकी रचना कविवर द्यानतराय ने वि० सं० की अठारहवीं शती में की है। इस ग्रन्थ में 333 पद्य, अनेक पूजाएँ एवं धर्म, दर्शन, सिद्धान्त, भक्ति, नीति आदि विषयों पर फुटकर कविताएँ संगृहीत हैं। कवि ने स्वयं इनका संकलन वि० सं० 1780 में किया है। इसमें संगृहीत उपदेशशतक, दानबावनी, पूर्णपंचासिका आदि रचनाएँ हिन्दी के श्रेष्ठ विचारकाव्यों की कोटि में आती हैं।

7. **क्रियाकोशः**— इसकी रचना कवि किशनसिंह ने वि० सं० 1784 में की है। इसमें 2900 छन्दों के द्वारा गृहस्थ श्रावक की विविध क्रियाओं का विस्तृत वर्णन किया गया है।

8. **अध्यात्मबारहखड़ीः**— इसकी रचना पं० दौलतराम कासलीवाल ने की है। इसका परिचय विगत अध्याय में विस्तार से दिया जा चुका है।

9. **क्रियाकोशः**— इसकी भी रचना पं० दौलतराम कासलीवाल ने की है। इसका भी परिचय विगत अध्याय में विस्तार से दिया जा चुका है।

10. **विवेक-विलासः**— इसकी भी रचना पं० दौलतराम कासलीवाल ने की है। इसका भी परिचय विगत अध्याय में विस्तार से दिया जा चुका है।

11. **छहढालाः**— इसकी रचना पं० दौलतराम द्वितीय ने वि० सं० 1891 में की है। इसमें 6 ढाल और कुल 95 छन्द हैं। इसमें चतुर्गति के दुःख, मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का वर्णन किया गया है। यह रचना 'गागर में सागर' की कहावत को चरितार्थ करती है।

12. **ज्ञानदर्पणः**— इसकी रचना पं० दीपचन्द शाह ने विक्रम की अठारहवीं शती में की है। इसमें 196 कवित्त-सवैया छन्द हैं। इसमें केवलज्ञान और आत्मा के ज्ञानस्वभाव का सुन्दर विवेचन किया गया है।

14. **बुधजन-सतसईः**— इसकी रचना भी कवि बुधजन या वृद्धिचन्द ने ही की है। इसमें 695 दोहे हैं, जो अग्रलिखित 4 भागों में विभाजित हैं:—देवानुराग शतक, सुभाषित नीति, उपदेशान्धकार और विराग भावना। इस सतसई में दया, मित्रता, विद्या, संतोष, धैर्य, शोक, वचन आदि विषयों का समावेश है। इसकी भाषा पर राजस्थानी भाषा का प्रभाव है।

इनके अतिरिक्त महाकवि बनारसीदास कृत बनारसी-विलास, रूपचन्द पाण्डे कृत परमार्थदोहाशतक, भट्टारक गुणचन्द्र कृत ज्ञानचेतनानुप्रेक्षा, सोमकीर्ति कृत त्रेपनक्रियागीत, आचार्य शुभचन्द्र कृत तत्त्वसार दूहा, वृन्दावनदास कृत प्रवचनसार, बुधजन कृत तत्त्वार्थबोध और पं० जगमोहन कृत धर्मरत्नोद्योत आदि अनेक रचनाएँ भी हिन्दी-जैन-विचारकाव्य-परम्परा की उल्लेखनीय कृतियाँ हैं।

4.2 जैन-विचारकाव्यों का संरचना विधान और पं० दौलतराम के विचारकाव्यः—

जैन-विचारकाव्य-परंपरा के उक्त विवरण से यह अत्यन्त स्पष्ट है कि प्रारम्भ से ही जैन-विचारकाव्यों की एक अत्यन्त समृद्ध परंपरा रही है, जैन-कवियों द्वारा सहस्रों वर्षों से निरंतर विविध भाषाओं में अगणित विचारकाव्यों की रचना की जाती रही है। यदि इन सभी विचारकाव्यों को एक साथ ध्यानपूर्वक देखा जाए तो ज्ञात होता है कि इन सब की संरचना में परस्पर बड़ा साम्य है; अतः अब यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जैन विचारकाव्य-परंपरा का संरचना-विधान कैसा रहा है और महाकवि पं० दौलतराम ने अपने विचारकाव्यों में उसका किस सीमा तक निर्वाह किया है।

4.2.1. जैन-विचारकाव्यों का संरचना-विधान

जैन-विचारकाव्यों की संरचना को हम निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर स्पष्टतया समझ सकते हैं :–

1. नामकरण,
2. सरंचना-क्रम,
3. सर्ग-संरचना,
4. लक्ष्य।

1. नामकरण :– जैन-चरितकाव्यों के नामकरण का प्रायः एक ही आधार था– नायक या नायिका का नाम, किन्तु जैन-विचारकाव्यों के नामकरण के अनेक आधार हैं। कितने ही विचारकाव्यों का नाम मात्र विषयवस्तु को आधार बनाकर रखा गया है। यथाः– समयपाहुड, दव्वसंग–हो, पंचत्थिकायसंगहो, बारसाणुवेक्खा आदि। कितने ही विचारकाव्यों का नाम मात्र वर्णन-शैली या कलापक्ष को आधार बनाकर रखा गया है। यथाः– पंचाध्यायी, छहढ़ाला आदि। तथा कितने ही विचारकाव्यों का नाम विषयवस्तु और वर्णन-शैली दोनों को आधार बनाकर किया गया है। यथाः– अध्यात्मबारहखड़ी, अध्यात्म-सवैया आदि। वैसे अधिकांश विचारकाव्य प्रथम कोटि के अर्न्तगत आते हैं।

जिन विचारकाव्यों का नामकरण प्रतिपादित विषयवस्तु के आधार पर किया गया है, उनके नाम द्वारा कवि ने प्रतिपादित विषयवस्तु की तो स्पष्ट सूचना दी ही है किन्तु उसमें एक और भी विशेषता दृष्टिगोचर होती है कि उसके नाम का कोई-न-कोई एक शब्द विषयवस्तु की महिमा का उद्‌घाटन करनेवाला भी अवश्य होता है। यथाः– रत्नकरंड-श्रावकाचार, पवयणसारो, अध्यात्मकमलमार्तण्ड आदि। कतिपय जैन-विचारकाव्यों का नामकरण मात्र अध्यायों की संख्या को आधार बनाकर ही कर दिया गया है। यथाः– छक्खण्डागम, पंचाध्यायी, छहढाला आदि।

इसके अतिरिक्त कतिपय विचारकाव्यों के नाम उनके लेखक कवियों के नाम पर भी देखने को मिलते हैं। यथाः– वसुनन्दि-श्रावकाचार, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, पद्मनंदि-पंचविंशति, द्यानत-विलास, भूधर-शतक, बुधजन-सतसई, बनारसी-विलास आदि।

विचारणीय है कि क्या कवियों ने स्वयं ही अपने नाम पर इन कृतियों का ऐसा नाम रखा है या कोई और बात है ?

अन्वेषण करने पर पता चलता है कि वस्तुतः इन विचारकाव्यों का उक्त प्रकार का कवि-नामाधारित नामकरण उनके लेखक कवियों ने स्वयं नहीं किया है और ऐसा नाम प्रचलित होने के पीछे अनेक कारण हैं।

पहला कारण यह है कि कवि ने तो अपनी कृति का नाम कोई और रखा था, किन्तु बाद में अन्य लोगों या पाठकों द्वारा उसका नाम कवि-नाम पर प्रचलित कर दिया गया। जैसेः– 'वसुनन्दि-श्रावकाचार' का कविकृत नाम 'उपासकाध्ययन' है, किन्तु आज वह वसुनन्दि-कृत और श्रावकाचार-प्रतिपादक होने से 'वसुनन्दि-श्रावकाचार' के नाम से प्रसिद्ध हो गया है।

दूसरा कारण यह है कि कवि ने स्वयं अपनी रचना का कोई नामकरण नहीं किया है, इसलिए उसके पाठकों ने व्यवहार-हेतु उसका नामकरण कवि-नाम और विषयवस्तु को आधार बनाकर कर लिया है। यथाः– 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा'। कवि कार्तिकेय स्वामी ने स्वयं अपनी इस कृति का कोई नाम घोषित नहीं किया है, अतः पाठकों ने उसे अनुप्रेक्षाओं का वर्णन देखकर 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' नाम से प्रसिद्ध कर दिया है।

तीसरा कारण यह है कि कवि ने तो छोटी-छोटी अनेक कृतियाँ पृथक्-पृथक् लिखी थीं और उन सबके नाम भी पृथक्-पृथक् लिखे थे, किन्तु पाठकों ने उन सबको एकत्र संगृहीत कर लिया और फिर उस संग्रह का नाम कवि-नाम पर प्रसिद्ध कर दिया। यथाः–पद्मनंदि-पंचविंशति। कवि पद्मनंदि ने छोटी-छोटी 25 रचनाएँ पृथक्-पृथक् लिखीं और उन सबके धर्मोपदेशामृत, दानोपदेशन, अनित्यपंचाशत, एकत्वसप्तति आदि पृथक्-पृथक नाम भी रखे हैं; किन्तु बाद में पाठकों ने इन सबको एकत्र संगृहीत कर लिया और उस संग्रह का नाम कवि-नाम पर 'पद्मनंदि-पंचविंशति' प्रसिद्ध कर दिया।

चौथा कारण पाठकों का अज्ञान या स्पष्टता का आग्रह है, क्योंकि रचना का वास्तविक नाम उन्हें या तो पता नहीं है या वे उसे कवि-नाम के साथ ही बोलने में अधिक स्पष्टता का अनुभव करते हैं। यथाः– कृति का वास्तविक नाम 'जैन-शतक' हैं पर वे उसे 'भूधर-शतक' बोलते हैं। इसी प्रकार कृति का वास्तविक नाम 'धर्म-विलास' है, पर वे उसे 'द्यानत-विलास' वे नाम से पुकारते हैं।

2. संरचनाक्रम :– जैन-विचारकाव्यों की संरचना का अध्ययन आदि, मध्य और अन्त की दृष्टि से करना उचित है।

(क) **आदि** :– जैन-चरितकाव्यों की भाँति जैन-विचारकाव्यों का प्रारम्भ भी मंगलाचरण से होता है। मंगलाचरण में जैनधर्म के परमेष्ठियों को नमस्कार किया जाता है। उदाहरणार्थ 'रत्नकरंड-श्रावकाचार' नामक विचारकाव्य का निम्नलिखित मंगलाचरण द्रष्टव्य है, जिसमें चौबीसवें तीर्थंकर श्री वर्द्धमान स्वामी को नमस्कार किया गया हैः–

"नमः श्रीवर्द्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने।

सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते।।"[1]

कतिपय जैन-विचारकाव्यों का मंगलाचरण अतिविस्तृत होता है, जिसमें चौबीस तीर्थंकरों और पंचपरमेष्ठियों के साथ-साथ तीर्थक्षेत्रों और पूर्ववर्ती प्रमुख आचार्यों का भी पृथक्-पृथक् नामोल्लेखपूर्वक स्मरण किया जाता है। पण्डित दौलतराम कासलीवाल कृत 'क्रियाकोश' का मंगलाचरण 69 दोहा-छन्दों में निबद्ध है और उसमें जिनदेव, जिनगुरु, जिनवाणी, तीर्थक्षेत्र, विदेह आदि क्षेत्रों के समस्त तीर्थंकर, त्रिकालवर्ती तीर्थंकर, पंचपरमेष्ठी, सिद्धचक्र, चार अनुयोग, चार मंगल, कृत्रिम जिनप्रतिमाएँ, रत्नत्रय, चर्तुविधसंघ, केवलज्ञान, पंचकल्याणक आदि समस्त पूज्यों को नमस्कार किया गया है।[2]

अधिकांश जैन विचारकाव्यों में इन आराध्यदेवों के स्थान पर इनके वीतरागता, सर्वज्ञता आदि गुणों को नमस्कार किया गया है, क्योंकि जैनदर्शन में व्यक्ति की अपेक्षा गुणों को अधिक प्रधानता दी गई है। इस संदर्भ में श्री हरिभद्रसूरि का यह कथन विशेष रूप से द्रष्टव्य है:—

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।

युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्य परिग्रहः।।[3]

इस प्रकार का गुणप्रधान मंगलाचारण आचार्य पूज्यपाद कृत 'इष्टोपदेश', मुनिराज योगीन्दु कृत 'परमात्मप्रकाश', कविवर दौलतराम कृत 'छहढाला' आदि अनेक ग्रन्थो में प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ कविवर दौलतराम कृत 'छहढाला' का मंगलाचरण द्रष्टव्य है:—

"तीन भुवन में सार, वीतराग-विज्ञानता।

शिवस्वरूप शिवकार, नमहुं त्रियोग सम्हारिकै।।[4]

जैन-साहित्य में मंगलाचरण के हेतु और फल पर बड़ी गंभीरता से विचार किया गया है। इस सम्बन्ध में आचार्य विद्यानन्दि कृत "आप्तपरीक्षा", आचार्य यतिवृषभ कृत "तिलोयपण्णत्ति", वीरसेन स्वामी कृत "धवला", आचार्य जयसेन कृत "तात्पर्यवृत्ति" (पंचास्तिकाय-टीका) और पं० टोडरमल कृत "मोक्षमार्गप्रकाशक" आदि ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय हैं। विस्तार-भय से उनका विवेचन यहाँ संभव नहीं है। आचार्य विद्यानन्दि कृत "आप्तपरीक्षा" से मात्र एक श्लोक उद्धृत कर रहे हैं, जिसमें कहा गया है कि श्रेयोमार्ग की संसिद्धि के लिए ग्रन्थारम्भ में मंगलाचरण अवश्य करना चाहिए:—

1. रत्नकरंड-श्रावकाचार, श्लोक 1
2. क्रियाकोश, छन्द 1 से 69
3. षड्दर्शनसमुच्चय, मंगलम्, पृष्ठ 11
4. छहढाला, छन्द 1

"श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः।

इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ मुनिपुंगवाः।।"

"तिलोयपण्णत्ति" में तो तीन बार – शास्त्र के आदि, मध्य और अन्त में – मंगलाचरण करने का सहेतुक निर्देश है:–

'पुव्विलाइरिएहिं उत्तो सत्थाण मंगलं जो सो।

आइम्मि मज्झअवसाणि य सणियमेण कायव्वो।।

पढमे मंगलवयणे सित्था सत्थस्स पारगा होंति।

मज्झिम्मे णीविग्घं विज्जा विज्जाफलं चरिमे।।"

अर्थात् पूर्वकालीन आचार्यों ने जो शास्त्र का मंगल कहा है, उस मंगल को नियम से शास्त्र के आदि, मध्य और अन्त में करना ही चाहिए। शास्त्र के आदि में मंगल के पढ़ने पर शिष्य लोग शास्त्र के परगामी होते हैं, मध्य में मंगल करने पर निर्विघ्न विद्या की प्राप्ति होती है और अन्त में मंगल करने पर विद्या का फल प्राप्त होता है।

मंगलाचरणोपरान्त जैन-विचारकाव्यों में ग्रन्थ-प्रतिज्ञा होती है, जिसमें कवि ग्रन्थ में प्रतिपादित की जानेवाली विषयवस्तु की सूचना देते हुए ग्रन्थ-निर्माण की प्रतिज्ञा करता है। कितने ही विचारकाव्यों में ग्रन्थ-प्रतिज्ञा का यह कार्य मंगलाचरण के साथ ही संपन्न कर लिया जाता है। यथा:–

"वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचल-मणोवमं गदिं पत्ते।

वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं।।"

अर्थात् मैं ध्रुव, अचल और अनुपम गति को प्राप्त समस्त सिद्धों की वंदना करके यह श्रुतकेवलि-कथित 'समयपाहुड' कहता हूँ।

ग्रंथ-प्रतिज्ञा के उपरान्त अनेक विचारकाव्यों में कृति के नाम की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या की गई है। उदाहरणार्थ आचार्य कुन्दकुन्द कृत 'णियमसारो' की यह गाथा प्रस्तुत है:–

"णियमेण य जं कज्जं तं णियमं णाणदंसणचरित्तं।

विवरीयपरिहरत्थं भणिदं खलु सारमिदि वयणं।।"

---

1. आप्तपरीक्षा, श्लोक 2
2. तिलोयपण्णत्ति, गाथा–1/28,29
3. समयसार, गाथा 1
4. नियमसार, गाथा 3

इसी प्रकार आचार्य अमृतचन्द्र कृत "पुरुषार्थसिद्ध्युपाय" के निम्नलिखित दो श्लोक भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं:–

"अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगन्धरसवर्णैः।
गुणपर्ययसमवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः।।
विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वम्।
यत्तस्मादविचलनं स एवं पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम्।।[3]

मंगलाचरण, ग्रन्थ-प्रतिज्ञा और ग्रन्थनाम व्याख्या के उपरान्त ग्रन्थ की विषयवस्तु प्रारम्भ होती है। विषयवस्तु में प्रारम्भ से अन्त तक एक निश्चित क्रम या प्रवाह होता है, जिसका अध्ययन हम आगामी पृष्ठों में 'अन्तःसूत्र' शीर्षक द्वारा करेंगे।

(ख) **मध्य** :– जैन-विचारकाव्यों के मध्य में तर्क, वितर्क और व्याख्या के द्वारा मूल विषय को भेद-प्रभेदों सहित स्पष्ट किया जाता है। अनेक स्थलों पर विषय को स्पष्ट करने के लिए लेखक स्वयं ही प्रश्न उठाता है और स्वयं ही उसका उत्तर देता है। कहीं किसी पारिभाषिक शब्द की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या की जाती है और फिर उसके द्वारा वांछित निष्कर्ष की स्थापना की जाती है। कितने ही विचारकाव्यों में अपने विषय को स्पष्ट करने के लिए प्राचीन आचार्यों के भी उद्धरण दिये जाते हैं। इस प्रकार इन विचारकाव्यों के मध्य में जैन-कवियों द्वारा प्रतिपाद्य विषयवस्तु को सांगोपांग स्पष्ट करने की भरसक चेष्टा की जाती है।

जिन विचारकाव्यों में अध्याय-विभाजन होता है, उनमें प्रायः सभी में प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में भी मंगलाचरण पाया जाता है।

(ग) **अन्त** :– जैन-विचारकाव्यों के अन्त में प्रायः चार बातें होती हैं:– कवि का लघुता-प्रदर्शन, परमात्मा को नमस्कार, शास्त्राभ्यास का फल और ग्रन्थ–प्रशस्ति। ज्ञातव्य है कि यद्यपि अधिकांश विचारकाव्यों के अन्त में ये चारों ही चीजें युगपद् मिलती हैं, किन्तु अनेक विचारकाव्य ऐसे भी हैं जिनमें इन चारों बातों में से मात्र एक, दो या तीन ही प्राप्त होती हैं।

लघुता-प्रदर्शन :– लघुता-प्रदर्शन में कवि कहता है कि मैं अल्पबुद्धि व प्रमादी हूँ और यद्यपि इस ग्रन्थ की रचना मैंने पूर्वाचार्यों के उपदेशानुसार अत्यन्त सावधानीपूर्वक की है, तथापि कहीं कोई शब्द या अर्थ की भूल हो गई हो तो विद्वान पाठक मुझे क्षमा करें एवं उसे सुधारने की कृपा करें। यथा:–

---

3. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक 9 और 15

"जं किंचिपि एत्थ भणियं अयाणमाणेण पवयणविरुद्धं।

खमिऊण पवयणधरा सोहित्ता तं पयासंतु।।"[1]

अर्थात् अजानकार होने से मेरे द्वारा इसमें जो कुछ भी प्रवचन-विरुद्ध कहा गया हो तो प्रवचन के धारक जानकार आचार्य मुझे क्षमा करें और उसे शोधकर प्रकाशित करें।

कविवर पं. दौलतराम ने भी अपने 'छहढाला' नामक विचारकाव्य का अन्त इसी प्रकार के निवेदन के साथ किया है:–

"लघुधी तथा प्रमाद तैं, शब्द अर्थ की भूल।

सुधी सुधार पढ़ों सदा, तो पाओ भव कूल।।"[2]

आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ने अपनी कृति "पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय" को पूर्ण करते हुए लिखा है कि इस ग्रन्थ में मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं है, इसमें तो सहज ही विचित्र वर्णों से पद बन गये हैं, पदों से वाक्य बन गये हैं और वाक्यों से यह पवित्र शास्त्र बन गया है:–

"वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि।

वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः।।"[3]

उक्त पंक्तियों में वस्तुस्वरूप के साथ–साथ कवि की निरभिमानता भी व्यक्त हो रही है।

परमात्मस्मरण :– कहा जा चुका है कि जैन-साहित्य में मंगलाचरण का विधान ग्रन्थ के आदि में तो है ही, मध्य और अन्त में भी है, अतः लघुता-प्रदर्शन के बाद जैन-विचारकाव्यों के अन्त में परमात्मा को नमस्कार किया जाता है। 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' की निम्नलिखित गाथा इस सन्दर्भ में विशेष उल्लेखनीय है, जिसमें पंचबालयति तीर्थंकरों को भावपूर्वक नमस्कार किया गया है :–

"तिहुयणपहाणस्वामिं कुमारकाले वि तविय तवचरणं।

वसुपुज्जसुयं मल्लिं चरिमतियं संथुवे णिच्चं।।"[4]

शास्त्राभ्यास का फल :– इसमें ग्रन्थ के नामोल्लेखपूर्वक कहा जाता है कि जो भव्यजीव इस ग्रन्थ का भलीप्रकार अध्ययन करेगा वह निश्चित रूप से शीघ्र ही निरुपम और अविनाशी सुख की प्राप्ति करेगा। 'इष्टोपदेश' का अन्त करते हुए आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं कि–

---

1. वसुनन्दि-श्रावकाचार, गाथा 545
2. छहढाला, छन्द 6/17
3. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक 226
4. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 489

"इष्टोपदेशमिति सम्यगधीत्य धीमान् मानापमानसमतां स्वमताद्वितन्य।

मुक्ताग्रहो विनिवसन् सजने वने वा मुक्तिश्रियं निरुपमामुपयाति भव्यः।।"

अर्थात् बुद्धिमान भव्य इस इष्टोपदेश का सम्यक् प्रकार से अध्ययन करके मान और अपमान में समता रखता हुआ, आग्रह रहित होता हुआ, घर या वन में रहता हुआ निरुपम मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति करता है।

इसी प्रकार परमात्मप्रकाश के अन्त में मुनिराज योगीन्दु भी ग्रन्थ के नामोल्लेखपूर्वक उसके अभ्यास का फल बताते हुए लिखते हैं कि–

लक्खणछंदविवज्जियउ, एहु परमप्पपयासु।

कुणइ सुहावि भावियउ, चउगइदुक्खविणासु।।"

अर्थात् यह लक्षण-छन्द-विवर्जित 'परमात्मप्रकाश' यदि शुद्ध भावों से भाया जाए तो चारों गतियों के दुःखों का विनाश करता है।

ग्रन्थ-प्रशस्तिः– ग्रन्थ-प्रशस्ति में ग्रन्थ और ग्रन्थकारों का नाम बताते हुए ग्रन्थ-निर्माण के हेतु और प्रयोजन पर प्रकाश डाला जाता है। साथ ही ग्रन्थ का परिमाण भी बताया जाता है। सबसे अन्त में ग्रन्थ-रचना के समय की सूचना भी दी जाती है। यह ग्रन्थ-प्रशस्ति प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश के विचारकाव्यों में प्रायः कम है, किन्तु हिन्दी के विचारकाव्यों में प्रायः सर्वत्र मिलती है। महाकवि भूधरदास कृत 'जैन-शतक' की निम्नलिखित ग्रन्थ-प्रशस्ति अवलोकनीय है:–

"आगरे में बालबुद्धि भूधर खंडेलवाल, बालक के ख्याल-सो कवित्त कर जानै है।

ऐसे ही कहत भयो जैसिंह सवाई सूवा, हाकिम गुलाबचन्द रह तिहि थानै है।।

हरिसिंह साह के सुवंश धर्मरागी नर, तिनके कहे सौं जोरि कीनी एक ठानै है।

फिरि-फिरि प्रेरे मेरे आलस को अंत भयो, उनकी सहाय यह मेरो मन मानै है।।

सतरह सौ इक्यासिया, पोह पाख तमलीन।

तिथि तेरस रविवार को, शतक सम्पूरण कीन।।"

---

1. इष्टोपदेश, श्लोक 51
2. परमात्मप्रकाश, दूहा 341
3. जैनशतक, छन्द 106 और 107

3. सर्ग-संरचना :– जैन-विचारकाव्यों में सर्ग-विधान की स्थिति जैन-चरितकाव्यों से प्रायः नितान्त भिन्न है। गत अध्याय में हम देख चुके हैं कि जैन-चरितकाव्यों में सर्ग या अध्याय निश्चित रूप में होते थे और न केवल होते थे, अपितु दस-पन्द्रह की संख्या के आसपास तक होते थे। किन्तु जैन-विचारकाव्यों में ऐसी अनिवार्यता नहीं है। प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश भाषा में लिखे हुये अधिकांश विचारकाव्यों में लेखकों द्वारा प्रायः कोई सर्ग-विभाजन नहीं किया गया है। यह बात अलग है कि बाद में उनके टीकाकारों ने उनकी विषयवस्तु के आधार पर उन्हें अध्यायों में विभाजित करके प्रस्तुत किया है। 'समयपाहुड' में उसके लेखक आचार्य कुन्दकुन्द ने उसमें कोई अध्याय-कल्पना नहीं की है, किन्तु अमृतचन्द्र, जयसेन आदि व्याख्याकारों ने उसमें पूर्वरंग, जीवाजीवाधिकार, कर्त्ता-कर्माधिकार, पुण्य-पापाधिकार, आस्रवाधिकार इत्यादि अनेक अधिकार बनाये हैं।

ऐसी ही स्थिति पवयणसारो, पंचत्थिकायसंगहो आदि अनेकानेक विचारकाव्यों की है।

हिन्दी में भी सर्ग-विभाजन का होना अनिवार्य नहीं है। जैनशतक, उपदेशशतक, ज्ञानदर्पण इत्यादि अनेक विचारकाव्य ऐसे हैं जिनमें सर्ग-विभाजन नहीं है, किन्तु फिर भी हिन्दी के विचारकाव्यों में कहीं-कहीं सर्ग-विभाजन प्राप्त होता है और सर्गों का विषयवस्तु पर आधारित नामकरण भी देखने को मिलता है। यथा– "बुधजन-सतसई" में चार अधिकार हैं और उनके नाम क्रमशः निम्नलिखित हैं:– देवानुराग-शतक, सुभाषित-नीति, उपदेशाधिकार और विराग-भावना। "समयसार नाटक" में भी पं० बनारसीदास ने 13 द्वारों की भेद-कल्पना की है और उन्हें क्रमशः अग्रलिखित नाम दिये हैं:– जीवद्वार, अजीवद्वार, कर्त्ता-कर्म-क्रियाद्वार, पुण्य-पाप-एकत्व द्वार, आस्रव द्वार, संवरद्वार, निर्जरा द्वार, बन्धद्वार, मोक्षद्वार, सर्वविशुद्धि द्वार, स्याद्वाद द्वार, साध्य-साधक द्वार, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार।

किन्तु कहीं-कहीं केवल अधिकार-विभाजन ही है, अधिकारों का नामकरण नहीं है। यथा– पं० दौलतराम कृत 'छहढाला' में 6 अधिकार हैं, जिनको 'ढाल' कहा गया है, किन्तु इनका नामकरण नहीं किया गया है; मात्र पहली ढाल, दूसरी ढाल, तीसरी ढाल आदि कह दिया गया है।

तात्पर्य यह है कि जैन-विचारकाव्यों में सर्ग-विभाजन और सर्गों के नामकरण की कोई अनिवार्यता नहीं है।

4. लक्ष्य : जैन-विचारकाव्यों का लक्ष्य वस्तुतः एकमात्र वही वीतरागता है, जो सम्पूर्ण जैन-साहित्य का ही प्रधान लक्ष्य है। जैन-कवियों ने अपनी कृतियों में प्रत्येक विषय का प्रतिपादन इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर किया है कि उससे वीतराग भाव का पोषण हो और उनके पाठक राग-द्वेषादि सर्व दुःखों से मुक्त हो सकें।

आचार्यकल्प पं० टोडरमल ने अपनी कृति "मोक्षमार्गप्रकाशक" में इस विषय को भली-भाँति स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं कि :– जे शास्त्र मोक्षमार्ग का प्रकाशकरैं हैं तेई शास्त्र वांचने-सुनने योग्य है; जातैं जीव संसार विषैं नाना दुःखनिकरि पीड़ित हैं। सो शास्त्ररूपी दीपक करि मोक्षमार्ग कौं पावैं तो उस मार्ग विषैं आप गमन करि उन दुःखनितैं मुक्त होय,तातैं सो मोक्षमार्ग एक वीतरागभाव है; जिन शास्त्रनिविषैं काहू प्रकार राग-द्वेष-मोह भावनिका निषेध करि वीतरागभाव का प्रयोजन प्रगट किया होय तिनही शास्त्रनि का वांचना सुनना उचित है ..... ऐसे साक्षात् परम्परा करि वीतराग भाव कौं पोषैं ऐसे शास्त्र ही का अभ्यास करना योग्य है।[1]"

तात्पर्य यह है कि जैन-विचारकाव्यों में चाहे किसी भी विषय का प्रतिपादन किया गया हो, किन्तु उनका लक्ष्य येन-केन प्रकारेण वीतरागता-पोषण ही होता है। रचना के समापन में तो इसका उल्लेख होता ही है, किन्तु रचना के मध्य में भी अनेक स्थलों पर पुनः-पुनः पाठकों को वीतराग भाव उत्पन्न करने की प्रेरणा दी जाती है। उदाहरणार्थः– जैन-विचारकाव्यों से कतिपय उद्धरण प्रस्तुत हैं:–

1. *"रत्तो बन्धदि कम्मं मुच्चदि जीवो विरागसंपत्तो।*
   एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्जह।[2]"

अर्थात् रागी जीव कर्म बाँधता है, और वैराग्य को प्राप्त जीव कर्म से छूटता है – यह जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है; इसलिए हे जीव ! तू कर्मों में राग मत कर।

2. *"तम्मा णिव्वुदिकामो रागं सव्वत्थ कुणह मा किंचि।*
   सो तेण वीतरागो भविओ भवसायरं तरदि।[3]"

अर्थात् मोक्षाभिलाषी जीव सर्वत्र किंचित् भी राग न करें, क्योंकि भव्य जीव वीतराग होकर ही भवसागर को पार करता है।

3. *"यह राग आग दहै सदा, तातैं समामृत सेइये।*
   चिर भजे विषय-कषाय अब तो, त्याग निजपद वेइये।
   कहा रच्यो पर पद में, न तेरो पद यहै क्यों दुःख सहै।
   अब दौल होउ सुखी स्वपद-रचि, दाव मत चूकौ यहै।[4]"

---

1. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 21–22
2. समयसार, गाथा 150
3. पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा 172
4. छहढाला, छन्द 6/15

4.2.2. पं० दौलतराम के विचारकाव्यों का संरचना-विधानः–

पं० दौलतराम के चरितकाव्यों की भाँति उनके विचारकाव्यों का भी संरचना-विधान जैन-विचारकाव्य-परम्परा के संरचना–विधान के अत्यधिक अनुकूल है, किन्तु उसमें कहीं-कहीं कुछ विशेषता भी दृष्टिगोचर होती है, जिस सब को कतिपय प्रमुख बिन्दुओं के आधार पर इस प्रकार समझा जा सकता हैः–

1. **नामकरणः**–जैन-विचारकाव्यों के नामकरण हेतु मुख्यतः चार आधारों का चयन किया जाता रहा हैः– विषयवस्तु, वर्णन–शैली, ये दोनों और कवि-नाम। कवि-नाम को तो केवल पाठकों ने अपनाया है। शेष तीन आधारों मे से पं० दौलतराम ने अपने विचारकाव्यों के नामकरण हेतु मात्र प्रथम एवं तृतीय आधारों को ग्रहण किया है। प्रथम आधार विषयवस्तु के आधार पर उन्होंने 'विवेक-विलास' आदि विचारकाव्यों का नामकरण किया है, तथा तृतीय आधार विषयवस्तु और वर्णन-शैली दोनों के आधार पर उन्होंने अपने 'अध्यात्मबारहखड़ी' आदि विचारकाव्यों का नामकरण किया है। मात्र वर्णन-शैली के आधार पर उन्होंने अपने किसी भी विचारकाव्य का नामकरण नहीं किया है।

2. **संरचना-क्रमः**– जैन-विचारकाव्यों में उनके आदि, मध्य और अन्त की भी एक निश्चित रूपरेखा प्राप्त होती है। तदनुसार उनके प्रारम्भ में मंगलाचरण, ग्रन्थ-प्रतिज्ञा एवं उनकी तर्क-वितर्कमयी व्याख्या होती है और अन्त में लघुता-प्रदर्शन, परमात्म-स्मरण, शास्त्राभ्यास का फल-निरूपण एवं ग्रन्थ-प्रशस्ति प्राप्त होती है। महाकवि पं० दौलतराम के विचारकाव्यों का संरचना-क्रम लगभग इसी प्रकार का है। उनके सभी विचारकाव्यों के प्रारम्भ में मंगलाचरण पाया जाता है जो जैन-विचारकाव्य-परंपरा की भाँति प्रायः सर्वत्र वस्तुनिर्देशात्मक या प्रतिज्ञागर्भित है। उदाहरणार्थ 'क्रियाकोश' का मंगलाचरण द्रष्टव्य हैः–

"प्रणमि जिनन्द मुनिंद को, नमि जिनवर-मुख वानि।
क्रियाकोश भाषा कहूं, जिन आगम परवानि।।"[1]

इसी प्रकार पं० दौलतराम के विचारकाव्यों का मध्य और अन्त भी जैन-विचारकाव्य-परंपरा के अनुरूप ही है। उनके मध्य में तो प्रतिपाद्य विषय के भेद-प्रभेद और उन सबकी तर्क-वितर्कमयी व्याख्या होती ही है, जिसका अध्ययन हम रचनाओं का परिचय देते समय कर चुके हैं। तथा अन्त में लघुता–प्रदर्शन, परमात्म-स्मरण, शास्त्राभ्यास का फल-निरूपण और ग्रन्थ-प्रशस्ति – ये चारों मुख्य बातें पाई जाती हैं। शास्त्राभ्यास के फल-निरूपण से सम्बन्धित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैः–

---

1. क्रियाकोश, छन्द 1

"पढ़ै सुनै अर सरदहै, इह जु विवेक विलास।
सो अविवेक निवारिकैं, पावै निजपुर वास।।"[1]

3. **सर्ग-संरचना**:– जैन-विचारकाव्य-परंपरा की कृतियों में उनकी विषयवस्तु को कहीं तो सर्ग या परिच्छेदों में विभाजित किया गया है और कहीं नहीं किया गया है। पं० दौलतराम कासलीवाल ने कुल 7 विचारकाव्यों की रचना की है, जिनमें से केवल 'विवेक विलास' और 'अध्यात्मबारहखड़ी'– इन दो ही विचारकाव्यों में सर्ग-विभाजन प्राप्त होता है, शेष सभी विचारकाव्यों में एक धारा-प्रवाह रूप से अपने विषय का प्रतिपादन किया गया है। 'विवेक-विलास' में 14 सर्ग हैं, जिन्हें 'वर्णन' नाम दिया गया है। और 'अध्यात्मबारहखड़ी' में एक प्रति के अनुसार 5 और दूसरी प्रति के अनुसार 8 परिच्छेद हैं।

4. **लक्ष्य**:– पूर्ववर्ती जैन-विचारकाव्यों की भाँति पं० दौलतराम के विचारकाव्यों का लक्ष्य भी मानव को राग-द्वेष अथवा काम-क्रोधादि दुःख रूप भावों से पूर्णतः मुक्त होकर वीतरागभावों को धारण करने की प्रेरणा देना है। साथ ही यह भी स्पष्ट करना है कि जब तक राग-द्वेषादि भावों से पूर्णतः मुक्त न हुआ जा सके तबतक अशुभ राग-द्वेषादि भावों से तो अवश्य ही बचना चाहिए। यही कारण है कि पं० दौलतराम ने अपने विचारकाव्यों के माध्यम से जनता को नीति एवं सदाचार को अपनाने की भी पवित्र प्रेरणा प्रदान की है। इस सन्दर्भ में 'क्रियाकोश' की निम्न पंक्तियाँ विशेषतः द्रष्टव्य हैं, जिनमें चोरी और उसके विविध रूपों को त्यागने की मार्मिक प्रेरणा दी गई है:–

"त्यागों चोरी जो सुख चाहौ। ठगविद्या तजि लोभ विलाहौ।।
परधन भूले विसरें आयौ। राखौ मति यह जिनश्रुत गायौ।।
लूटि लेहू मति काहू को धन। परधन हरवें कों न धरौं मन।।
चुगली करन लुटावों काकों। छांडो भाई अन्य रमा कौ।।
काहू की न धरौहर दाबौ। सूधौ राखौ मित्र हिसाबौ।।
तौल मांहि घटि बधि मति कारौ। ये जिन आज्ञा हिरदै धारौ।।

तजो चोर की संगती, तासूं नहिं व्यवहार।
चोर्‌यो माल गहौ मती, जो चाहौ सुख सार।।[2]

---

1. विवेक-विलास, छन्द 323
2. क्रियाकोश, छन्द 297 से 300

4.3. प्रतिपाद्यः—

पं० दौलतराम कासलीवाल के विचारकाव्यों में धर्म, दर्शन, अध्यात्म, भक्ति, नीति आदि अनेक विषयों का प्रतिपादन हुआ है। यद्यपि इनमें से कुछ विषयों का प्रतिपादन उनके चरितकाव्यों में भी हुआ था, किन्तु वहाँ वह अति संक्षेप में हुआ है, जबकि विचारकाव्यों में पर्याप्त विस्तार के साथ हुआ है।

पं० दौलतराम कासलीवाल के विचारकाव्यों के प्रतिपाद्य को हम निम्नलिखित शीर्षकों द्वारा स्पष्टतया समझ सकते हैंः—

1. धर्म, 2. दर्शन, 3. अध्यात्म,
4. भक्ति, 5. नीति।

4.3.1. धर्मः—

गत अध्याय में पं० दौलतराम कासलीवाल के चरितकाव्यों के प्रतिपाद्य का अध्ययन करते समय हम 'धर्म' शीर्षक के अन्तर्गत धर्म की परिभाषा और धर्म के दो भेदों— मुनिधर्म और श्रावकधर्म – के बारे में पर्याप्त जानकारी प्राप्त कर चुके हैं। पं० दौलतराम कासलीवाल ने उस विषय में अपने विचार अपने विचारकाव्यों में भी वैसे ही प्रकट किये है; अतः यहाँ उन्हें पुनः न लिखकर केवल वे ही बातें लिखना उचित है जो उनसे अधिक हैं। मुनिधर्म और श्रावकधर्म – इन दोनों में से मुनिधर्म का विवेचन कवि ने अपेक्षाकृत कम ही किया है, क्योंकि वह इसके लिए स्वयं को असमर्थ समझता है। उसने स्पष्ट कहा है कि—

"मुनि की क्रिया बिलोकि कै, हम पै वरनि न जाय।
लौकिक क्रिया गृहस्थ की, वरणूं मुनि-गुण ध्याय।।[1]"

महाकवि पं० दौलतराम कासलीवाल के अनुसार श्रावकधर्म 'सग्रन्थ' (परिग्रह–सहित) है और मुनिधर्म 'निर्ग्रन्थ' है। श्रावकधर्म 'पिपीलिका-पंथ' है और मुनिधर्म 'विहंगम-पंथ' है।[2]

1. मुनिधर्मः— मुनिधर्म का विवेचन करते हुए कवि ने कहा है कि मुनिधर्म समस्त कर्मों का क्षय करके मोक्षपद की प्राप्ति कराता है, अतः अति प्रबल है और बारम्बार स्तुति के योग्य है।[3] कवि के अनुसार मुनि निर्ग्रंथ होते हैं, जिनेन्द्र के मार्ग पर चलते हैं, संसार–भोगों से विरक्त होते हैं, किसी से राग-द्वेष

1. क्रियाकोश, छन्द 58
2. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द– उ/40
3. क्रियाकोश, छन्द 55–56

नहीं करते हैं, स्वयं में लीन रहते हैं, अन्य कहीं अपने चित्त को नहीं भ्रमाते हैं, एक स्थान पर अधिक दिन नहीं रहते हैं, रागादि-परिहार-हेतुक आत्मध्यान के अतिरिक्त कोई कार्य नहीं करते हैं, सागर से पार उतरने के लिए उन जैसा उत्कृष्ट पुरुषार्थी अन्य कोई नहीं हैं।[1]

कवि के अनुसार मुनि 28 मूलगुणों और 84 लाख उत्तरगुणों के धारक होते हैं।

28 मूलगुण अग्रलिखित हैं:[2]— 5 महाव्रत, 5 समिति, 5 इन्द्रियविजय, 6 आवश्यक और 7 अन्य गुण। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, और परिग्रह — इन पाँच पापों के सर्वथा त्याग का नाम 5 महाव्रत है। ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग — ये पाँच समितियाँ हैं। चार हाथ जमीन देखकर चलने का नाम ईर्या समिति, हित-मित-प्रिय वचन बोलने का नाम भाषा समिति, योग्य आहार विधिपूर्वक ग्रहण करना एषणा समिति, देख-भाल कर संयम के उपकरणों को उठाना-रखना आदान-निक्षेपण समिति और देखभालकर निर्जन्तु स्थान पर मल-मूत्र का विसर्जन करना उत्सर्ग समिति है। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण — इन पाँच इन्द्रियों के विषयसेवन का त्याग करना पंचेन्द्रिय विजय है। समता, वन्दन, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग— ये 6 आवश्यक हैं; जिनका पालन मुनि प्रतिदिन नियम से करते हैं। स्नान नहीं करना, दंतमंजन नहीं करना, वस्त्र रहित रहना, रात्रि के पिछले भाग में एक करवट से भूमि पर कुछ समय शयन करना, दिन में एक ही बार आहार लेना, वह भी खड़े–2 अपने ही हाथ में लेना और केशलौंच करना — ये 7 शेष गुण हैं।

मुनियों के 84 लाख उत्तरगुणों का वर्णन कवि ने पूर्वलिखित ग्रन्थों के आधार से इस प्रकार किया है[3]:—

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, जुगुप्सा, भय, रति, अरति, मन, वचन, काय, मिथ्यात्व, प्रमाद, पिसुनता, अज्ञान, इन्द्रियपोषण — ये 21 दोष हैं। इन सब को अतिक्रम व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार से गुणा किया जाये तो 21X4=84 हो जाते हैं। इन 84 को 10 प्रकार के जीव होने से 10 से पुनः गुणा करना चाहिए। अब 840 हो गये। इसके बाद 10 दण्डक, 10 उनके खण्ड, 10 शील के दोष और 10 निषिद्ध दोष से गुणा किया जाये तो 84 लाख हो जाते हैं। इसे गणितीय सूत्र में इस प्रकार समझा जा सकता है:—

21 दोष X 4 अतिक्रमदि X 10 जीव X 10 दण्डक X 10 उनके खंड X 10 शील के दोष X 10 निषिद्ध दोष = 84 लाख उत्तरगुण।

1. क्रियाकोश, छन्द 1375 से 1377
2. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द– च/75 से 81
3. वही, छन्द– च/85 से 104

कवि ने यहाँ यह भी कहा है कि मुनि के उत्तरगुणों की संख्या वस्तुतः 84 लाख नहीं, अपितु असंख्य होती है। 84 लाख तो सहज रूप से गिनाये जा सकते हैं।[1]

ऐसे असंख्य मूलोत्तर गुणों के धारक मुनि ग्रीष्मकाल में गिरि-शिखर पर, वर्षा काल में वृक्ष के नीचे और शीतकाल में सरिता-तट पर आत्मध्यान करते हैं और आत्मध्यान की गहन तल्लीनता के द्वारा एक दिन केवलज्ञान की प्राप्ति करके जिनराज पद की प्राप्ति कर लेते हैं।[2]

मुनि की अन्तर्बाह्य दशा का चित्रण करनेवाले दो सुन्दर छन्द यहाँ विशेषतः द्रष्टव्य हैं:—

"उपशमशीला शांतधी, महासत्त्व परवीन।
निवसै निर्जन वन विषैं, ध्यान लीन तन खीन।।
गिरिसिर गुफामंझार जे, अथवा बसैं मसान।
भूमि माहिं निरव्याकुला, धीर वीर बहु जान।। [3]

2. श्रावकधर्म:— पं० दौलतराम कासलीवाल का 'क्रियाकोश' नामक विचारकाव्य पूरी तरह श्रावकधर्म के विवेचन के लिए ही समर्पित है। श्रावकधर्म का विवेचन करते हुए उसमें बताया गया है कि जिनेन्द्र देव, मोक्षमार्गी गुरु और जिनशासन के ग्रन्थों की उपासना करनेवाला वह गृहस्थ श्रावक भी बारम्बार धन्य है जो जीव मात्र का मित्र होता है, अपने भावों को शुद्ध रखता है, परधन को पत्थर के समान समझता है और विवेकपूर्वक अनेक क्रियाएँ करता है।[4]

पं० दौलतराम कासलीवाल के अनुसार गृहस्थ की अनेक क्रियाएँ होती हैं, किन्तु उनमें से निम्नलिखित 53 क्रियाएँ मुख्य हैं:[5]— 8 मूलगुण, 12 व्रत, 12 तप, समभाव, 11 प्रतिमा, 4 दान, जलगालन, रात्रिभोजन-त्याग, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र।[6]

पण्डित दौलतराम ने इन सब क्रियाओं का अतिविस्तृत विवेचन किया है, जिसे यहाँ सम्पूर्णतः प्रस्तुत करना स्थानाभाव के कारण सम्भव नहीं है, अतः अतिसंक्षेप में ही संकेत करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

आठ मूलगुण:— 8 मूलगुण से तात्पर्य यह है कि मद्य, मांस, मधु और पंच उदम्बर फलों के भक्षण का कृत-कारित-अनुमोदना पूर्वक मन, वचन, काय से त्याग।[7] इनको मूलगुण इसलिए कहते

1. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द— च/83
2. क्रियाकोश, छन्द 1407
3. क्रियाकोश, छन्द 1789-1790
4. क्रियाकोश, छन्द 60 से 65
5. वही, छन्द 66
6. वही, छन्द 70 से 73
7. वही, छन्द 70 से 76

हैं, क्योंकि जिस प्रकार मूल के बिना वृक्ष और नींव के बिना भवन नहीं रह सकता, उसी प्रकार इन 8 गुणों के बिना श्रावक में जप, तप, व्रतादि कोई गुण नहीं रह सकते अथवा वह श्रावक ही नहीं कहला सकता।[1] कवि ने इस प्रसंग में मद्य, मांस, मधु और पंच उदंबर फलों के साथ-साथ उन समस्त वस्तुओं के त्याग को भी आवश्यक बताया है, जिनके भक्षण में इन मद्य-मांसादि का दोष लगता है। यथाः— अम्ल, चलित रस, अर्क, फूल, गुलकन्द, अचार, मुरब्बा आदि।[2]

इनके अतिरिक्त कवि ने ओला, द्विदल, बहुबीजा, बैंगन, कंदमूल, मिट्टी, विष आदि अन्य अभक्ष्य पदार्थों के त्याग का कथन भी इसी प्रसंग में किया है।[3]

रसोई आदि की क्रियाएँ,[4] श्रावक के षट् आवश्यक[5] और सप्तव्यसन-त्याग[6] इस प्रकरण के अन्य प्रमुख प्रतिपाद्य हैं। तदनुसार श्रावक को रसोई आदि की क्रियाएँ पूर्ण विवेक और यत्नाचार के साथ करनी चाहिए; देवपूजा, गुरूपासना, स्वाध्याय, संयम, तप एवं दान— इन षट् आवश्यकों का नित्य नियमित रूप से पालन करना चाहिए और जुआ, मांसभक्षण, मदिरापान, वेश्यासेवन, शिकार, चोरी एवं परस्त्री-सेवन— इन सप्तव्यसनों का सर्वथा त्याग करना चाहिए।

कवि ने यहाँ सम्यग्दर्शन के स्वरूप एवं भेद तथा सम्यग्दृष्टि के 44 गुणों का भी सुन्दर प्रतिपादन किया है।[7] 8 मद, 3 मूढ़ता, 6 अनायतन, 8 मल, 7 व्यसन, 7 भय, और 5 अतिचार के त्याग का नाम 44 गुण है। कवि का कहना है कि व्रतों के मूल तो 8 मूलगुण हैं, किन्तु सम्यग्दर्शन सभी का मूल है, अतः सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन को अंगीकार करना चाहिए।[8]

बारह व्रतः— 5 अणुव्रत, 3 गुणव्रत और 4 शिक्षाव्रत — ये 12 व्रत हैं।[9] इनका विवेचन लगभग वही है जो चरितकाव्यों के प्रतिपाद्य का अध्ययन करते समय गत अध्याय में लिखा जा चुका है। विशेषता यही है कि यहाँ इनका प्रतिपादन अतिविस्तार के साथ हुआ है। प्रत्येक के स्वरूप, भेद, भेदों का स्वरूप, माहात्म्य, फल, अतिचार आदि पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है; साथ ही विपक्षरूप

---

1. क्रियाकोश, छन्द 342
2. वही, छन्द 77 से 85
3. वही, छन्द 91 से 177
4. वही, छन्द 178 से 283
5. वही, छन्द 284 से 285
6. वही, छन्द 289 से 318
7. वही, छन्द 343 से 385
8. वही, छन्द 386
9. वही, छन्द 389

अव्रत की निन्दा का भी कथन किया गया है। समस्त व्रतों के अन्त में देशावकाशिक व्रत[1] और संलेखना[2] का भी पठनीय प्रतिपादन हुआ है।प्रतिपादन में सर्वत्र इस बात पर बल दिया गया है कि आत्मिक शुद्धि के बिना बाह्य व्रत क्रिया निष्फल है।

बारह तपः— अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग और ध्यान – ये 12 तप हैं। इनमें प्रारम्भ के 6 वाह्य तप और अन्त के 6 अभ्यन्तर तप कहलाते हैं। ये तप मुख्यतः मुनिदशा में पाले जाते हैं, किन्तु श्रावक भी इनका यथाशक्य पालन करते हैं। कवि ने 12 व्रतों की भाँति इनका भी भेद-प्रभेद सहित विस्तार से वर्णन किया है। यहाँ भी कवि ने बार-बार इस तथ्य पर बहुत बल दिया है कि ये तप आत्मशुद्धिपूर्वक और आत्मविशुद्धि हेतु ही होने चाहिए, यशादि की अकांक्षा से किये गये तप निष्फल हैं। उदाहरणार्थ कवि का एक कथन यहाँ मूलरूप से उद्घृत है:—

"अलप आहार जु खाहुंगो, बहुत रसीली वस्तु।
इहैं भाव धरि जो करै, सो नहिं व्रत्त प्रशस्त।।[3]"

समभावः— श्रावक की तेतीसवीं क्रिया समभाव है। यद्यपि समभाव का पूरी तरह पालन मुनिराज ही करते हैं, किन्तु सम्यग्दृष्टि श्रावक भी अपनी भूमिकानुसार समभाव का पालन अवश्य करता है। जगत के पदार्थों में कहीं भी भले-बुरे की कल्पना न करना समभाव है। समभाव के बाधक तत्त्व राग-द्वेष और मोह हैं।[4]

समभाव की प्राप्ति सम्यग्दर्शन के बिना किसी को किंचित् भी नहीं होती है और सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थान में होता है। समभाव की आंशिक प्राप्ति सर्वप्रथम चौथे गुणस्थान में होती है [5] और उसकी पूर्णता तेरहवें गुणस्थान में होती है।[6] समभाव की महिमा के सम्बन्ध में कवि का कहना है कि:—

सम कौ जस कहत न आवै, जो सहस जीभ करि गावै।
अनुभव अमृतरस चाखै, सोई समता दिढ़ राखै।।[7]"

---

1. क्रियाकोश, छन्द 1568 से 1641
2. वही, छन्द 1647 से 1722
3. वही, छन्द 1751
4. वही, छन्द 2016
5. वही, छन्द 2026
6. वही, छन्द 2029
7. वही, छन्द 2084

ग्यारह प्रतिमा:— पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक क्रम-क्रम से इन 11 प्रतिमाओं को धारण करता है:— दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्तत्याग, रात्रिभुक्तित्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और गृहत्याग।[1] इन 11 प्रतिमाओं का वर्णन हम गत अध्याय में चरितकाव्यों के प्रतिपाद्य का अध्ययन करते समय लिख चुके हैं,[2] अतः यहाँ पुनरुक्ति अनावश्यक है। विशेष यह है कि यहाँ सम्यग्दर्शन और उसके आठ अंगों का भी प्रतिपादन इसी प्रसंग में किया गया है, क्योंकि 11 प्रतिमाओं को धारण करने से पूर्व व्यक्ति को सम्यग्दर्शन से युक्त या सम्यग्दृष्टि अवश्य होना चाहिए। सम्यग्दर्शन का वर्णन आगामी पृष्ठों में लिखा जा रहा है।[3]

चार दान:— वैसे तो दान अनेक प्रकार के होते हैं, किन्तु उनमें औषधदान, ज्ञानदान, अभयदान और आहारदान — ये 4 श्रेष्ठ दान हैं।[4] औषधदान से नीरोगता की प्राप्ति होती है, ज्ञानदान से परमज्ञान की प्राप्ति होती है, अभयदान से निर्भयता मिलती है और आहारदान का फल अपार धन की प्राप्ति है।[5] कवि के अनुसार दान पात्रजीवों को ही दिया जाना चाहिए, कुपात्र को नहीं। पात्र उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। भावलिंगी मुनि उत्तम पात्र हैं, सम्यग्दृष्टि अणुव्रती श्रावक मध्यम पात्र हैं और सम्यग्दृष्टि अव्रती जीव जघन्य पात्र हैं।[6] कुपात्र भी उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। मिथ्यादृष्टि मुनि उत्तम कुपात्र हैं, मिथ्यादृष्टि अणुव्रती श्रावक मध्यम कुपात्र है और मिथ्यादृष्टि अव्रती गृहस्थ जो बाहर से धर्मधारण का दिखावा करे वह जघन्य कुपात्र है।[7] कवि के अनुसार करुणादान सभी प्राणियों को दिया जाना चाहिए। उसमें पात्र-अपात्र का कोई नियम नहीं है।[8]

दान स्वर्ग और मोक्ष का कारण है; अतः थोड़ा ही सही, पर प्रत्येक गृहस्थ को करना अवश्य चाहिए। जिसके पास कुछ न हो, मात्र एक रोटी हो, उसे भी आधी रोटी या एक ग्रास या आधा ग्रास ही सही, किन्तु देना अवश्य चाहिए।[9] दान बिना गृहस्थ को किसी भी दिन भोजन नहीं करना चाहिए। जो दान नहीं करता है वह कृपण जीते हुए भी मृतक-समान है और उसका घर श्मशान-समान है।[10]

1. क्रियाकोश, छन्द 2211 से 2215
2. देखिये—प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध, पृष्ठ 149-150
3. देखिये—प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध, पृष्ठ 189 से 195
4. क्रियाकोश, छन्द 2321
5. वही, छन्द 1363
6. वही, छन्द 1731
7. वही, छन्द 1519 से 1522
8. वही, छन्द 2354
9. वही, छन्द 2350
10. वही, छन्द 2351

जल गालनः— श्रावक की उनचासवीं क्रिया जलगालन या पानी छानना है। कवि के अनुसार पानी छानना श्रावक की मुख्य क्रिया है।[1] छना हुआ पानी उपयोग करने वाला श्रावक असंख्य जीवों को प्राणदान देने का उत्तम कार्य करता है।[2] जो अज्ञानी मनुष्य अनछने पानी का उपयोग करते हैं वे एक बार में ही उतना पाप कमा लेते हैं जितना कि धीवर, पारधी, भील आदि 80 वर्ष में कमाते हैं।[3] अतः अनछने पानी का उपयोग कभी किसी को नहीं करना चाहिए।

कवि के अनुसार पानी को शुद्ध, सफेद और बड़े छन्ने से बहुत यत्नपूर्वक छानना चाहिए।[4] उसमें किसी प्रकार का प्रमाद नहीं करना चाहिए तथा जीवाणि को उसी जलाशय में पहुँचाना भी चाहिए जिसमें से जल को निकाला गया था।[5] छने पानी का उपयोग 2 घड़ी (48 मिनट) के अन्दर ही कर लेना चाहिए, क्योंकि उसके बाद उसमें पुनः त्रसजीवों की उत्पत्ति हो जाती है।[6] हाँ! यदि उस पानी को प्रासुक कर लिया जाये तो उसका उपयोग 8 प्रहर तक किया जा सकता है।[7]

कवि के अनुसार अनछना पानी स्वयं तो पीना ही नहीं चाहिए, दूसरे को भी नहीं पिलाना चाहिए।[8]

रात्रिभोजन-त्यागः— श्रावक की पचासवीं क्रिया रात्रिभोजन-त्याग है। कवि के अनुसार रात्रिभोजन में महादोष है; अतः जब दो मुहूर्त दिन शेष रहे, तब से लेकर प्रातः जब दो मुहूर्त दिन व्यतीत हो जाये तबतक समस्त प्रकार के आहार का त्याग करना चाहिए।[9] रात्रिभोजन न करनेवाले मनुष्य एक मास में एक पक्ष के उपवास का फल प्राप्त करते हैं अथवा पूरे जीवन में अपनी आधी उम्र के उपवास का फल प्राप्त करते हैं।[10] कवि के अनुसार रात्रिभोजन के समान कोई दोष न है, न था और न होगा। रात्रिभोजन मद्य-मांस के आहार के समान है।[11] कवि ने रात्रिभोजन के बहुत दोष गिनाये हैं और अन्त में यही कह दिया है किः—

1. क्रियाकोश, छन्द 2359
2. वही, छन्द 2359
3. वही, छन्द 2362
4. वही, छन्द 2360
5. वही, छन्द 2365
6. वही, छन्द 2369
7. वही, छन्द 2369
8. वही, छन्द 2374
9. वही, छन्द 2377–2378
10. वही, छन्द 2430
11. वही, छन्द 2431

"कौलग कहैं सुबीर, निशि भोजन के अवगुणा।

जानैं श्री महाबीर, केवलज्ञान महंत सब।। [1]"

रत्नत्रयः— सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र – इन तीनों को ही रत्नत्रय कहते हैं। यें तीनों श्रावक की क्रमशः 51, 52, और 53 वीं क्रियाएँ है। रत्नत्रय मोक्ष का मूल है। उसके बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।[2] श्रावक की 53 क्रियाओं का मूल भी यह रत्नत्रय ही है।[3]

निश्चय से शुद्धात्मस्वभाव की रुचि नाम सम्यग्दर्शन है, आत्मस्वभाव को जानने का नाम सम्यग्ज्ञान है और आत्मस्वभाव में स्थिरता का नाम ही सम्यग्चारित्र है।[4]

रत्नत्रय में से सर्वप्रथम सम्पूर्ण प्रयत्न से सम्यग्दर्शन को प्राप्त करना चाहिए, क्योंकि सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तो सम्यग्दर्शन के होने पर सहज ही प्राप्त हो जाते हैं।[5]

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का विशेष वर्णन इसी अध्याय के आगामी पृष्ठों में लिखा रहा है।[6]

4.3.2. दर्शनः—

पं० दौलतराम कासलीवाल ने अपने विचारकाव्यों में अनेक दार्शनिक विषयों का भी प्रतिपादन किया है, जो मूलतः जैनदर्शन से सम्बन्धित हैं। पं० दौलतराम के दार्शनिक विचारों को निम्नलिखित 4 वर्गों में विभाजित करके भली-भाँति समझा जा सकता हैः—

1. सम्यग्दर्शन, 2. सम्यग्ज्ञान, 3. सम्यक्चारित्र, एवं 4. अन्य।

इन तीनों को कवि ने एक सम्मिलित नाम रत्नत्रय भी दिया है और कहा है कि यह रत्नत्रय मोक्ष का मूल है। जितने भी जीव आज तक सिद्ध हुए हैं और भविष्य में होंगें, वह सब इस रत्नत्रय का ही सुफल है।[7] रत्नत्रय के बिना कोटि उपाय करने पर भी मोक्ष-प्राप्ति नहीं होती। रत्नत्रय की महिमा सहस्र जिह्वाओं से भी नहीं कही जा सकती। उसे तो अष्ट कर्मों से रहित होनेवाले ही भली प्रकार जान सकते हैं।[8]

1. क्रियाकोश, छन्द 2433
2. वही, छन्द 2434
3. वही, छन्द 344
4. वही, छन्द 2435–2436
5. वही, छन्द 2437
6. देखिये–प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध, पृष्ठ 189 से 197
7. क्रियाकोश, छन्द 2490
8. वही, छन्द 2493 से 95

कवि के अनुसार रत्नत्रयधारी जीवों को जो कदाचित् इन्द्रादि पदों की प्राप्ति हो जाती है उसमें मात्र उनके शुभ-राग का ही दोष है, रत्नत्रय का नहीं; क्योंकि रत्नत्रय तो 'बन्ध-विदारण' और 'मुक्ति-सुकारण' ही है।[1]

यहाँ कवि ने यह भी कहा है कि रत्नत्रय की पूर्णता मोक्षगामी मुनि के ही होती है, श्रावक के नहीं। श्रावक तो रत्नत्रय का एकदेश ही पालन करता है।[2]

4.3.2.1. सम्यग्दर्शनः—

जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन का विवेचन अत्यन्त प्रधानता के साथ किया गया है। जैनदर्शन में इसे "मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी[3]" और "सकल धरम कौ मूल[4]" माना गया है। यह भी कहा गया है कि आत्मकल्याण के अभिलाषियों को सर्वप्रथम सम्पूर्ण प्रयत्न से सम्यग्दर्शन को प्राप्त करना चाहिए, क्योंकि सम्यग्दर्शन के होने पर सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तो सहज ही प्राप्त हो जाते हैं।[5] सम्यग्दर्शन की महिमा के विषय में और भी बहुत कुछ लिखा गया है, जिस सबको यहाँ उद्धृत करना स्थानाभाव के कारण संभव नहीं है।

पं० दौलतराम कासलीवाल ने अपने विचारकाव्यों में सम्यग्दर्शन का सांगोपांग प्रतिपादन अत्यन्त विस्तार से किया है।

उनके अनुसार सम्यग्दर्शन मुनि और श्रावक दोनों धर्मों का मूल है अथवा समस्त व्रतों का मूल है।[6] जिस प्रकार नींव के बिना मन्दिर नहीं हो सकता, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना कोई सम्यक् व्रतादि नहीं हो सकते।[7] यह सम्यग्दर्शन चारों गतियों के भव्य जीवों को हो सकता है, किन्तु उसे ही होता है जो संज्ञी पंचेन्द्री हो।[8]

परिभाषाः— पं० दौलतराम कासलीवाल के अनुसार निश्चय से शुद्धात्मस्वभाव की श्रद्धा, रुचि या प्रतीति का नाम सम्यग्दर्शन है और व्यवहार से देव-गुरु-धर्म एवं सप्ततत्त्वों की दृढ़ श्रद्धा का नाम सम्यग्दर्शन है।[9]

1. क्रियाकोश, छन्द 2491–92
2. वही, छन्द 2489
3. दौलतराम कृत छहढाला, छन्द 3/17
4. वही, छन्द 3/16
5. क्रियाकोश, छन्द 2437
6. वही, छन्द 2088
7. वही, छन्द 2301
8. वही, छन्द 2089
9. वही, छन्द 1684

पं० दौलतराम कासलीवाल के अनुसार क्षुधा, तृषा आदि सर्व दोषों से रहित वीतरागदेव ही सच्चे देव हैं, बाह्याभ्यन्तर परिग्रह से रहित निर्ग्रन्थ मुनि ही सच्चे गुरु हैं और हिंसोपदेश से नितान्त रहित प्राणि मात्र का हित करने वाला दयामय धर्म ही सच्चा धर्म है।[1]

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष – ये सात तत्त्व हैं।[2] इन्हीं में पुण्य और पाप – इन दो को मिलाकर नव पदार्थ भी कहते हैं।[3] नव पदार्थों को ही कहीं-कहीं 'नवतत्त्व' भी कहा है।[4] कवि ने अपने विचारकाव्यों में यत्र-तत्र अनेक स्थलों पर इन नव पदार्थों के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। यथाः—

1-2. जीव-अजीवः— चैतन्यस्वभावी आत्मवस्तु को जीव तत्त्व कहते हैं और चेतना से रहित जड़ पदार्थों को अजीव तत्त्व कहते हैं। लोक में जाति अपेक्षा कुल 6 द्रव्य हैः— जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। चेतन द्रव्य जीव है, रूपी द्रव्य पुद्गल है, गति–सहकारी धर्म द्रव्य है, स्थिति-सहकारी अधर्म द्रव्य है, अवकाशदान रूप आकाश द्रव्य है और वर्तना-लक्षण काल है। इन 6 द्रव्यों में से केवल एक जीव द्रव्य ही जीव तत्त्व में आता है और शेष पाँचों द्रव्य अजीव तत्त्व में आते हैं।[5]

मूर्तिकत्व की अपेक्षा इनमें से मात्र एक पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है, शेष पाँचों द्रव्य अमूर्तिक हैं।[6] बहुप्रदेशित्व की अपेक्षा मात्र एक काल द्रव्य एकप्रदेशी है, शेष पाँचों द्रव्य बहुप्रदेशी हैं।[7] संख्या की अपेक्षा धर्म, अधर्म और आकाश की संख्या एक-एक है और शेष तीनों की संख्या अनेक है।[8] परिणमन की अपेक्षा केवल जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों में ही वैभाविक परिणामन होता है, शेष चारों द्रव्यों में सदा स्वभाव-परिणमन ही होता है। यही कारण है कि शास्त्रों में जीव-पुद्गल को परिणामी या सक्रिय और शेष चार द्रव्यों को अपरिणामी या निष्क्रिय कहा गया है।[9] क्षेत्रित्व की अपेक्षा मात्र एक आकाश द्रव्य क्षेत्री है, शेष पाँचों द्रव्य अक्षेत्री हैं। यद्यपि प्रत्येक द्रव्य के पास अपना-अपना क्षेत्र है इस अपेक्षा से सभी क्षेत्री कहे जा सकते हैं, किन्तु वे अन्य द्रव्यों को क्षेत्र नहीं दे सकते हैं अतः अक्षेत्री

1. क्रियाकोश, छन्द 350
2. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द–आ/38
3. वही, छन्द – ए/94
4. वही, छन्द – आ/39
5. वही, छन्द – ए/57
6. वही, छन्द – ए/52
7. वही, छन्द – ए/58
8. वही, छन्द – ए/59
9. वही, छन्द – ए/60 से 64

कहे गये हैं।[1] पर्याय की अपेक्षा व्यंजन पर्याय केवल दो द्रव्यों– जीव और पुद्गल– में ही होती है, किन्तु अर्थपर्याय छहों द्रव्यों में होती है।[2]

ये सर्व द्रव्य एक ही स्थान पर रहते हैं, एक दूसरे में प्रविष्ट भी होते हैं, परस्पर खूब मिलते भी हैं, किन्तु अपने-अपने स्वभाव को पृथक्-पृथक् रूप से धारण किये रहते हैं, कोई द्रव्य कभी भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ता। कारण-कार्य की अपेक्षा ये सर्व द्रव्य निश्चय से असहाय हैं, कोई किसी का कुछ नहीं कर सकता; किन्तु व्यवहार से एक-दूसरे का निमित्त कारण कहलाते हैं।[3]

जीव के भेदः– जीव दो प्रकार के होते हैंः– सिद्ध और संसारी। सर्वकर्मों से रहित पूर्णशुद्धदशा को प्राप्त जीव सिद्ध जीव कहलाते हैं जो सब एकरूप हैं, और भ्रम के कारण संसार में भ्रमण करनेवाले जीवों को संसारी जीव कहते हैं। सिद्ध जीव एक बार संसार से मुक्त होने के बाद फिर कभी इस संसार में नहीं आते।[4]

यद्यपि स्वभाव की अपेक्षा से सभी संसारी जीव सदृश हैं, चेतनागुणमंडित हैं, किन्तु कर्मप्रपंच के कारण उन्होंने अनेक दशाएँ धारण कर रखी हैं और इसीलिए उनके अनेक भेद-प्रभेद हैं।[5] प्रथम संसारी जीव दो प्रकार के होते हैंः– स्थावर और त्रस।[6] स्थावर के 5 भेद होते हैंः– पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक। ये सभी एकेन्द्रिय होते हैं।[7] त्रसजीव 4 प्रकार के होते हैंः– द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। पंचेन्द्रिय जीव मन की अपेक्षा दो प्रकार के होते हैंः– संज्ञी और असंज्ञी। मनयुक्त को संज्ञी और मन-रहित को असंज्ञी कहते हैं।[8]

कवि ने यहाँ सभी जीवों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थितियाँ भी सूचित की हैं।[9]

अजीव के भेदः– पुद्गल के मुख्य भेद दो हैंः– अणु और स्कन्ध। एकप्रदेशी शुद्ध पुद्गल को अणु या परमाणु कहते हैं और अनेक अणुओं से मिलकर उत्पन्न होनेवाले पिण्ड को स्कन्ध कहते

---

1. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द – ए/65 से 67
2. वही, छन्द – ए/84 से 86
3. वही, छन्द – ए/71 से 74
4. वही, छन्द – ए/45 से 48
5. वही, छन्द – ए/47
6. वही, छन्द – ए/49
7. वही, छन्द – ए/109
8. वही, छन्द – ए/49
9. वही, छन्द – ए/111 से 117

हैं। स्कन्ध के भी स्कन्ध, स्कन्धदेश आदि अनेक भेद हैं, जिनमें 6 मुख्य हैं :– सूक्ष्म-सूक्ष्म, सूक्ष्म, सूक्ष्म-स्थूल, स्थूल-सूक्ष्म, स्थूल और स्थूल-स्थूल।[1]

धर्म और अधर्म द्रव्य की संख्या एक-एक ही है और इनके कोई भेद नहीं हैं। आकाश भी यद्यपि एक अखण्ड द्रव्य है, किन्तु जीवादि द्रव्यों के अवस्थान की अपेक्षा उसके दो भेद हैं:–लोकाकाश और अलोकाकाश। आकाश के जितने भाग में जीवादि द्रव्य रहते हैं उसे लोकाकाश कहते हैं और लोकाकाश के बाहर अनन्त आकाश को अलोकाकाश कहते हैं।[2]

3.–4. **पुण्य-पाप**:– शुभरूप भाव पुण्य है और अशुभरूप भाव पाप है। पुण्य से स्वर्गादि की प्राप्ति होती है और पाप से नरकादि की, किन्तु मोक्षमार्ग में ये दोनों ही त्याज्य हैं। जिस प्रकार लोहे की बेड़ी और सोने की बेड़ी– दोनों ही बन्धनरूप हैं, उसी प्रकार पाप और पुण्य दोनों ही दुःख रूप हैं।[3]

5. **आस्रव**:– मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग– इनके द्वार से आत्मा में जड़कर्मों का आगमन होना ही आस्रव है। यह जीव को अपार दुःख देनेवाला है। इनमें योग तो शुभ और अशुभ दोनों रूप होता है, किन्तु शेष सभी मिथ्यात्वादि अशुभ रूप ही होते हैं। मिथ्यात्व 5 प्रकार का होता है , अविरति 12 प्रकार की होती है, प्रमाद-कषाय दोनों के कुल 25 भेद हैं और योग 15 प्रकार का होता है। इस प्रकार आस्रव के कुल 57 भेद होते हैं।[4]

6. **बन्ध**:– कर्मों का आत्मा के साथ एकरूप होकर बँध जाना ही बन्धतत्त्व है। इस बन्ध के कारण ही जीव संसार में भ्रमण करता है।[5]

7 **से** 9. **संवर, निर्जरा और मोक्ष**:– आस्रव का रुकना ही संवर है जो मोक्ष का मूल है।[6] पूर्व कर्मों का एकदेश खिरना या नष्ट होना ही निर्जरा है।[7] तथा समस्त कर्मों से छूट जाने का नाम मोक्ष है।[8]

---

1. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द – ए/41 से 44
2. वही, छन्द – ए/59
3. वही, छन्द – ल/67–68
4. वही, छन्द – ए/90–91
5. वही, छन्द – ए/91–92
6. वही, छन्द – ए/92
7. वही, छन्द – ए/93
8. वही, छन्द – ए/93

सम्यग्दर्शन के भेदः— आध्यात्मिक दृष्टि से सम्यग्दर्शन के कोई भेद नहीं हैं, परन्तु आगम की दृष्टि से सम्यग्दर्शन के चार भेद होते हैंः— उपशम सम्यग्दर्शन, क्षायिक सम्यग्दर्शन, क्षयोपशम सम्यग्दर्शन और वेदक सम्यग्दर्शन। जो सम्यग्दर्शन मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों के उपशम से होता है वह उपशम सम्यग्दर्शन कहलाता है तथा जो सम्यग्दर्शन इन्हीं सातों प्रकृतियों के क्षय से होता है उसे क्षायिक सम्यग्दर्शन कहते हैं।[1] क्षायिक सम्यग्दर्शन मनुष्य गति में ही होता है, अन्यत्र नहीं होता। क्षायिक सम्यग्दर्शन सर्वोत्कृष्ट है। यह केवलज्ञानादि का मूल है जो शीघ्र ही संसार-वन को जलाकर भस्म कर देता है।[2] क्षयोपशम सम्यग्दर्शन तीन प्रकार का होता है। जहाँ अनन्तानुबन्धी कषाय की चौकड़ी के साथ एक मिथ्यात्व प्रकृति का क्षय हो वहाँ पहला क्षयोपशम सम्यग्दर्शन होता है, दो मिथ्यात्व प्रकृतियों का क्षय हो वहाँ दूसरा क्षयोपशम सम्यग्दर्शन होता है और तीन मिथ्यात्व प्रकृतियों का क्षय हो वहाँ तीसरा क्षयोपशम सम्यग्दर्शन होता है।[3]

सम्यग्दर्शन के प्रकरण में ही कवि ने निम्नलिखित विषयों का भी प्रतिपादन किया हैः—

1. आठ गुण	4. सप्त व्यसन	7. छह अनायतन	10. आठ मूलगुण
2. आठ अंग	5. आठ मद	8. तीन मूढ़ता	11. पाँच अतिचार
3. सप्त भय	6. आठ दोष	9. तीन शल्य	

क्योंकि सम्यग्दर्शन के मुख्यतः आठ गुण और आठ अंग होते हैं तथा सम्यग्दृष्टि जीव सात भय, सात व्यसन, आठ मद, आठ दोष, छह अनायतन, तीन मूढता और तीन शल्यों से रहित होता है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेवाला जीव आठ मूलगुणों का धारी भी होता है। इसके अतिरिक्त सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचारों से सम्यग्दृष्टि को बचना चाहिए।

1. आठ गुणः— सम्यग्दर्शन के अनन्तगुण होते हैं, किन्तु उनमें अग्रलिखित आठ गुण मुख्य हैंः— संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा। कवि ने यहाँ इन आठों गुणों को भली-भाँति स्पष्ट भी किया है।[4]

2. आठ अंगः— निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना— ये सम्यग्दर्शन के आठ प्रमुख अंग हैं। एकान्तवाद से दूर रहना और स्याद्वाद रूप जिनमार्ग में रंचमात्र शंका न करना निःशंकित अंग है। शुभ क्रिया और धर्म के फल में

1. क्रियाकोश, छन्द 2102
2. वही, छन्द 2103
3. वही, छन्द 2104 से 2107
4. वही, छन्द 2090 से 2098

इहलोक-परलोक के भोगों की अभिलाषा नहीं करना निःकांक्षित अंग है। धर्मधारक शान्त रसलीन मुनियों को रोगयुक्त देखकर भी उनसे रंचमात्र ग्लानि नहीं करना निर्विचिकित्सा अंग है। कुगुरु-कुदेव-कुधर्म की आराधना नहीं करना अथवा जीवहिंसा में धर्म नहीं मानना अमूढ़दृष्टि अंग है। दूसरों के दोषों को ढँकना और अपने गुणों को प्रकाशित नहीं करना उपगूहन अंग है। धर्ममार्ग से विचलित होते हुए जीव को सम्बोधित करके पुनः धर्म में स्थापित करने का नाम स्थितिकरण अंग है। साधर्मी से निःस्वार्थ प्रेम रखना ही वात्सल्य अंग है। नाना प्रकार से जिनमार्ग की प्रतिष्ठा का प्रसार करना प्रभावना अंग है।[1]

3. **सात भयः**— इहलोक भय, परलोक भय, मरण भय, वेदना भय, अनरक्षा भय, चोर भय और अकस्मात् भय— ये सात भय हैं। ये सातों भय सम्यग्दृष्टि के नहीं होते, क्योंकि वह जानता है कि मेरा स्वभाव सिद्ध-समान, चैतन्यमय, अविनाशी और ज्ञानानन्द का भण्डार है, कोई किसी का नाश नहीं कर सकता, कोई किसी की रक्षा नहीं कर सकता, सबका रक्षक आयुकर्म अथवा जिनेन्द्र और जिनेन्द्र का धर्म ही है तथा मेरा चैतन्यधन कभी किसी के द्वारा चुराया नहीं जा सकता।[2]

4. **सात व्यसनः**— जुआ खेलना, माँसभक्षण, मदिरापान, वेश्यासेवन, शिकार, चोरी और परस्त्री-सेवन— ये सात व्यसन हैं, जो नरकादि अनन्त दुःखों के कारण हैं। कवि के अनुसार जुआ बहुत बड़ा पाप है, सब पापों का गुरु है, अतः सम्यग्दृष्टि जीव जुआरी व्यक्ति की संगति भी नहीं करता। इसी प्रकार मांसभक्षण, मदिरापान आदि सभी व्यसन महादुष्ट कर्म हैं, अतः वह इनसे बहुत दूर रहता है। सम्यग्दृष्टि कभी चुराई हुई वस्तु को ग्रहण नहीं करता। वह परस्त्री को माता, बहन और पुत्री के समान समझता है।[3]

5. **आठ मदः**— राजमद, कुलमद, जातिमद, बलमद, रूपमद, तपमद, सम्पत्तिमद और विद्यामद— ये आठ मद हैं। सम्यग्दृष्टि जीव के आठों मद कभी नहीं होते, क्योंकि वह अपने अतुल, अनन्त, अविनाशी, ज्ञान-दर्शनरूप वैभव को ही अपना वास्तविक वैभव मानता है और सांसारिक वैभव को तृणतुल्य देखता है।[4]

6. **आठ दोषः**—कुछ ही पहले सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का उल्लेख किया जा चुका है। यहाँ उनके विलोम को ही आठ दोष या आठ मल कहा गया है; यथा— शंका, कांक्षा, विचिकित्सा आदि। इनका स्वरूप भी आठ अंगों से विपरीत ही है।[5]

1. क्रियाकोश, छन्द 2169 से 2196
2. वही, छन्द 377 से 382
3. वही, छन्द 289 से 305
4. वही, छन्द 355 से 358
5. वही, छन्द 361 से 366

7. **छह अनायतनः**— कुगुरु, कुदेव, कुधर्म और उनके सेवक ये 6 अनायतन हैं। सम्यग्दृष्टि जीव कभी इनकी प्रशंसा नहीं करता।[1]

8. **तीन मूढ़ताः**— देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता और धर्ममूढ़ता— ये तीन मूढताएँ हैं। देव, गुरु और धर्म के सम्बन्ध में होने वाली अज्ञान-चेष्टा ही इनका स्वरूप है। सम्यग्दृष्टि जीव को देव, गुरु और धर्म के बारे में सच्ची समझ होती है, अतः वह इन मूढ़ताओं का सेवन कभी नहीं करता।[2]

9. **तीन शल्यः**— मिथ्यात्व, माया और निदान— ये तीन शल्य हैं। सम्यग्दृष्टि जीव इनसे बहुत दूर रहता है।[3]

10. **आठ मूलगुणः**— इनका वर्णन इसी अध्याय में पृष्ठ 183 पर लिखा जा चुका है।

11. **पाँच अतिचारः**— शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टि-प्रशंसा और मिथ्यादृष्टि-संस्तवन — ये पाँच अतिचार हैं। सम्यग्दृष्टि इनका त्यागी होता है।[4]

4.3.2.2. सम्यग्ज्ञानः—

निश्चय से अपने अनुपम आत्मतत्व को जानना ही सम्यग्ज्ञान है और व्यवहार से अनेकान्तात्मक सर्ववस्तुओं का संशय-विभ्रम-मोह-रहित यथार्थ ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।[5] सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति, यद्यपि सम्यग्दर्शन के साथ ही— एक ही काल में— होती है, तथापि दीपक और प्रकाश की भाँति सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में कारण-कार्य सम्बन्ध घटित होता है।[6]

सम्यग्ज्ञान के आठ अंग होते हैं:— शब्दशुद्धता, अर्थशुद्धता, उभयशुद्धता, कालाध्ययन, विनय, उपधान, बहुमान और अनिह्नव। शास्त्रों का शुद्ध या निर्दोष पाठ करना शब्दशुद्धता नामक पहला अंग है। शास्त्रों के अर्थ को भलीप्रकार समझना अर्थशुद्धता है। शब्द और अर्थ दोनों की निर्मलता उभयशुद्धता है। उचितकाल में शास्त्रों का अध्ययन करना कालाध्ययन नामक चौथा अंग है। विनय भाव रखना विनय नामक अंग है। जिस शास्त्र के योग्य जो क्रिया कही हो, उसे करना उपधान है। आदर-सत्कारपूर्वक जिन-आज्ञा को हृदय में धारण करना बहुमान नामक अंग है। जिस गुरु से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हुई हो, उस गुरु का नाम नहीं छुपाना, अपितु उसका गुणगान करना अनिह्नव है।[7]

---

1. क्रियाकोश, छन्द 360–361
2. वही, छन्द 359
3. वही, छन्द 368
4. वही, छन्द 383–384
5. वही, छन्द 2464–2465
6. वही, छन्द 2457 से 2463
7. वही, छन्द 2466–2475

जैनदर्शन में सम्यग्ज्ञान के अग्रलिखित पाँच भेदों का भी विस्तार से विवेचन प्राप्त होता है:— मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान और केवलज्ञान। किन्तु कवि को अपने विचारकाव्यों में उन सब के विस्तृत विवेचन का अधिक अवसर नहीं प्राप्त हो सका है। तथापि उसने मतिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान के विषय में इतना अवश्य कहा है कि मतिज्ञान के 336 भेद होते हैं[1] और मनःपर्यय ज्ञान मुनियों को ही होता है एवं उसके अग्रलिखित दो भेद होते हैं:— ऋजुमती और विपुलमती।[2]

इसी प्रकार जैनदर्शन में सम्यग्ज्ञान के प्रकरण में ही प्रमाण और नय का भी विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है, किन्तु कवि को अपने विचारकाव्यों में इनका भी सांगोपांग प्रतिपादन करने का अवसर नहीं मिल सका है। नयों के सम्बन्ध में कवि ने मात्र इतना कहा है कि नयों के दो प्रमुख भेद हैं:— आगम की दृष्टि से द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक तथा अध्यात्म की दृष्टि से निश्चय और व्यवहार।[3]

4.3.2.3. सम्यक्चारित्रः—

निर्मल और अनुपम आत्मस्वभाव में विचरण करने का नाम सम्यक्चारित्र है। यह सम्यक्चारित्र समस्त पापों का परिहार करनेवाला, सम्पूर्ण कषायों से रहित, अविकारी, उदासीन भाव रूप और आत्मस्वरूप में विचरणरूप होता है:—

"सर्व पाप मारग परिहारा, सकल कषाय रहित अविकारा।
निर्मल उदासीनता रूपा, आतम भाव सुचरन अनूपा।।"[4]

सम्यक्चारित्र के दो भेद होते हैं:— मुनिव्रत रूप चरित्र और श्रावकव्रत रूप चारित्र।[5] सर्व पापों के सर्वथा त्याग से मुनिव्रत रूप चारित्र होता है और सर्वपापों के एकदेश त्याग से श्रावक व्रत रूप चारित्र होता है। मुनिव्रतरूप चारित्र के 13 भेद होते हैं:— 5 महाव्रत 5 समिति और 3 गुप्ति।[6] इनमें से महाव्रतों और समितियों का वर्णन विगत पृष्ठों में 'मुनिधर्म' शीर्षक के अंतर्गत इसी अध्याय में लिखा जा चुका है।[7] गुप्तियों का स्वरूप कवि के अनुसार इस प्रकार है:—

---

1. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द–अ/337 और त/74
2. वही, छन्द - ऋ/28 से 31
3. वही, छन्द–उ/51 और 74
4. क्रियाकोश, छन्द 2478
5. वही, छन्द 2479
6. वही, छन्द 2480
7. देखिये–प्रस्तुत शोध-प्रबंध, पृष्ठ 182

'मनोगुप्ति कहिए मनरोधा, वचनगुप्ति जो वचन निरोधा।

कायगुप्ति काया वस करिवा,.....।।[1]

अर्थात् मन के निरोध का नाम मनोगुप्ति है, वचन के निरोध का नाम वचनगुप्ति है और काया को वश में रखने का नाम कायगुप्ति है।

श्रावकरूप चारित्र के 12 भेद होते हैं:– 5 अणुव्रत, 3 गुणव्रत और 4 शिक्षाव्रत। इनका वर्णन गत अध्याय में चरितकाव्यों के प्रतिपाद्य का अध्ययन करते समय लिखा जा चुका है।[2]

4.3.2.4.अन्य:—

पं० दौलतराम कासलीवाल के विचारकाव्यों में उक्त विषयों के अतिरिक्त जैनदर्शन के कतिपय निम्नलिखित विषयों का भी प्रतिपादन किया गया है:—

1. **चौबीस दण्डक:**— पं० दौलतराम कासलीवाल की एक लघु कृति 'चौबीस दण्डक' इसी मुख्य विषय पर पूर्णतः आधारित है। जैनदर्शन में संसार में चार गतियाँ मानी गई हैं:— मनुष्य, देव, नरक, तिर्यञ्च। इन गतियों में संसारी जीव अपने-अपने कर्मानुसार सदा भ्रमण करते रहते हैं। किसी एक में से निकलते हैं तो दूसरी में चले जाते हैं, और दूसरी से निकलते हैं तो तीसरी में चले जाते हैं। किन्तु जैनदर्शनानुसार कोई भी जीव किसी भी गति से निकलकर किसी भी गति में कहीं भी नहीं जा सकता है, उसका एक निश्चित नियम है। 'चौबीस दण्डक' में चतुर्गतियों की इसी आवागमन–व्यवस्था को विस्तार से समझाया गया है जिसे हम इसी शोध-प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में रचनाओं का परिचय देते समय लिख चुके हैं।[3]

2. **अष्टकर्म:**— गत अध्याय में चरितकाव्यों के प्रतिपाद्य का अध्ययन करते समय कर्म सिद्धान्त पर विस्तार से लिखा जा चुका है। पं० दौलतराम ने अपने विचारकाव्यों में भी यत्र-तत्र इस कर्म सिद्धान्त की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है। यद्यपि इन विचारकाव्यों में कर्म सिद्धान्त की विस्तृत चर्चा नहीं है, तथापि उसके संकेत अनेक स्थलों पर उपलब्ध होते हैं। उदाहरणार्थ 'विवेक विलास' के 871 से लेकर 882 तक के दोहे द्रष्टव्य हैं, जिनमें उन्होंने जैनदर्शन में स्वीकृत अष्टकर्मों के नाम और स्वरूप को संक्षेप में निरूपित किया है। तदनुसार कर्म आठ होते हैं:– ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय। ज्ञानावरणी ज्ञान को ढँकता है दर्शनावरणी दर्शन को ढकता है, मोहनीय जीव को मोहित करता है, वेदनीय जीव को सुख-दुख की सामग्री प्रदान करता

1. क्रियाकोश, छन्द 2487
2. देखिये– प्रस्तुत शोध-प्रबंध, पृष्ठ 149
3. देखिये– प्रस्तुत शोध-प्रबंध, पृष्ठ 82

है, आयु निश्चित काल तक शरीर में रोके रखता है, नाम शरीर की रचना करता है, गोत्र उसमें उच्च-नीचपना उत्पन्न करता है, अन्तराय जीव को दानादि कार्यों में बाधा पहुँचाता है।

3. **चतुर्दश गुणस्थानः**— जैनदर्शन के ग्रन्थों में चतुर्दश गुणस्थानों का भी विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। मोह और योग से होनेवाले आत्मा के परिणामों को गुणस्थान गया है। ये चौदह होते हैं:— मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरतसम्यक्त्व, देशविरत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अधःकरण, अपूर्वकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली।[1] पं० दौलतराम ने अपने विचारकाव्यों में इन गुणस्थानों के नाम और स्वरूप का भी पूर्वग्रन्थों के अनुसार प्रतिपादन किया है। उदाहरणार्थ 'अध्यात्मबारहखड़ी' की छन्द संख्या उ/41 से 44, छ/16 और म/94 से 101 द्रष्टव्य है। पं० दौलतराम ने संक्षेप में उक्त चतुर्दश गुणस्थानों का भी पृथक्-पृथक्, प्रतिपादन किया है। प्रमाणस्वरूप चौथे-पाँचवें गुणस्थान का स्वरूप प्रतिपादित करनेवाली निम्नलिखित पंक्तियाँ अवलोकनार्थ प्रस्तुत हैं:—

"अव्रत चउथो ठांण, व्रत बिनु सम्यक् होई।
पंचम देश जु व्रत्त, श्रावको मुनि सम सोई।।[2]"

4. **द्रव्य-गुण-पर्यायः**— जैनदर्शन के प्रवचनसारादि ग्रन्थों में द्रव्य-गुण-पर्याय का भी अत्यन्त विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। तदनुसार प्रत्येक पदार्थ द्रव्यमय होता है, द्रव्य गुणात्मक होते हैं और द्रव्य व गुणों के परिणमन को पर्याय कहते हैं।[3] पं० दौलतराम कासलीवाल के विचारकाव्यों में यत्र-तत्र द्रव्य-गुण-पर्याय का भी सामान्य प्रतिपादन दृष्टिगोचर होता है जिसका सार-संक्षेप यह है कि इस सम्पूर्ण विश्व में 6 प्रकार के द्रव्य विद्यमान हैं:— जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।[4] सभी द्रव्य अनंत गुणों के पिण्ड होते हैं ओर वे अनंत गुण द्रव्य के सहभावी होते हैं। इस प्रकार द्रव्य एकरूप होकर भी विविध होता है। प्रत्येक द्रव्य सदा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त होता है; अतः इस दृष्टि से वह स्वयं ही अपना कर्ता, स्वयं ही अपना कर्म और स्वयं ही अपना करण होता है।[5]

4.3.3. अध्यात्मः—

पं० दौलतराम कासलीवाल के विचारकाव्यों का एक अत्यन्त प्रमुख प्रतिपाद्य है— अध्यात्म। विशेषकर उनकी दो कृतियाँ— 'विवेक-विलास' और 'अध्यात्मबारहखड़ी' तो अध्यात्म-विवेचन के लिए

---

1. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश, भाग 2, पृष्ठ 246
2. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द — म/97
3. प्रवचनसार, गाथा — 93
4. षट्द्रव्यों का विशेष वर्णन इसी शोध-प्रबन्ध के पृष्ठ 190 पर लिखा जा चुका है।
5. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द—उ/149 व 173, ए /19 व 210, त/42, 43 व 64

ही पूर्णतः समर्पित हैं। 'क्रियाकोश' में भी यत्र-तत्र कवि के अध्यात्मसम्बन्धी विचारों का बहुशः प्रतिपादन हुआ है; क्योंकि श्रावकधर्म के विवेचन में कवि उसके आध्यात्मिक पक्ष को उजागर करना कहीं नहीं भूला है। यथा– बारह तपों के प्रसंग में स्वाध्याय तप का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि परमार्थ से अपने आत्मस्वभाव को देखना ही स्वाध्याय है।[1] इसी प्रकार बारह व्रतों के प्रसंग में अचौर्याणुव्रत का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि अपने आत्मतत्त्व को छोड़कर जड़ पदार्थों की लालसा करना अथवा पर-परिणति रूप परिणमन करना ही निश्चय चोरी है।[2]

पण्डित दौलतराम कासलीवाल के अनुसार अध्यात्म सारे शास्त्रों का सार है और आत्मानुभव का मूल है।[3] अध्यात्म का फल समस्त परपदार्थों के प्रति ममत्व व आशा का त्याग और निज चैतन्य-धन की प्राप्ति है।[4] अध्यात्म को सुनकर जीवों को यह श्रद्धान करना चाहिये कि निज चैतन्य से भिन्न समस्त परपदार्थों में रंचमात्र भी मेरा सुख और ज्ञान नहीं है, अतः वे मेरे नहीं हैं।[5]

पण्डित दौलतराम कासलीवाल के अध्यात्म-सबंधी विचारों को निम्नलिखित शीर्षकों में विभाजित करके भली प्रकार समझा जा सकता है:—

1. आत्मा का स्वरूप,
2. आत्मा की अवस्थाएँ,
3. शरीर और आत्मा का सम्बन्ध,
4. आत्मानुभव,
5. अनेक शब्दों की आध्यात्मिक व्याख्या।

4.3.3.1. आत्मा का स्वरूपः—

पण्डित दौलतराम कासलीवाल के अनुसार आत्मा शुद्ध, बुद्ध, अविरुद्ध स्वभावी है, अनन्त शक्तिशाली है, चेतनामय अनन्त गुणों का स्वामी है, सिद्ध-समान है और लोकप्रमाण असंख्यप्रदेशी है।[6] यद्यपि सभी आत्मायें चैतन्य गुण से भरपूर और एक समान हैं, किन्तु संसारी आत्मा अपने और पराये की पहिचान बिना इस संसार में भटक रहे हैं और अपार दुःख उठा रहे हैं।[7] आत्मा में रागादि राक्षस, मोहादि पिशाच और काम-क्रोधादि ठगों का कोई प्रवेश नहीं है।[8] आत्मा में परमार्थ से

---

1. क्रियाकोश, छन्द 1876
2. वही, छन्द 776
3. वही, छन्द 578
4. वही, छन्द 780
5. वही, छन्द 779
6. वही, छन्द 1689
7. वही, छन्द 1530
8. विवेक-विलास, छन्द 55,56

जन्म-जरा-मरण भी नहीं है।[1] आत्मा नन्दनवन के समान बहुत मनोज्ञ और रम्य है।[2] आत्मा अति रसकंद है, उसके समान रमणीय स्थान जगत में अन्य कोई नहीं है।[3] आत्मा ऐसे समरस से परिपूर्ण पदार्थ है कि उसका समरस कामाग्नि, क्रोधाग्नि, लोभाग्नि, दोषाग्नि, दुःखाग्नि, कालाग्नि और मोहाग्नि– इन सात प्रकार की अग्नियों को बुझा देता है।[4] आत्मा दर्शन, ज्ञान आदि रत्नों से भरा हुआ अद्भुत रत्नाकर है।[5] आत्मा एक ऐसा नगर है जहाँ चिद्रूप ही राजा है, सत्ता ही रानी है, आनन्द ही पुरोहित है और अनन्तवीर्य ही कुशल सेनापति है। इस नगर में चोरी, जोरी, जारी, शोर आदि दुष्कर्म कभी नहीं होते हैं,[6] अपितु सदैव देदीप्यमान प्रकाश[7] और अखण्ड परमानन्द भरा रहता है।[8]

आत्मा एक ऐसा वन है जहाँ निर्मल निजरस से भरे हुए अनेक कूप और वापी हैं[9] तथा जो बिल्कुल निष्कंटक हैं।[10] आत्मारूपी निजवन में शांतरसधारी चिद्रूप परमहंस रमण करते हैं।[11] आत्मारूपी निजवन एक ऐसा अद्भुत वन है, जहाँ पापरूपी प्रपंच, इन्द्रियरूपी भूत और मदनरूपी पिशाच नहीं रहते हैं।[12] दुष्ट भावरूपी दुष्ट पशुओं का भी निजवन में कोई अस्तित्व नहीं है।[13]

आत्मा एक ऐसा समुद्र है, जिसमें निर्मलभावरूपी जल है, परमानन्दरूपी लहरें हैं, ज्ञान-दर्शनादि उत्तम रत्न हैं और उज्ज्वल भावरूपी परमहंस हैं। आत्मारूपी समुद्र में लोभरूपी मछलियाँ, निष्ठुरतारूपी कछुए, प्रलापरूपी मेंढ़क, तुच्छभावरूपी झींगर, रागादि रूपी सर्प नहीं रहते हैं। आत्मारूपी समुद्र में इच्छारूपी बड़वानल भी नहीं हैं।[14]

आत्मा एक ऐसा पर्वत है जो सर्वोच्च, सर्वोत्कृष्ट और सुस्थिर है। आत्मारूपी पर्वत पर सदैव ज्ञान-ध्यान की धूम-रहित अग्नि का प्रकाश रहता है, जिससे वहाँ किसी प्रकार का कोई भ्रम नहीं होता।[15]

---

1. विवेक-विलास, छन्द 79
2. वही, छन्द 61
3. वही, छन्द 189
4. वही, छन्द 465 से 467
5. वही, छन्द 275–276
6. वही, छन्द 37
7. वही, छन्द 11
8. वही, छन्द 18
9. वही, छन्द 186
10. वही, छन्द 179
11. वही, छन्द 170
12. वही, छन्द 178
13. वही, छन्द 175
14. वही, छन्द 272, 273, 287 एवं 288
15. वही, छन्द 389-399

आत्मा एक ऐसी उत्तम गंगा नदी है, जिसमें पापरूपी पंक, रंकगावरूपी झींगुर, विकल्परूपी मच्छ, जड़भावरूपी जलचर और मोहरूपी मगरमच्छ नहीं हैं।

आत्मा एक ऐसा सरोवर है जो त्रिविधतापहर है, अशुचिता-विनाशक है, परम मनोहर है और कभी सूखता नहीं है। आत्मारूपी समुद्र में कर्मकलंकरूपी कीच नहीं है और काम-क्रोधमय काई नहीं है।

आत्मा ऐसी अमृतपूरित वापिका है जो मोहादि भूत-प्रेतों और भोगादि भुजंगों से नितान्त रहित है तथा उसमें प्रमाणरूपी अगणित सीढ़ियाँ हैं, जिन पर अज्ञानी नहीं जा सकते। आत्मवापिका पर अच्छेद्य-अभेद्य भावों रूपी अमृतवृक्षों की शीतल और सघन छाया हो रही है। जो जीव इस आत्मवापिका में स्नान करता है, वह संसारताप का निवारण कर निर्वाणपद की प्राप्ति करता है। आत्मा एक ऐसा रसकूप है, जिसमें अद्‌भुत गुणरूपी मणियाँ भरी हुई हैं और अनेक सुख की बातें हैं।

4.3.3.2. आत्मा की अवस्थाएँः—

पं० दौलतराम कासलीवाल के अनुसार आत्मा की तीन अवस्थाएँ होती हैंः— बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा।

(क) **बहिरात्मा**—जो जीव बहिर्दृष्टि है, शरीर और जड़कर्मों को अपना मानता है, वह महामूढ़ बहिरात्मा है।[1] (830) यह बहिरात्मदशा एकान्त दोषरूप है।[2] यह बहिरात्मा मौत के फंदे में पड़ा हुआ निरन्तर चतुर्गतिरूप संसार-वन में भटकता रहता है।[3] अपनी कुबुद्धि के कारण यह बहिरात्मा सदैव विषयानुराग में इसप्रकार लगा रहता है कि इसे अपनी कोई सुध-बुध नहीं रहती।[4] यह बहिरात्मा स्वभाव से राजा होकर भी रंक की भाँति अज्ञानवश व्यर्थ विपत्ति उठा रहा है।[5] इस बहिरात्मा के ज्ञानावरणादि आठों कर्म भी अपने-अपने ढंग से नाना दुःख दे रहे हैं।[6] कभी सद्‌भाग्य या गुरुदर्शन से यह बहिरात्मा अपनी बहिरात्मदशा को छोड़कर अंतरात्मा बन जाता है।[7]

---

1. विवेक-विलास, छन्द 830
2. वही, छन्द 822
3. वही, छन्द 832–833
4. वही, छन्द 846
5. वही, छन्द 851
6. वही, छन्द 871
7. वही, छन्द 891

(ख) **अन्तरात्मा**:— जो चेतन आत्मा स्वतः या गुरूपदेश के द्वारा अपनी अनादि अविद्या की ग्रन्थि को भेद कर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कर लेता है, वह अन्तरात्मा है।[1] गुणस्थानों के अनुसार अंतरात्मदशा चौथे सम्यक्त्व गुणस्थान से लेकर बारहवें क्षीणकषाय गुणस्थान तक होती है।[2]

अन्तरात्मा एक ऐसा चतुर भूप है जो संसार-कूप से निकलकर पूर्ण अविकारी दशा की प्राप्ति कर लेता है।[3] क्रमशः समस्त कर्मों से रहित हो जानेवाला यह अन्तरात्मा इस संसार में पुनः जन्म नहीं लेता, स्थूल या सूक्ष्म किसी भी प्रकार के शरीर को धारण नहीं करता और अनन्तानन्त काल तक लोक-शिखर पर अपनी अशरीरी चिन्मूर्तिस्वरूपी दशा में विराजमान रहता है।[4]

(ग) **परमात्मा**:— जैन-अध्यात्म-ग्रन्थों में परमात्मा की दो दशाएँ बताई गई हैं:— सकल और निकल।[5] शरीर-सहित होने के कारण अरहन्त परमात्मा को सकल परमात्मा कहते हैं और शरीर-रहित होने के कारण सिद्ध परमात्मा को निकल परमात्मा कहते हैं।[6] अरहन्त और सिद्ध – इन दोनों ही परमात्म-दशाओं का स्वरूप 'आराध्य' शीर्षक के अन्तर्गत आगामी पृष्ठों में विस्तार से लिखा जायेगा।[7]

4.3.3.3. शरीर और आत्मा का सम्बन्ध:—

इस विषय में कवि का कहना है कि यद्यपि यह आत्मा अनादिकाल से ही कर्म–प्रपंच में बँधा हुआ होने से शरीर में रहता है, किन्तु वास्तव में शरीर और आत्मा दोनों भिन्न-भिन्न ही हैं, क्योंकि शरीर जड़ है और आत्मा चेतन है:—

"जीव अनादि जु काल को, वसै देह में एह।
बंध्यों कर्म प्रपंचसों, भव मैं भ्रमौ अच्छेय।।
भिन्न भिन्न जानै सुधी, जड़-चेतन कौ रूप।[8]"

शरीर और आत्मा की भिन्नता को और अधिक स्पष्ट करने के लिए कवि ने सर्प-कंचुकी और खड्ग-म्यान के उदाहरणों का भी आश्रय लिया है:—

"यथा सर्प की कंचुकी, यथा खड्ग कौ म्यान।
तथा लखै बुध देह को, पायो आतम ज्ञान।[9]"

1. विवेक-विलास, छन्द 782 से 784
2. वही, छन्द 786
3. वही, छन्द 787
4. वही, छन्द 823 से 825
5. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 192
6. छहढाला, छन्द 3/5 6
7. देखिये–प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध, पृष्ठ 207 से 211
8. क्रियाकोश, छन्द 2131 व 2133
9. वही, छन्द 2135

4.3.3.4. आत्मानुभवः—

पं० दौलतराम कासलीवाल के अनुसार अध्यात्म का सार आत्मानुभव ही है।[1] आत्मानुभव या आत्मज्ञान जगत की सर्वोत्कृष्ट विद्या है।[2] कवि ने अपने विचारकाव्यों में बार–बार कहा है कि आत्मानुभव ही जन्म-मरण को दूर करने वाली उत्कृष्ट अमृतलता है,[3] उसके समान अमृत-रस इस दुनिया में अन्य कोई नहीं है।[3]

पं० दौलतराम कासलीवाल के अनुसार आत्मा का अनुभव करने पर अमृत-समान आनन्द-रस की प्राप्ति होती है, किन्तु इस आनन्द को वही प्राप्त कर सकते हैं जो सांसारिक विषयानन्द से विरक्त हैं; क्योंकि—

"ते निजस्वाद लहैं निजभक्ता।

जिनरस चाखि जु विषयविरक्ता।।"

पं० दौलतराम कासलीवाल के अनुसार जो जीव निरन्तर अपने चेतना--मंडित निर्मल व अनुपम ज्ञानस्वरूप का चिंतन करते हैं, उसी को बारम्बार देखते–जानते हैं और उसी का बारम्बार अनुभव करते हैं, वे ही सच्चे अर्थों में ज्ञानी हैं:—

"बार बार ही निज लखैं, जानै बारंबार।

बार बार अनुभव करै, सो ज्ञानी अविकार।।"

आत्मानुभव या आत्मज्ञान के बिना कोई कितने ही शास्त्रों का पठन कर ले, किन्तु फिर भी कर्मों का नाश नहीं कर सकता। वह नितान्त ज्ञान-रहित ही है।

"बिना निजातम जानिवै, है न कर्म को रोध।

आगम पाठ करै तऊ, नाहिं नाहिं कछु बोध।।"

4.3.3.5. अनेक शब्दों की आध्यात्मिक व्याख्याः—

अध्यात्म-जगत की बातें इस व्यक्त दुनिया से निराली ही होती हैं। उनका इस व्यक्त जगत से सर्वथा मेल नहीं बैठता। जिसे इस दुनिया के लोग 'लक्ष्मी' कहते हैं, अध्यात्म-जगत के लोग उसे

---

1. विवेक-विलास, छन्द 23
2. वही, छन्द 5
3. वही, छन्द 7, 208, 283, 326, 318
4. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द– अ/287
5. क्रियाकोश छन्द 1825
6. वही, छन्द 1875

लक्ष्मी नहीं मानते; उनके अनुसार तो 'लक्ष्मी' का अर्थ कुछ और ही होता है। इसी प्रकार की बात और भी हजारों शब्दों के सम्बन्ध में हो सकती है।

पं० दौलतराम कासलीवाल ने अपने विचारकाव्यों में पचासों शब्दों के ऐसे ही आध्यात्मिक अर्थ का प्रतिपादन किया है। यथाः—

1. **रामः**— जो काम–क्रोधादि से रहित आत्मस्वभाव में रमण करे, वही राम हैः—

"रमि जु रहे निज भाव में, तातैं तिनकौ राम।
कहिये सूत्र सिधंत में, रहित क्रोध अर काम।।"[1]

2. **क्रीड़ाः**— आत्मसत्ता में विलास करने रूप आत्मानुभूति का नाम ही क्रीड़ा है और इसके अतिरिक्त अन्य किसी का नाम क्रीड़ा नहीं है। यथाः—

"क्रीड़ा नाम न और को, क्रीड़ा निज अनुभूति।
जो निज सत्ता मैं रमैं, विलसै ज्ञान विभूति।।"[2]

3. **कमलाः**— चैतन्य-प्रकाश रूप अनन्त आत्मशक्ति का नाम ही कमला, पद्मा, रमा, लक्ष्मी, दौलत आदि है। इसके अतिरिक्त जगत की धनादि विभूति तो वास्तव में कोई विभूति ही नहीं है, वह तो मिट्टी है।

"चित्प्रकाश निजशक्ति जो, तेरी नाथ विशाल।
सो कमला पद्मा रमा, लक्ष्मी दौलति माल।।
अवर न संपति द्रव्य को, धन विभूति कछु नांहि।
जग की भूति जु भूति है, निजपरिणति तुव मांहि।।"[3]

4. **राक्षसः**— मोह, राग, द्वेष, काम आदि ही वास्तव में मदोन्मत्त राक्षस हैं, क्योंकि ये ही अनादि काल से जीव को दुःख दे रहे हैंः—

"अध्यातम सैली विषैं, दैत्य कहे मोहादि।
राग दोष कांमादि ए, जे लगि रहे अनादि।।

---

1. विवेक-विलास, छन्द 92
2. वही, छन्द 422
3. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द— ञ/19-20

एई पापा राक्षसा, असुरा दैत्या दुष्ट।
जीवनि कौं पीडैं सदा, मदमांते जु बलिष्ट।।"

4.3.4. भक्तिः—

पं० दौलतराम कासलीवाल के भक्ति-सम्बन्धी विचारों का विस्तृत प्रतिपादन प्रमुख रूप से उनकी विशाल कृति "अध्यात्मबारह खड़ी" में ही हुआ है, जिन्हें हम निम्नलिखित शीर्षकों में विभाजित करके भलीभाँति समझ सकते हैंः—

1. आराध्य का स्वरूप,
2. भक्ति का स्वरूप,
3. भक्ति का फल,
4. भक्त का स्वरूप,
5. भक्त की अभिलाषा,
6. भगवत्प्राप्ति का उपाय।

4.3.4.1. आराध्य का स्वरूपः—

जैन-भक्ति-परंपरा में आराध्य के रूप में तीन की स्थापना हुई हैः— देव, शास्त्र और गुरु। ये देव, शास्त्र और गुरु तीनों ही सम्यक् और मिथ्या के भेद से दो प्रकार के होते हैं, किन्तु जैन-भक्ति-परंपरा में सम्यक् देव-शास्त्र-गुरु को ही आराध्य माना है, मिथ्या को कदापि नहीं। मिथ्या देव-शास्त्र-गुरु के आराध्यत्व का वहाँ बार-बार दृढ़तापूर्वक निषेध तक किया गया है। जैन-भक्ति-साहित्य में सम्यक् देव-शास्त्र-गुरु का उल्लेख तो मात्र 'देव-शास्त्र-गुरु' शब्दों से ही या 'सुदेव-सुशास्त्र-सुगुरु' शब्दों से भी किया गया है, किन्तु मिथ्या देव-शास्त्र-गुरु का उल्लेख 'कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरु' शब्दों से ही किया गया है।

जैन-भक्ति-परंपरा में सुदेव के दो रूप माने गये हैं। एक को 'सिद्ध' कहा गया है और दूसरे को अरहंत। जो सर्वकर्मों से रहित होकर पूर्ण शुद्ध दशा को प्राप्त हुये हैं और निराकार रूप से लोक के अग्रभाग में स्थित हैं, उन्हें 'सिद्ध' कहते हैं तथा जो वीतरागी और सर्वज्ञ होने के साथ-साथ हितोपदेशी भी हैं, साक्षात् मोक्षमार्ग का उपदेश भी देते हैं, वे 'अरहंत' हैं।

अरहंत भगवान की वाणी को ही शास्त्र कहते हैं। जिनवाणी, ओंकार, दिव्यध्वनि आदि इसके अनेक अपर नाम हैं।

गुरु के तीन रूप हैंः— आचार्य, उपाध्याय और साधु। ये तीनों ही निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिदशा के रूप हैं। इनमें परस्पर कोई महत्त्वपूर्ण अन्तर नहीं है।

---

1. वही, छन्द— ऋ/10व11

पं० दौलतराम कासलीवाल के आराध्य भी वस्तुतः वे ही सच्चे देव-शास्त्र-गुरु हैं, जो जैन-भक्ति-परंपरा में प्रारम्भ से ही आराध्य के रूप में स्थापित रहे हैं। इतना अवश्य है कि पं० दौलतराम कासलीवाल ने इन तीन में से देव और शास्त्र की भक्ति पर विशेष बल दिया है। गुरुओं के सम्बन्ध में कवि ने यत्र-तत्र यही कहा है कि गुरु तो स्वयं ही देव–शास्त्र के भक्त हैं, उनके बताये मार्ग पर चल रहे हैं। देव-शास्त्र में भी कवि ने अधिक बल देव पर दिया है और देव में भी उनका विशेष बल सिद्ध-स्तुति पर ही है।

दरअसल पं० दौलतराम कासलीवाल को 'अध्यात्मबारहखड़ी' के रूप में एक भक्ति और अध्यात्म दोनों से समन्वित ग्रन्थ तैयार करना था और इसके लिए सिद्ध–स्तुति ही अधिक अनुकूल सिद्ध होती है।

जैन-भक्ति-परंपरा के अनुरूप पं० दौलतराम कासलीवाल भी सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को ही आराध्य मानते हैं और मिथ्या देव-शास्त्र-गुरु का निषेध करते हैं– यह बात उनकी स्वयं की निम्नलिखित पंक्तियों से अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है:–

"श्रद्धा करि जिनदेव की, श्रद्धा करि जिन बैंन।
श्रद्धेहि निरग्रंथ गुरु, श्रद्धा करि तत जैन।।
श्रद्धा भगवत देव की, तोकौं करिहै पार।
श्रद्धा कुगुरु कुदेव की, बौरेगी संसार।। [1]"

अतः यहाँ हम उनके आराध्य के स्वरूप को निम्नलिखित तीन शीर्षकों में विभाजित करके समझने का प्रयत्न करेंगे:–

1. देव, 2. शास्त्र, 3. गुरु।

1. देव:– जैन-भक्ति-परंपरा की भाँति पं० दौलतराम ने भी देव के दोनों रूपों की भक्ति की है:–

(क) सिद्ध, और (ख) अरहंत।

एक अपेक्षा से कहा जा सकता है कि पं० दौलतराम द्वारा प्रतिपादित सिद्ध-स्वरूप में उस निरंजन-निराकार परमात्मा की झलक मिलती है, जो मध्यकालीन निर्गुण भक्तों के आराध्य में है। अन्तर इतना है कि संख्यापेक्षा उन्होंने उसे एक माना है, किन्तु पं० दौलतराम ने 'अनन्त' माना है।

---

1. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द–ऋ/12–13

उनका कहना है कि प्रत्येक आत्मा परमात्मा बनकर देवत्व को प्राप्त कर सकता है और इसीलिए देव एक नहीं, अनन्त हैं। हाँ, वे सब एक–से अवश्य हैं। कवि की निम्नलिखित पंक्तियाँ इस संदर्भ में ध्यानपूर्वक देखने योग्य हैः—

"या विध भए अनन्त जिन, होसी देव अनन्त।
सबको मारग एक ही, ज्ञान क्रिया बुधिवन्त।।
सब ही शान्ति-प्रदायका, सब ही केवल रूप।
सब ही धर्म-निरूपका, हिंसा रहित सरूप।।"

कवि ने देव के सर्वग, व्यापक, विष्णु, सर्वज्ञ, जिन, जिनेश, महेश, जगदीश, जिनचंद, भगवंत, जिनदेव, सुगत इत्यादि हजारों नाम गिनाए हैं और अन्त में कहा है कि देव के और भी अनन्त नाम हैं, किन्तु स्वरूपापेक्षा वह एकस्वरूप वीतरागी हैः— "इत्यादि है अनन्त नाम एक वीतराग जो[2]"।

यहाँ सर्वप्रथम सिद्ध परमात्मा का स्वरूप विचारणीय है।

(क) **सिद्धः**— पं० दौलतराम के अनुसार सिद्ध वे हैं, जो अष्टकर्म-रहित हैं, राग-द्वेष-रहित हैं, वीतरागी हैं, सर्वदर्शी हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वव्यापक हैं, जन्म-मरण से रहित हैं, एक बार सिद्ध दशा प्राप्त कर लेने पर पुनः संसार में नहीं आते हैं, लोक के शिखर पर ही अनन्तकाल तक चरमशरीर से किंचित् न्यून पुरुषाकार अवस्था में विराजमान रहते हैं, अरूपी हैं, इन्द्रियगोचर नहीं हैं, अतीन्द्रिय—लभ्य हैं और मिथ्यात्वादि सर्व विकारों से रहित पूर्ण शुद्ध दशा को प्राप्त करके आत्मलीन हो गये हैं तथा उनमें किसी प्रकार की कोई न्यूनता शेष नहीं रही है। सिद्धों के इस स्वरूप के सन्दर्भ में प्रमाण-स्वरूप कवि के विचारकाव्यों से एक-एक उद्धरण प्रस्तुत हैः—

1. **अष्टकर्म-रहितः**—"आठौं करम जु आवरण रूप। हैं मूल न राखै जगत भूप।।[3]
2. **राग-द्वेष-रहितः**— "तेरे राग न रोष, अद्भुत महिमा तू प्रभु।[4]"
3. **वीतरागीः**— "तु ही वीतरागो तु ही वीतदोषा।[5]"
4. **सर्वदर्शीः**— "अखिल भूति दर्शिक भगवान।[6]"
5. **सर्वज्ञः**— "चर जे जीव पुद्गल, त्यां का ज्ञायक सारां का नाथ।[7]"

---

1. क्रियाकोश, छन्द 21–22
2. वही, मंगलाचरण 85
3. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द–आ/15
4. वही, छन्द – च/143
5. वही, छन्द – व/57
6. वही, छन्द – अ/364
7. वही, छन्द – आ/9 का अर्थ

6. **सर्वव्यापकः**— "लोकालोक विषै तुही, व्यापि रह्यो बिनु नेह।[1]"

7. **जन्म-रहितः**— "उद्भव कहिये उपजिबौ, तेरौ ह्वै जग मै न।[2]"

8. **पुनः संसार में नहीं आतेः**— "अब नहिं आवै या जग मांहि। भयो सिद्ध यामैं सक नाहिं।।[3]"

9. **लोक शिखर पर स्थितः**— "ऊपरि जग कै तू रहै, सब सौ ऊंचौ ईश।
लोक शिखरि तेरौ पुरा, ऊपरि बैठौ धीश।।[4]"

10. **चरम शरीर से किंचित् न्यूनः**— "चरम देह तैं न्यून कछु.....[5]"

11. **अरूपीः**— "रूप रहित निज बेव।[6]"

12. **अतीन्द्रिय-लभ्यः**— "है जु अतीन्द्री लभ्य जो, इन्द्र दण्डक जो जु।[7]"

13. **मिथ्यात्वादि सर्व विकारों से रहित और पूर्ण शुद्धः**— "उज्झित मिथ्यातम सकल, शुद्ध रूप परकास।[8]"

14. **अनन्तसुखीः**— "तोहि रह्यो सुख बेढ़ि, तो सौ सुखिया नांहि को।[9]"

15. **आत्मलीनः**— "छकि जु रह्यो निज भाव मैं, तू उनमत्त अरूप।।[10]"

16. **न्यूनता-रहित पूर्ण परमात्माः**— "तेरै नांहि जु ऊनता, नांहि न्यूनता कोय।
तू पूरण परमात्मा, देख्यो मुनि निजु जोय।।[11]"

(ख) **अरहंतः**— अरहंत देव, सिद्ध परमात्मा की भाँति वीतरागी और सर्वज्ञ तो हैं ही, किन्तु शरीर-सहित होने के कारण हितोपदेशी भी हैं; क्योंकि वे सर्वजीवों को मोक्षमार्ग का कल्याणकारी उपदेश भी देते हैं। उनकी वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशिता का उल्लेख कवि ने इस प्रकार किया है:—

---

1. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द – ओ/5
2. वही, छन्द – 3/4
3. वही, छन्द – ख/49
4. वही, छन्द – ऊ/11
5. वही, छन्द – उ/55
6. वही, छन्द – उ/55
7. वही, छन्द – इ/22
8. वही, छन्द – उ/60
9. वही, छन्द – ट/27
10. वही, छन्द – उ/67
11. वही, छन्द – ऊ/7

"ठकाराक्षरकर्तारं, ज्ञातारं विश्वकर्मणः।
नेतारं मोक्षमार्गस्य, दातारं धर्मशुक्लयोः।।
भेत्तारं कर्मशैलस्य, त्रातारं प्राणधारिणां।
ध्यातारं स्वात्मभावस्य, वन्दे तत्पदलब्धये।। [1]"

अरहंत की हितोपदेशिता को व्यक्त करनेवाली कुछ अन्य पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं:—

1. *"भव्यकमल प्रतिफुल्ल करण जो पंथ चलावै।* [2]"
2. *"ख्यात कियौ तैं सम्यक बोध। ख्यात कियौ सम्यक्त्व स्वशोध।।*
ख्यात कियौ तैं सम्यक् चरण। ख्यात कियौ तैं अनसन मरण।।
ख्यात कियौ द्वादश तप सार। ख्यात कियौ अनुकम्पा पार।।
ख्यात कियौ मुनि श्रावक धर्म। ख्यात कियौ जु अतीन्द्री शर्म।। [3]"

अरहंत देव की स्तुति करते हुए कवि ने अपने आराध्य के रूप में निम्नलिखित चौबीस तीर्थंकरों के नाम भी गिनाए हैं, जो सब धर्मतीर्थ के उपदेष्टा माने गए हैं:—

ऋषभ, अजित, संभव, अभिनंदन, सुमति, पद्म, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति, कुन्थु, अर, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्व और वर्द्धमान या महावीर।[4]

अरहंत भगवान के वाह्य रूप पर भी कवि ने अनेक स्थलों पर प्रकाश डाला है। तदनुसार अरहंत परमात्मा के पास बाह्य में कनक-कामिनी तो दूर, किसी प्रकार का अणुमात्र भी परिग्रह नहीं होता। वे समस्त प्रकार के अस्त्र, शस्त्र, वस्त्र, आभूषण आदि परद्रव्यों से रहित सर्वथा दिगम्बर और परमशान्त मुद्राधारी होते हैं। उनमें किसी प्रकार का कोई काम-क्रोधादि विकार नहीं होता। वे क्षुधा, तृषा, भय, रोष, राग, मोह, चिन्ता, जरा, रोग, मृत्यु, स्वेद, खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा, जन्म और उद्वेग – इन अठारह दोषों से भी पूर्णतः रहित होते हैं। कवि के अनुसार अरहंत देव के शरीर में अद्भुत तेज होता है, उनके नख की द्युति के समक्ष करोड़ों सूर्य-चन्द्र लज्जित होते हैं।

उपर्युक्त तथ्यों के प्रमाणस्वरूप कवि के विचारकाव्यों से उद्धृत निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं:—

---

1. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द – ठ/1–2
2. वही, छन्द – अ/319
3. वही, छन्द – ख/17–18
4. वही, छन्द – मंगलाचरण/76 से 83

1. **कनक-कामिनी से रहितः—**

"कनक कामिनी तेरै नांही। तू त्यागी विरकत जग मांही।।[1]"

2. **अणुमात्र परिग्रह से रहितः—**

"तेरे नाहिं अणु मात्र परद्रव्य लेश कभी,
तू है चिद्घन ज्ञान सुखनि को भूप है।[2]"

3. **अस्त्र-वस्त्र-आभूषण से रहितः—**

"अस्त्रादिक अर भूषन कोई। वस्त्रादिक तेरे नहिं होई।।[3]"

4. **काम-क्रोधादि सर्व विकारों से रहितः—**

"तेरै नांहि भामा अर कामा नाहिं तेरे कोऊ,
जेते हैं विकार तेते कोऊ नांहि तुझ मैं।।[4]"

5. **दिगम्बरः—**

"उनमतता सब त्यागि कैं, रहै सदा उनमत्त।
सदा दिगंबर रूप तू, नांहि कभी जु प्रमत्त।[5]"

6. **क्षुधा-तृषादि अठारह दोषों से रहितः—**

"ऋते क्षुधा त्रिश्ना तु ही, ऋते सप्तभय साथ।
ऋते द्वेष रागादि तू, ऋते मोह अर स्वेद।
ऋते जरा रोगादि तू, ऋते मृत्यु अर खेद।।
ऋते जु चिंता सोच तू, ऋते जु वसु मद देव।
ऋते जु रति अरति तुहि, ऋते जु विस्मय भेव।।
ऋते जु जन्म विषाद तू, ऋते जु निद्रा पंच।
इन दोषनि को आदि बहु, तेरे नांहि जु रंच।।[6]"

---

1. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द – क/45
2. वही, छन्द – द/173
3. वही, छन्द – अ/246
4. वही, छन्द – छ/66
5. वही, छन्द – उ/68
6. वही, छन्द – ऋ/99 से 102

7. **तेजस्वी शरीरः**— *"अगणित चन्दर सूर नांहि नख द्युति सम तेरे।।*[1]*"*

अरहंत देव के प्रसंग में ही कवि ने अरहंत देव की प्रतिमा की स्तुति का भी समर्थन किया है और यह भी कहा है कि जहाँ देव-प्रतिमा रहती है— ऐसा मन्दिर भी जाने योग्य स्थान है:—

"गन्तव्यं तुव धांम जहां तुव बिंब है,
तेरी प्रतिमा पूज्य सुरासुर मुनि कहै।[2]*"*

कवि ने उन स्थानों को भी "तीर्थ" कहकर नमस्कार किया है जो अरहंत देव के चरण-कमलों से पवित्र हुए हैं:—

"जहां मुनि निजध्यान करि, पावें केवलज्ञान।
बंदौं ठोर प्रशस्त जो, तीरथ महानिधान।। [3]*"*

2. शास्त्रः— अरहंत देव की हितकारी वाणी को 'जिनवाणी' या 'शास्त्र' कहते हैं। कवि ने इसके ओंकार[4], भारती[5], जिनोद्भवा[6], ईश्वरी[7], शारदा[8], गौ[9], वाणी[10], सरस्वती[11], आदि अनेक नाम गिनाये हैं और ग्रंथारंभ में केवल एक ओंकार नाम से 26 छन्दों में शास्त्र या जिनवाणी की नाना प्रकार से स्तुति की है। ओंकार की महिमा बताते हुए कवि लिखता है:—

"ॐकार परम रस रूप, ॐकार सकल जग भूप।
ॐकार अखिल मत सार, ॐकार निखिल तत धार।।
ॐकार सबै जगमूल। ॐकार भवोदधि कूल।।
ॐकार मयी जगदीस। ॐकार सु अक्षर सीस।।[12]*"*

---

1. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द – अ/321
2. वही, छन्द – ग/104
3. क्रियाकोश, छन्द 52
4. अध्यात्मबारहखड़ी, मंगलाचरण, छन्द 95
5. वही, मंगलाचरण, छन्द 86
6. वही, मंगलाचरण, छन्द 86
7. वही, मंगलाचरण, छन्द 86
8. वही, मंगलाचरण, छन्द 87
9. वही, छन्द – ग/95
10. वही, छन्द – ग/95
11. वही, छन्द – ग/95
12. वही, मंगलाचरण, प्रणव-स्तुति, छन्द 4-5

ऐसे ही अन्य भी अनेकानेक स्थल प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं, परन्तु स्थानाभाव के कारण संभव नहीं हैं। कवि के अनुसार यह जिनवाणी ही सच्चा अमृत है और परमात्मा की प्राप्ति जिनवाणी के बिना संभव नहीं है।

कवि के अनुसार शास्त्र या जिनवाणी की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि वह प्राणिमात्र का हित करनेवाली और येन-केन प्रकारेण वीतरागता का पोषण करनेवाली होती है।

कवि ने शास्त्र की भक्ति करते हुए शास्त्र में प्रतिपादित धर्म को भी नमस्कार किया है:—

"नमों उभै विधि धर्म को, मुनि श्रावक निरधार।
धर्म मुनिन को मोक्ष दे, काटे कर्म अपार।। [1]"

3. गुरु:— गुरु के तीन रूप हैं:— आचार्य, उपाध्याय, साधु। ये तीनों निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिदशा के धारक होते हैं। इनका स्वरूप 'मुनिधर्म' शीर्षक के अन्तर्गत (पृष्ठ-181 से 183 पर) लिखा जा चुका है। यहाँ गुरु-स्तुति से सम्बन्धित मात्र दो छन्द उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं:—

"तातें मुनि-मत अति प्रबल, बार-बार थुति जोग।
धन्य-धन्य मुनिराज ते, तजें समस्त अजोग।।
पर परणति जे परिहरें, रमें ध्यान में धीर।
ते हमकूं निज दास करि, हरौं महा भव-पीर।। [2]"

4.3.4.2. भक्ति का स्वरूप:—

पं० दौलतराम कासलीवाल के अनुसार भक्ति सर्व दु:खहर और सर्व सुखकर है[3] भक्ति ही जीवन का वास्तविक प्रकाश है[4], भक्ति बिना जीवन निष्फल है[5]। जीवों के संसार में भटकने का कारण भी प्रभु-भक्ति-हीनता ही है[6]। कवि ने यहाँ तक भी कहा है कि जो जीव जिनेन्द्र भगवान की भक्ति नहीं करते वे मनुष्य नहीं हैं, अपितु सींग, पूँछ से रहित पशु हैं[7]।

---

1. क्रियाकोश, छन्द 55
2. वही, छन्द 56–57
3. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द–द/165
4. वही, छन्द – च/122
5. वही, छन्द – ध/5
6. वही, छन्द – ड/33
7. वही, छन्द – ड/18

पं० दौलतराम कासलीवाल की भक्ति में अनेक विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं, जिनमें से कुछ प्रमुख निम्नलिखित हैं:—

1. **प्रभु-महिमा:**— भक्ति करते हुए कवि ने अपने आराध्य की नाना प्रकार से महिमा गायी है। यथा:—

"तेरो सौ नहिं और, सुर नर मुनि जन सबनि मैं।
तू है सबकौ मौर, इहै तौर नहिं आन पैं।।"

2. **प्रभुद्वार-महिमा:**— भगवान की भाँति, भगवान के द्वार की भी महिमा कवि ने बार-बार गायी है। यथा:—

"द्वारो तेरौ सौ नहिं और। द्वारै तेरै दीखैं दौर।।
द्वारै तेरे नौ निधि परी। द्वारै तेरे सम्पति खरी।।"

3. **प्रभुनाम-महिमा:**— अनेक भक्त-कवियों की भाँति पं० दौलतराम ने भी प्रभुनाम-महिमा का उल्लेख किया है। यथा:—

"अणुमति की कौन जु बात देव।
इक नाम अधार जु देव देव।।"

4. **असामर्थ्य-घोषणा:**— भक्ति करते हुए कवि ने अनेक स्थलों पर अपनी असामर्थ्य भी प्रकट की है। यथा:—

"थुति जे तिहारी देव करण समर्थ नाहिं,
सुर नर मुनिजन गणधर देव हू।
हौं जु थुति करौं तुझ मति मूढ़ डेडर ज्यौं,
विधि न निषेध नाहिं जानौं कोऊ भेव हू।।"

5. **निजनिन्दा:**— कवि ने भक्ति करते हुए अनेक स्थलों पर भगवान की प्रशंसा के साथ-साथ अपनी निन्दा भी की है। उदाहरणार्थ निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं:—

---

1. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द – त/163
2. वही, छन्द – द/92–93
3. वही, छन्द – अ/292
4. वही, छन्द – थ/24

"ऊधिम तेरे कछु नहीं, तू ऊधिम तैं दूरि।

मैं पापी अति ऊधिमी, विनऊं आप हजूरि।।[1]"

6. **लघुता-प्रदर्शनः**— भगवान के समक्ष अपनी लघुता प्रकट करते हुए कवि कहता है कि—

"मेरी देह पूतिगंध छुऊँ तोकौं कैसे स्वामी,[2]"

7. **दास्यभावः**— भगवान को दीनबन्धु, दीनदयाल आदि शब्दों से सम्बोधित करते हुए कवि ने स्वयं को उनका दास बताया है[3] और यह भी कहा है कि जगत के सभी प्राणी उसके दास हैं। यथाः—

"सब हैं तेरे दास, स्वर धरि तोकौं गावहिं।

तू काटन जग पास, तेरौ सरणों मोहि दै।।[4]"

8. **समर्पणः**— कवि की भक्ति-भावना में कहीं-कहीं समर्पण भाव के भी दर्शन होते हैं। यथा, मुनिदशा का वर्णन करने के बाद वे लिखते हैं किः—

"कोटिक अमीरी वारी डारूँ या फकीरी पैं।[5]"

9. **आत्मसंबोधनः**— कवि ने भक्ति करते हुए यत्र-तत्र स्वयं को भी अनेक प्रकार से सम्बोधित किया है। यथा, वह अपने मन से कहता है कि हे मन! तू जिनेन्द्र भगवान से प्रार्थना कर कि मैं भुक्ति नहीं, भक्ति चाहता हूँ:—

"करि जिन सौं मन विनती एह, भुक्ति न चांहौं भक्ति जु देह।।[6]"

10. **अनन्य भावः**— कवि की भक्ति अनन्य भाव की भक्ति है। वह स्पष्ट कहता है किः—

"रे मन ईश्वर कौं जपी, वातैं होहु अदूज।

वाकी सेवा जांचि तू, और न जांचै दूज।।[7]"

अनन्य भाव के समर्थन में कवि का तर्क है किः—

---

1. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द – ऊ/19
2. वही, छन्द – छ/60
3. वही, छन्द – उ/71
4. वही, छन्द – ङ/12
5. वही, छन्द – अ/64
6. वही, छन्द – इ/56
7. वही, छन्द – ई/24

"जिनवानी इह शब्द कहेय। मोक्ष जु रसिया एक जु सेय।।

एक धनी नहिं और जु धनी। इह पतिव्रत जु धारहिं मुनी।। [1]"

11. उद्धार-कामना:— भक्ति करते समय कवि ने भगवान से अपने उद्धार की भी कामना की है। यथा:—

"रुल्यौ हौं जु तातैं अनन्तौ जु कालौ।

अबै तौ दयानाथ मोहू निकालौ।। [2]"

उद्धार-कामना करते हुए कवि ने अनेक स्थलों पर यह भी कहा है कि हे भगवन्!—

"अमित अपार जीव तैं तारे।

ते मौपैं किम जाय सम्हारै।। [3]"

और फिर उन अनेक पौराणिक पुरुषों के नाम गिनाये हैं जो प्रभु-भक्ति द्वारा संसार से पार उतर चुके हैं।

12. चुनौती:— भक्ति के आवेश में भक्त प्राचीन काल से ही भगवान को चुनौती देते रहे हैं। यहाँ भी कवि ने ऐसा किया है। यथा:—

"डंड्यो मोकौ नाथ तिहारे राज मैं।

कर्म मिले बहु जोर सु नाख्यौ काज मैं।।

तब जानूं तू डंड हरण जगदीस है।

तेरे रावल न्याव सु बिसवा बीस है।।

न्याव करै राजेस नांव पावै वही।

तातैं करि अब न्याव राव राजा सही।। [4]"

13. भक्त-प्रशंसा एवं अभक्त-निन्दा:— कवि ने यत्र-तत्र भक्तों की प्रशंसा और अभक्तों की निन्दा करके भी अपनी भक्ति भावना को सबल बनाया है। यथा:—

---

1. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द – ए/106
2. वही, छन्द – ख/29
3. वही, छन्द – अ/31
4. वही, छन्द – ङ/54, 58

"नंही चीतिव्यौ देव तोकौं नरा है।
सही ढोर मूढा प्रतीता खरावै।
कहा मानुषा ते जु तोकौं न ध्यावै।
सही मानुषा नाथ ज़े तोहि गावै।।[1]"

14. उपदेशगर्भित भक्तिः— कवि ने भक्ति करते हुए भगवान के उपदेश को भी स्मरण किया है। ऐसी स्थिति में भक्ति उपदेश गर्भित हो गई है। कहीं-कहीं तो भक्ति, उपदेश और उद्धार-कामना— तीनों एक साथ दिखाई पड़ते हैं। यथाः—

"धर्म शुक्ल द्वै शिव के दायक। आरति रुद्र कुजन्म भ्रमायक।।
इह तुमने उपदेस जु दीनौं। सो सम्यक्ती जीवनि चीनौं।।
मोकौं देहु धर्म अर शुक्ला। आरति रुद्र निवारौ विकला।।[2]"

15. हठयोग का प्रभावः— पं० दौलतराम की भक्ति पर कहीं-कहीं हठयोग का प्रभाव भी दिखाई पड़ता है। यथाः—

"इड़ा पिंगला सुषमना, नारी तीन जु होय।
रहै सुषमना लागि कैं, रटै जु तोकौं कोय।।
तू तारै उन कौं सही, जे अजपा जु जपंत।
सोहं हंसो सांइया, अनहद नाद सुनंत।।[3]"

16. सूचनाओं का भक्ति में बदलनाः— पं० दौलतराम की भक्ति की एक विशेषता यह है कि पहले वे जैन शास्त्रों में वर्णित किसी विषय की अनेक सूचनाएँ देते हैं और अन्त में उसे भक्ति में परिवर्तित कर देते हैं। उदाहरणार्थ पहले तो 84 लाख योनियों का विस्तृत वर्णन किया है और फिर कहा है कि—

"चौरासी तैं मोहि उतारि, तू प्रभु चौरासी की पार।।[4]"

17. अन्यदेवोपासना का निषेधः— पं० दौलतराम की भक्ति की एक अनूठी विशेषता यह है कि वे वीतरागी अरहन्त-सिद्ध को ही आराध्य मानते हैं, अन्य रागी-द्वेषी देव को नहीं। उनके अनुसार अन्य रागी-द्वेषी देव की भक्ति करनेवाला अपने दुर्लभ मनुष्य शरीर को व्यर्थ खोता हैः—

1. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द – च/181
2. वही, छन्द – अ/37–38
3. वही, छन्द – इ/77–78
4. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द – च/58

ते दुल्लभ नर देह वृथा जु गुमावहिं।। [1]"

4.3.4.3. भक्ति का फलः—

पं० दौलतराम कासलीवाल के अनुसार भक्ति का चरम फल संसार-कीच से पार होना और केवलज्ञान-दर्शनपूर्वक परमसुख की प्राप्ति होना है। वे लिखते हैं किः—

1. *"कीच थकी ते छूटैं जीवा। जे तोकौं ध्यावैं जगपीवा।।* [2]"
2. *"केवलदरसन केवलज्ञान। इह जिन दरसन कौ फल जानि।।* [3]"
3. *"तजि गुमान जे नर प्रभू, तोहि जपैं मन लाय।*
   ते जन पावैं परमसुख, होहिं अखिल जगराव।। [4]"

जो भक्त केवलज्ञानादिपूर्वक परमसुख की प्राप्ति नहीं कर पाते हैं, उन्हें भक्ति के फलस्वरूप सर्वार्थसिद्धि के सुख की प्राप्ति होती हैः—

"अति उपसर्ग जीति वह ध्यांनी। गयो जु सरवारथसिधि ज्ञांनी।। [5]"

कवि के अनुसार भक्ति से विष भी अमृत हो जाता हैः—

"कालकूट विष अम्रित होई। जब तोकौं भजन जु होई।। [6]"

तथापि भक्ति का वास्तविक फल सांसारिक मोह का निवारण, हृदय की विशुद्धि और मोक्षमार्ग की प्राप्ति ही है। तथाः—

"जिम जिम ध्यांन वाकौ करैं ध्यांनी आत्मज्ञ, तिम तिम माया मोह छूटे सब जग कौ।
जियरा विसुद्ध होय हियरा के मैल कटे, जिनदास होय भेद पावै जिनमग कौ।।
जिनइंद जिन चंद जिन सूर शूर वहै, वहै जिननायक संनानी पति नग कौ।
जाकौ नाम लेत दुख दोष सब दूरि होत, वहै जिन नरसिंह त्यागी है अमग कौ।। [7]

4.3.4.4. भक्त का स्वरूपः—

पं० दौलतराम कासलीवाल के अनुसार भक्त वह है, जो इन्द्रिय-सुखों का त्याग करके भगवान के अनुकूल रहता हो, भगवान में अनन्य भाव से आस्था रखता हो, काम-कुटिलता का त्यागी हो, गृद्धता या आसक्ति का त्याग करके साधारण भोजन ग्रहण करता हो, अभक्ष्य-भक्षणादि से दूर रहता हो, इत्यादि।

1. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द – घ/56
2. वही, छन्द – क/98
3. वही, छन्द – आ/124
4. वही, छन्द – ग/64
5. वही, छन्द – अ/241
6. वही, छन्द – क/51
7. वही, छन्द – ज/22

या आसक्ति का त्याग करके साधारण भोजन ग्रहण करता हो, अभक्ष्य-भक्षणादि से दूर रहता हो, इत्यादि। प्रमाणस्वरूप कवि की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं:—

1. *"इन्द्री सुख ए दुख के मूल। तिन कौ तजि ह्वै जिन अनुकूल।।"*

2. *"जे अनन्य ह्वै तोकौं ध्यावै।"*

3. *"कुटिल भाव जब लग नहिं नाखैं। तब लग तेरौं तत्त्व न चाखै।।"*

4. *"इनकी गृद्धि सु त्यागि कैं, धरि कैं वृत्त अभेद।।*
नीरस भोजन ले प्रभु, जे ध्यावैं मन लाय।
तजि अभक्ष सब हेय कौं, करैं भव्य तुम सेव।।"

कवि ने मन की पवित्रता पर बहुत बल दिया है। मन की पवित्रता के बिना कोई भगवान का भक्त नहीं हो सकता:—

"कुन्दोपम चित उज्ज्वल करि कैं, जे तुम ध्यावेंगे मन धरि कैं।
ते संता तेरो तत पै—हैं, तोकौं जपि प्रभु भवजल दैहै।।"

कवि के अनुसार पशु-पक्षी भी भगवान के भक्त हो सकते हैं। हो क्या सकते हैं, हैं ही। अनेक पशु-पक्षी भी भगवान की भक्ति करके सुखी हो चुके हैं:—

"कीरादिक जे पंखी स्वांमी। तोकौं ध्याय हौंहि दिवगामी।
कीर जु सूवा कीर जु कीरा। तोहि जु ध्यावैं ते जग धीरा।
नीच ऊँच जे तोकौं ध्यावे। ते ही ऊँच-ऊँच पद पावे।।"

अथवा:—

"तू खगेंद्र खगपति गण ध्येय। सुर नर खग असुरनि करि सेव।
खग अनंत कीने तैं पार। तू खग तारक शिव दातार।।"

---

1. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द – इ/39
2. वही, छन्द – क/101
3. वही, छन्द – क/108
4. वही, छन्द – घ/19, 20, 23
5. वही, छन्द – क/192
6. वही, छन्द –क/101, 102
7. वही, छन्द – ख/10

कवि का कहना है कि बड़े-बड़े राजा नारायण, प्रतिनारायण, हलधर, बलभद्र, चक्रवर्ती, कामदेव आदि सभी भगवान के भक्त होते हैं:—

"नरपति नारायण प्रभु, तोहि जपैं जगदेव।
प्रतिहरि हलधर आदि सब, करैं तिहारी सेव।।"

किन्तु भगवान के सच्चे भक्त तो वास्तव में उनके बताये मार्ग पर चलनेवाले निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि ही हैं:—

"किंचित् मात्र विभूति न राखैं। सकल परिग्रह दूरि जु नाखैं।
तब पांवै प्रभु तेरी टहला। तोकौं जपि पांवै निज महला।।"

4.3.4.5. भक्त की अभिलाषा:—

पं० दौलतराम का मानना है कि किसी प्रकार की अभिलाषा या कामना करके भक्ति करना अनुचित है; भक्ति निष्काम ही होना चाहिए:—

"सकल कामना कारिज केरी। तजि करि करिहैं सेवा तेरी।।
ते दासा तोही कौं पावै। परम सुद्ध ह्वै तुझ में आवै।।"

तथापि उनकी भक्ति में यत्र-तत्र भक्त की अभिलाषा भी व्यक्त हुई है। वास्तव में इन दोनों बातों में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि व्यक्त हुई अभिलाषा या कामना भी यही है कि हे भगवान! मुझे अभिलाषा-रहित कर दीजिए, क्योंकि आप स्वयं भी इच्छा-रहित हैं और मुनियों तक को इच्छा-रहित कर देते हैं:—

"तुही चाहिबीता सही देव देवा, नंही चाहि लोकीक तेरै अछेवा।
तुही चाहि मेटै मुन्यौं की मुनीशा,.....।।"

इसके अतिरिक्त भी भक्त ने जो कुछ अभिलाषा प्रकट की है, उसका भी तात्पर्य यही है कि हे भगवन! मुझे कोई अभिलाषा नहीं है, मैं आपसे कुछ नहीं माँग रहा हूँ, मैं तो मात्र यही चाहता हूँ कि मैं अपने शुद्ध स्वभाव को प्राप्त कर लूँ। भक्त का अत्यन्त स्पष्ट कथन है कि—

---

1. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द – ङ/7-8
2. वही, छन्द – क/183
3. वही, छन्द – क/61–62
4. वही, छन्द – च/112

"नांहिं कछु चाहि मेरै तो कना न मांगूं कछु।

एक सुद्ध भाव देहु और कछु जांच नां।।"

अथवाः—

"एहिक अर परलोक की, संपति मोहि न कामि।

दै संपति निज सास्वती, तू दौलति कर स्वामि।।"

इस पर भी भक्त यदि कुछ चाहता ही है तो वह यह चाहता है कि उसे भगवान के दर्शन और सेवाभक्ति मिलेः—

"जिन आंखिन सौं तोहि प्रभु, देखूँ त्रिभुवन राय।

सो मोकौं तू चक्षु दै, अहनिसि सेऊँ पाय।।"

इस प्रकार भक्त ने जो कुछ अभिलाषा व्यक्त की है, वह अपने स्वरूप की अशुद्धि को दूर करके शुद्धि को प्राप्त करने से सम्बन्धित ही है। भक्त की अभिलाषा है कि हे प्रभो—

1. **कालिमा मिटाकर अजर-अमर कर दोः—**

"हमरी कालिम मेटि गुसांई। करि अमरण अज अजर असांई।।"

2. **मैं अष्ट कर्म से रहित हो जाऊँः—**

"आठ काठ सब जारि जु आंऊं। तेरे पुरि तो मैं जु समांऊं।।"

3. **आत्मानुभव दीजिएः—**

मोकौ दै निज अनुभव स्वांमी। निज अनुभूति निवास स्व धांमी।।"

4. **संकल्प-विकल्प मिटा दीजिएः—**

"संकल्पा अर सकल विकल्पा। मेरे मेटि जु देव अकल्पा।।"

---

1. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द – ट/16
2. वही, छन्द – ए/50
3. वही, छन्द – घ/32
4. वही, छन्द – ऋ/64
5. वही, छन्द – ऋ/23
6. वही, छन्द – अ/15
7. वही, छन्द – अ/7

4.3.4.6. भगवत्प्राप्ति का उपायः—

जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा स्वयं भी परमात्मा बन सकता है। यही कारण है कि भक्त जब भगवान की भक्ति करके स्वयं भी भगवत्पद या परमात्मपद की प्राप्ति कर लेता है तो उसे भगवत्प्राप्ति कहते हैं। पं० दौलतराम की भक्ति में भगवत्प्राप्ति का आशय इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। ऐसी भगवत्प्राप्ति का उपाय कवि के अनुसार एकमात्र ज्ञान ही है, अन्य कुछ नहीं। वह स्पष्ट लिखता है कि—

"ज्ञानी तेरौ पावै भेव। अज्ञानी न लहैं तुव छेव।।
तुव पांवें कौ ज्ञान उपाव। अवर न देख्यौ मैं कछु राव।।[1]"

यह ज्ञान जिनवाणी के बिना प्राप्त नहीं होता है, अतः कवि ने यह भी कहा है कि भगवत्प्राप्ति जिनवाणी से ही होती हैः—

"गौ कहिए श्रुति मांहि सरस्वति नांम है।
सरस्वति तेरी वाणी जगत विश्राम है।।
सरस्वति करि तु गम्य अलष स्वामी प्रभू।[2]"

जिनवाणी से ज्ञान की प्राप्ति होने पर जो जीव सर्व परिग्रह का त्याग करके दिगम्बर मुनिदशा धारण करके समस्त संकल्प–विकल्पों का त्याग कर देते हैं, वे ही परमानन्द स्वरूप भगवत् पद की प्राप्ति करते हैंः—

"घोटकादि बहिरंग सैनि जे त्यागि कैं।
है निरग्रंथ स्वरूप रहैं तुव लागि कैं॥
तें पावैं तुव दरस परम रस परस ह्वै।[3]"

पुनश्च, तत्त्वज्ञान व मुनिदशा— ये दोनों ही उपाय मन की सरलता पर निर्भर हैं; अतः कवि ने यह भी कहा है कि भगवत्प्राप्ति मन की सरलता से ही संभव है, वक्रता से कदापि नहींः—

"तेरे पुर कौ पंथ जु ऋजुता। वक्र न पांवहिं तुव पद मृदुता।[4]"

---

1. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द – ग/21
2. वही, छन्द – ग/95
3. वही, छन्द – घ/52
4. वही, छन्द – ऋ/26

भगवत्प्राप्ति वैसे तो सभी जीवों को हो सकती है, किन्तु इसी भव से भगवत्प्राप्ति केवल संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्य को ही हो सकती है:—

"एकेन्द्री पंचेन्द्री लौं, सब कौ पालक जोय।
पंचेन्द्री मानस बिना, तद्भव लभ्य न होय।।"

4.3.5. नीति:—

चरितकाव्यों की भाँति पं० दौलतराम कासलीवाल के विचारकाव्यों में भी नीतिसम्बन्धी अनेक विषयों का प्रतिपादन हुआ है, जिनमें साधुओं की दुर्लभता, साधुओं का स्वभाव, परधन, परस्त्री व परजीवों के प्रति साधुओं का दृष्टिकोण, उत्तम-मध्यम-अधम पुरुषों की प्रकृति, अभिमान का निषेध, आत्मप्रशंसा का निषेध, परनिन्दा का निषेध, दयाभाव, तृष्णा की निन्दा, सन्तोष की प्रशंसा, चुगली का निषेध, सत्संगति आदि प्रमुख हैं।

प्रमाणस्वरूप यहाँ नीतिसम्बन्धी कतिपय विषय कवि के विचारकाव्यों से उद्धृत पंक्तियों के साथ प्रस्तुत हैं:—

1. **साधुओं की दुर्लभता:—**

वांसिनि में मोती दुलभ, त्यौं भव वन मैं साध।
कोइक पइए धर्मधी, केवल तत्त्व अराध।।[1]"

2. **साधुओं का स्वभाव:—**

"संत न आशा रहित से, आशा त्यागें साध।
साध समान अबाध नंहिं, करहिं तत्त्व आराध।।[2]"

3. **परधन, परस्त्री व परजीवों के प्रति साधुओं का दृष्टिकोण:—**

"परधन धूरि देखें, परतिय मात पेखै,
जीव एक आप लेखै, तवै तू गहै सही।।[3]"

4. **उत्तम-मध्यम-अधम पुरुष की प्रकृति:—** उत्तम, मध्यम, अधम और अधमाधम पुरुष की तुलना कवि ने क्रमशः दाख, नारियल, बेर और सुपारी से की है:—

1. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द – इ/24
2. विवेक-विलास, छन्द –219
3. क्रियाकोश, छन्द– 303
4. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द – थ/26

उत्तमः— *"दाख संमान जिके नर ऊंच। अंतर बाहिर मृदुता सौच।।* [1]*"*

मध्यमः— *"नालिकेर सम मध्य प्रवान। ऊपरि कठिन मंही मृदुवान।।* [2]*"*

अधमः— *"बोर समान तिके जग जीव। ऊपरि मृदुता मांहि न लीव।।* [3]*"*

अधमाधमः— *"फुनि जु सुपारी सम अतिदुष्ट। ऊपरि मांहै कठिन अनिष्ट।।* [4]*"*

5. आत्मप्रशंसा का निषेधः—

"अपनी महिमा कबहुँ न करो। महिमा जिनवर की उर धरौ।।

जो शठ अपनी कीरति करै। ते मिथ्यात सरूप जु धरै।। [5]*"*

6. परनिन्दा का निषेधः—

"निन्दा पर की त्यागहु भया। जो चाहौ जिनमारग लया।। [6]*"*

7. परदोष-दर्शन का निषेधः—

"ढंपि परदोषनि कौ परदोष जनि भासै, गुनग्राही होहु भया कथनी तू हरि रे।। [7]*"*

8. हिंसा की निन्दा और दयाभाव की प्रशंसाः—

"दया मात सब जगत की, दया धर्म को मूल।

दया उधारैं जगत तैं, हरै जीव की भूल। [8]*"*

"हिंसा तुल्य न पाप है, दया समान न धर्म।

हिंसक बूड़ै नरक में, बांधै अशुभ जु कर्म।। [9]*"*

9. तृष्णा की निन्दा, सन्तोष की प्रशंसाः—

"व्याधि न तृष्णा सारखी, तृष्णा सी न उपाधि।

नहिं सन्तोष समान है, कारण परम समाधि।। [10]*"*

---

1. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द – द/98
2. वही, छन्द – द/99
3. वही, छन्द – द/100
4. वही, छन्द – द/100
5. क्रियाकोश, छन्द –497
6. वही, छन्द 498
7. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द–ढ/21
8. क्रियाकोश, छन्द–451
9. वही, छन्द–471
10. वही, छन्द–1149

10. **पाप और धर्मः—**

"पाप समान न शत्रु है, धर्म समान न मित्र। [1]*"*

11. **चुगली की निन्दाः—**

"नहीं चुगली सम पाप अरूपा। [2]*"*

इसप्रकार हम देखते हैं कि जैन विचारकाव्यों की परम्परा मात्रा एवं गुणवत्ता– दोनों ही दृष्टियों अत्यन्त समृद्ध है और उसमें पं० दौलतराम कासलीवाल के विचारकाव्यों का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रतिपाद्य की दृष्टि से पं० दौलतराम के विचारकाव्यों में धर्म, दर्शन, अध्यात्म, भक्ति, नीति आदि विविध विषयों का विशद विवेचन प्राप्त होता है।

□□□

---

1. क्रियाकोश, छन्द–2148
2. वही, छन्द–1118

पञ्चम अध्याय

गद्य-विधाएँ

क्रम.	पृष्ठ-संख्या
5.1 गद्य-साहित्य-परम्परा	**226**
5.1.1. हिन्दी-पूर्व गद्य-परम्परा	226
5.1.2. हिन्दी-गद्य-परम्परा	227
5.1.2.1 दक्खिनी गद्य	229
5.1.2.2. राजस्थानी गद्य	229
5.1.2.3. ब्रजभाषा गद्य	232
5.1.2.4. हिन्दी-गद्य-परम्परा की कतिपय प्रमुख जैन कृतियाँ	233
5.2.वर्ण्य	**235**
5.2.1. वस्तु–वर्णन (लोक-वर्णन, काल-वर्णन, समवशरण-वर्णन, वैभव-वर्णन, नगर-वर्णन, युद्ध-वर्णन, सेना-वर्णन, ऐरावत-वर्णन)	236
5.2.2. प्रकृति-चित्रण (वन-चित्रण, पर्वत-चित्रण, संध्या-चित्रण, रात्रि-चित्रण, वसंत-चित्रण, वर्षा-चित्रण)	239
5.2.3. सौन्दर्य-चित्रण	242
5.2.3.1. मानवीय सौन्दर्य (स्त्री-सौन्दर्य, पुरुष-सौन्दर्य, बाल-सौन्दर्य)	
5.2.3.2. देवोपम सौन्दर्य	
5.2.4. भाव-निरूपण (क्रोध, शोक, स्वाभिमान, पश्चात्ताप, हर्ष, काम)	243
5.2.5. चरित्र-चित्रण	244
5.2.6. धर्म (धर्म की परिभाषा, धर्म के भेद, धर्म का फल, दशलक्षण धर्म, मोहादि के त्याग का उपदेश, वैराग्य एवं अनुप्रेक्षा-वर्णन, होनहार, पुण्य-पाप, विकृति-निवारण, अन्य)	247
5.2.7. दर्शन (रत्नत्रय, कर्मसिद्धान्त, अनेकान्त-स्याद्वाद, षड्द्रव्यात्मक विश्व, प्रमाण)	253
5.2.8. आचार (अभक्ष्य-भक्षण, रात्रि-भोजन, पंचपाप-निषेध)	256
5.2.9. भक्ति	257
5.2.10.नीति (संगति, अपकारी का भी उपकार करो, कृतज्ञता-कृतघ्नता, यथा राजा तथा प्रजा, युद्धनीति, गर्व-निषेध, छोटों का भी अनादर न करो, परधन व परस्त्री के लोभ की निन्दा, कुमित्र से बचने की शिक्षा, आत्महत्या महापाप है।)	261
5.2.11.अध्यात्म	262

पञ्चम अध्याय

गद्य-विधाएँ

5.0 गद्य-साहित्य विद्वान समीक्षकों द्वारा अत्यन्त उपेक्षित रहा है। यही कारण है कि उसके सम्बन्ध में अद्यावधि प्रामाणिक जानकारियाँ उपलब्ध नहीं हैं, अपितु अनेक भ्रान्त धारणाएँ प्रचलित हैं। यथा, कहा जाता है कि प्राचीनकाल में गद्य था ही नहीं या अत्यन्त क्षीण था और गद्य-निर्माण आधुनिक काल की नवीन महत्त्वपूर्ण साहित्यिक घटना है, इत्यादि। जबकि वास्तविकता ऐसी नहीं है। गद्य-साहित्य की परंपरा अत्यंत प्राचीन और सुसमृद्ध है।

5.1. गद्य-साहित्य-परम्परा :—

गद्य-साहित्य-परम्परा का अध्ययन एक स्वतन्त्र शोध-प्रबन्ध की अपेक्षा रखता है; किन्तु यहाँ हम संक्षेप में निम्नलिखित दो वर्गों द्वारा उसकी ओर संकेत करने का प्रयत्न इस प्रकार कर सकते हैं :—

1. हिन्दी-पूर्व गद्य-परंपरा,
2. हिन्दी-गद्य-परंपरा और पं० दौलतराम का गद्य-साहित्य

5.1.1. हिन्दी-पूर्व गद्य-परंपरा :—

गद्य की परंपरा प्राचीन युग से ही प्रारम्भ हो जाती है। वैदिक युग में संहिताओं, ब्राह्मण-ग्रन्थों, आरण्यक-उपनिषदों और वेदांगों में गद्य का प्रचुर प्रयोग हुआ था। लौकिक संस्कृत के युग में तो गद्य की विराट सर्जना हुई थी। यद्यपि यह गद्य, पद्य की अपेक्षा अत्यल्प है; किन्तु जितना भी है, वह बहुत सुन्दर है। वैदिक काल का गद्य सीधा, सरल एवं बोलचाल जैसा है और लौकिक संस्कृत का गद्य प्रौढ़, साहित्यिक एवं समासबहुल है। संस्कृत-गद्य के सम्बन्ध में पण्डित बलदेव उपाध्याय का कहना है कि — "कोमल भावों को प्रकट करने की जितनी शक्ति संस्कृत-गद्य में है, उतनी ही या उससे अधिक दर्शनशास्त्र के दुरूह तथ्यों को अभिव्यक्त करने की भी क्षमता उसमें विद्यमान है। लैटिन भाषा का गद्य बड़ा ही प्रौढ़, सुन्दर और ओजस्वी बतलाया जाता है, परन्तु संस्कृत भाषा के गद्य में ये गुण उससे कहीं अधिक मात्रा में विद्यमान है।[1]"

संस्कृत का गद्य शास्त्रीय, पौराणिक, आख्यायिका-सम्बन्धी, टीकापरक, प्रशस्तिपरक आदि अनेक प्रकार का है। शास्त्रीय गद्य दर्शन, व्याकरण और साहित्य-शास्त्र के ग्रन्थों में मिलता है। संस्कृत-गद्य की प्रमुख प्रवृत्ति दीर्घ समासों की योजना है।

1. संस्कृत-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 379

संस्कृत-गद्य-निर्माताओं के कुछ उल्लेखनीय नाम इस प्रकार हैं:– बाणभट्ट (कादम्बरी, हर्षचरित), दण्डी (दसकुमारचरित, अवन्तिसुन्दरी कथा), सुबन्धु (वासवदत्ता), धनपाल (तिलकमंजरी), वादीभसिंहसूरि (गद्यचिंतामणि) आदि।

वैदिक और लौकिक संस्कृत की गाँति पालि, प्राकृत और अपभ्रंश में भी गद्य-रचनाओं के प्रचुर दर्शन होते हैं। किन्तु ये गद्य जनता के निमित्त लिखे गये थे, अतः इनमें सरलता और सुबोधता है तथा आलंकारिकता एवं क्लिष्टता से बचने की प्रवृत्ति भी है। पालि-गद्य सूक्तों, जातकों, टीकाओं और कुछ शिलालेखों में प्राप्त होता है। प्राकृत-गद्य का प्रयोग आयारांगसुत्त आदि जैनागमों में, गुणाढ्य की वड्डकहा, समराइच्च कहा, कुवलयमाला आदि कथा-ग्रन्थों में टीकाओं और संस्कृत-नाटकों में निम्न पात्रों के संवादों के रूप में हुआ है। अपभ्रंश का गद्य उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण, आराधना, अतिचार, बालशिक्षा आदि में देश भाषाओं के साथ प्राप्त होता है। प्राकृत-गद्य तद्भवनिष्ठ, सजीव, सरल और व्यावहारिक है। अपभ्रंश-गद्य कहीं तुकमय और कहीं शुद्ध है।

5.1.2. हिन्दी-गद्य-परम्परा :—

पर्याप्त प्रमाणों के अभाव में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, डॉ० भोलाशंकर व्यास आदि अनेक विद्वानों ने हिन्दी की प्राचीन गद्य-परम्परा को अत्यन्त क्षीण बताया है। प्रमाणस्वरूप उक्त चारों विद्वानों के कथन क्रमशः प्रस्तुत हैं:—

"1. गद्य की पुरानी रचना जो थोड़ी सी मिलती है, वह ब्रजभाषा में ही है।

2. प्राचीन हिन्दी-गद्य बहुत ही कम है, सिवाय एक प्रेमसागर-सी दरिद्र रचना के।

3. दोनों (ब्रजभाषा एवं खड़ी बोली) में ही संचित द्रव्य लेख सामग्री बहुत न्यून भाषा में उपलब्ध थी।

4. हिन्दी-साहित्य का सर्वेक्षण करने पर हमें पता चलता है कि हिन्दी-गद्य-साहित्य का विकास बहुत बाद की घटना है। आधुनिक काल के पूर्व जो कुछ गद्य रूप का पता चलता है, वह ब्रजभाषा का वार्तापरक, टीकापरक या एक-आध शुद्ध साहित्यिक कृति का गद्य है।[1]"

किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। आधुनिक युग में अनेक प्रामाणिक शोधकार्यों से यह भलीभाँति सिद्ध हो चुका है कि हिन्दी में गद्य–साहित्य की परम्परा क्षीण नहीं, अपितु अत्यन्त समृद्ध रही है, जिसका परिचय हमें इसी अध्याय के आगामी पृष्ठों में प्राप्त होगा।

---

1. भारतेन्दु-पूर्व हिन्दी-गद्य, पृष्ठ 65

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि विद्वानों द्वारा प्रतिपादित इसीप्रकार की अन्य भी अनेक धारणाएँ वर्तमान में भ्रान्त एवं निर्मूल सिद्ध हो चुकी हैं।

दरअसल, हिन्दी-गद्य-साहित्य के इतिहास की विवेचना में आचार्य शुक्ल के इतिहास की स्थापनाओं और तथ्यों की ही आवृत्ति और अनुमोदन थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ होता रहा। उनकी सत्यता की परीक्षा करने का प्रयत्न प्रायः नहीं हुआ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने "भाषायोग-वासिष्ठ" नामक कृति को बहुत साफ-सुथरी खड़ी बोली में लिखी परिमार्जित प्रौढ़ गद्य-रचना कहा है और इसके रचयिता रामप्रसाद निरंजनी बताये हैं। किन्तु यह बात भी सत्य नहीं है, क्योंकि "भाषायोग-वासिष्ठ" मूल 'योगवाशिष्ठ' पर हुए रामप्रसाद निरंजनी के वे प्रवचन हैं जिनको उनके श्रोताओं ने लिख लिया था और उनमें समय-समय पर अनेक बार परिवर्तन होता रहा। जैसा कि उसकी भूमिका में स्पष्ट लिखा गया है :—

"अब इसके भाषान्तर होने का हाल वर्णन किया जाता है। श्रीमान मुंशी नवलकिशोर जी ने बैकुण्ठवासी प्यारेलाल शर्मा कश्मीरी को आज्ञा दी और उन्होंने बोलियाँ बदलकर और जहाँ-तहाँ की इबारत सुधारकर उनकी आज्ञा का प्रतिपालन किया। परमशिष्ट पण्डितों के द्वारा यह ग्रन्थ तीन बार शुद्धतापूर्वक छप चुका है।[1]"

इसी प्रकार कुछ विद्वान हिन्दी-गद्य की सर्वप्रथम मौलिक रचना भारतेन्दु कृत 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' को मानते हैं[2] ; जो नितान्त भ्रम है।

सत्य यह है कि हिन्दी में गद्य-साहित्य के दर्शन हमें आदिकाल से ही होने लगते हैं। यद्यपि आदिकाल का गद्य आधुनिक गद्य की अपेक्षा अल्प भी है और अपनी शैशवावस्था में भी है, तथापि उसे नगण्य नहीं कहा जा सकता। उसका अपना ऐतिहासिक महत्त्व तो है ही, भाषा-सम्बन्धी महत्त्व भी अत्यन्त उल्लेखनीय है। उसका भाषा-सम्बन्धी महत्त्व यह है कि उसमें एक ओर अपभ्रंश की प्रवृत्तियाँ प्राप्त होती हैं तो दूसरी ओर उस नवीन भाषा के निर्माण का प्रयास भी दिखाई पड़ता है जो भविष्य में राजस्थानी, ब्रज और खड़ी बोली के रूप में विकसित होती है। "राजस्थानी के साहित्य को सम्पन्न बनाने में जैन-साहित्य का बहुत महत्त्वपूर्ण हाथ है। प्राचीनतम रूप में यदि राजस्थानी के पास किन्हीं कृतियों की निधि या थाती है तो वह जैन-साहित्य की रचनाएँ हैं जो सुरक्षित, प्रामाणिक तथा हस्तलिखित हैं। जैनेतर कृतियाँ इतनी प्राचीन तथा प्रामाणिक उपलब्ध नहीं होती।[3]" आदिकाल के गद्य-लेखकों में जैन-साहित्यकारों का योगदान विशेष रहा है।

---

1. हिन्दी गद्य का विकास पृष्ठ 45 पर उद्धृत।
2. द्रष्टव्य-भारतेन्दु-पूर्व हिन्दी-गद्य, पृष्ठ 65
3. आदिकाल का हिन्दी-गद्य-साहित्य, पृष्ठ 120

इसके बाद हिन्दी-साहित्य के मध्यकाल में हिन्दी-गद्य का निर्माण विपुल मात्रा में हुआ। डॉ० हरीश ने मध्यकाल को गद्य का उत्कर्ष काल या स्वर्णकाल बताते हुए लिखा है कि "मध्यकाल गद्य-साहित्य का उत्कर्षकाल या स्वर्णकाल कहा जा सकता है। इस उत्कर्षकाल में पूर्वोल्लिखित गद्य-कृतियों के अतिरिक्त मौलिक रूप से गद्य की अनेक विधाओं का स्फुरण होता है। भाषा में भी एक अपेक्षाकृत स्थिरता मिलती है। गद्य का परिष्कार परिलक्षित होता है। शब्दचयन और पदच्छेदों में भी वैज्ञानिकता और तत्सम शब्दों का प्रयोग मिलने लगता है। गद्य में अभूतपूर्व उत्कर्ष के दर्शन होते हैं। शैली में विभिन्न रूपों का विकास पाया जाता है।[1]" मध्यकाल में दक्खिनी, राजस्थानी और ब्रज भाषा का गद्य विशेष उल्लेखनीय है। आदिकाल की भाँति मध्यकाल के लेखकों में भी जैन-साहित्यकारों का योगदान विशेष रहा है। यही कारण है कि हिन्दी का अधिकांश गद्य साहित्य धार्मिक कोटि का है। इस काल के गद्य में विचारों में प्रौढ़ता, विषय की दृष्टि से विविधता और शैली में भी अनेकरूपता प्राप्त होती है।

5.1.2.1. दक्खिनी गद्य :—

दक्खिनी हिन्दी में गद्य का विकास चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी से ही प्रारम्भ हो गया। इसमें वैद्यक, सैन्य-संचालन, शासन, गणित, इतिहास और व्याकरण आदि व्यवहारोपयोगी विषयों पर गद्य में पुस्तकें लिखी गईं। शैली की दृष्टि से दक्खिनी हिन्दी का गद्य दोनों प्रकार का प्राप्त होता है। तुकरहित और तुकमय। दक्खिनी गद्य के अनेक प्रकार हैं :— तफसीर, रिसाला, तर्जुमा, पत्र आदि। दक्खिनी गद्य के लेखकों में शेख ऐनद्दीन गजुंत इल्म, गेसूदराज बन्दवाज, शाहमीरा शम्सुल उश्शाक, शाहवुरहानुद्दीन जानम और मुल्लावजही के नाम विशेषतया उल्लेखनीय हैं।

5.1.2.2. राजस्थानी गद्य :—

दक्खिनी से अधिक गद्य राजस्थानी में लिखा गया है, क्योंकि राजस्थान दसवीं शताब्दी से ही साहित्यिक क्रियाशीलता का केन्द्र हो रहा था और यहाँ साधु, सन्त एवं श्रावकों ने अपने धर्म के सिद्धान्तों का निरूपण करने के लिए राजस्थानी गद्य को बड़े आदर से अपनाया।

डॉ० जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल भी लिखते हैं कि "वस्तुतः प्राचीन राजस्थानी गद्य के निर्माण, रक्षण और विकास में जैन समाज का योग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जैन-लेखकों ने अनेक धार्मिक विचारों को जनता तक पहुँचाने और अपने प्राचीन संस्कृत और प्राकृत में लिखित धर्मग्रन्थों की व्याख्या के लिए लोकभाषा का सहारा लिया। मौलिक गद्य का भी निर्माण इन लोगों ने किया।[2]"

---

1. आदिकाल का हिन्दी-गद्य-साहित्य, पृष्ठ 141
2. ब्रजभाषा गद्य का विकास, पृष्ठ 43

राजस्थानी के प्रसिद्ध विद्वान डॉ० पुरुषोत्तम लाल मेनारिया के अनुसार राजस्थानी गद्य के प्रमुख रूप निम्नलिखित हैं[1]:—

1. धार्मिक गद्य, 2. ऐतिहासिक गद्य,

3. मनोरंजनात्मक गद्य, 4. अभिलेखों का गद्य,

5. व्याकरण, वैद्यक, ज्योतिष आदि विषयक गद्य।

धार्मिक राजस्थानी गद्य दो प्रकार का है :— जैन गद्य और जैनेतर गद्य। डॉ० मेनारिया ने राजस्थानी जैन गद्य के अग्रलिखित आठ रूप गिनाये हैं:— टव्वाटीका, बालावबोध टीका, औक्तिक ग्रंथ, कथाग्रंथ, चरित्रग्रंथ, पट्टावली व गुर्वावली, सीखग्रन्थ और विज्ञप्ति–पत्र आदि।[2]

टव्वाटीकाओं के अन्तर्गत मूल पाठ पत्र के मध्य में लिखा जाता है और उसकी विविध टीकाओं के रूप में टव्वा हाशिये पर लिखा जाता है। टव्वा का रूप बहुत संक्षिप्त होता है। बालावबोध प्रकार की टीका विस्तृत और सुबोध होती है। इसमें मूल पाठ का विवेचन कुछ विस्तार से होता है। औक्तिक ग्रन्थों में मुख्यतः व्याकरण का विवेचन होता है। कथाग्रन्थों में किसी जैन कथा के माध्यम से जैनधर्म के सिद्धान्तों को सरलतापूर्वक समझाया गया है। चरित्रग्रंथों में जैन-लेखकों ने अनेक तीर्थंकरों, महापुरुषों और सतियों के जीवन-चरित्र को राजस्थानी-गद्य में निबद्ध किया है। पट्टावली और गुर्वावली के अन्तर्गत अपनी पट्ट-परम्परा और गुरु-परम्परा का वर्णन किया गया है। इन रचनाओं का ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्त्व है। सीखग्रन्थ वे हैं जिनमें धार्मिक नियमों का स्वरूप समझाकर उनको अंगीकार करने की मार्मिक शिक्षा दी गई है, और विज्ञप्ति-पत्र या नियम-पत्र वे हैं जिनमें जैन-लेखकों में साधु-साध्वियों और श्रावक-श्राविकाओं के लिए विभिन्न विषयक व्यवहारोपयोगी नियम पत्रों में लिखे हैं।

जैनेतर धार्मिक गद्य पौराणिक विषयों पर और ईसाई पादरियों द्वारा राजस्थानी भाषा की विभिन्न बोलियों के अनुवादों के रूप में उपलब्ध होता है। इसका एक प्राचीन उदाहरण गोरखपंथी साहित्य में उपलब्ध होता है, जिसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लगभग 14 वीं शताब्दी का माना है:—

"श्रीगुरु परमानन्द तिनको दण्डवत है। कैसे हैं परमानन्द। आनन्द स्वरूप है सरीर जिन्ह को। जिन्ही के नित्य मायै तै सरीर चेतन्नि अरु आनन्दमय हेतु है। मैं जु हों गौरिख तो मच्छन्दरनाथ को दण्डवत करता हूँ। कैसे है वे मछन्दरनाथ। आत्मा ज्योति निस्चल है अन्तःकरण जिनको अरु मूल द्वार

---

1. राजस्थानी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 104
2. वही, पृष्ठ 105–106

तैं छह चक्र जिनि जाकी तरह जानै। अरु जुग काल कल्प इनिकी रचना तत्त्व जिनि गायौ। सुगन्ध कौ समुद्र तिनि को मेरी दण्डवत।[1]"

इसके अतिरिक्त हस्तलिखित ग्रन्थ-भण्डारों में रामायण, महाभारत, भागवतादि के व्रत-माहात्म्य विषयक अंशों के गद्यानुवाद भी प्रचुर मात्रा के प्राप्त होते हैं।

राजस्थानी के ऐतिहासिक गद्य को डॉ० पुरुषोत्तम लाल मेनारिया ने अग्रलिखित 7 रूपों में विभाजित किया गया है :— ख्यात, वात, विगत, पीढ़ी, वंसावली, दवावैत या वैत और वचनिका।[2]

राजस्थानी इतिहासकारों ने राजस्थानी गद्य में विभिन्न राजवंशों से सम्बन्धित अनेक ख्यातें लिखी हैं। इनमें सीसोदियां री ख्यात, राठोड़ा री ख्यात, महाराजा मानसिंह की ख्यात, जोधपुर री ख्यात आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। वात ख्यात से छोटी होती हैं। प्रायः एक ख्यात के अन्तर्गत अनेक वातों का समावेश रहता है। वात काल्पनिक भी होती है। राणा उदैसिंघ री वात, हाड़ा सूरजमल ही वात, सोढ़ा री वात आदि राजस्थानी गद्य की प्रमुख वात रचनाएँ हैं। विगत में किसी विषयक विस्तृत विवरण होता है। विगत में गैहलोतां री चौबीस साखांरी विगत, जोधपुर रा निवांणा री विगत आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। पीढ़ी और वंशावलियों में प्रमुख ऐतिहासिक व्यक्ति की वंश-परम्परा अथवा सम्पूर्ण वंश का गद्यात्मक वर्णन होता है। इनमें सामान्य व्यक्तियों के नामोल्लेख मात्र होते हैं, किन्तु प्रमुख व्यक्तियों का वर्णन विशेष होता है। इनमें भायला री पाढ़ीया, राठोड़ा री वंसावली, उदेपुर रा राजावां की वंसावली आदि रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। दवावैत में तुकान्त वाक्य लिखे जाते थे। राजस्थानी साहित्य में दवावैत संज्ञक रचनाओं की एक सुदीर्घ परम्परा प्राप्त होती है। वचनिका में किसी रचना का सरल-सुबोध स्पष्टीकरण किया जाता है। इस कोटि में अचलदास खीची री वचनिका विशेष प्रसिद्ध है।

राजस्थानी के मनोरंजनात्मक गद्य में मनोरंजनकारी कथा-वार्ताओं तथा वर्जनात्मक गद्य का समावेश होता है। मनोरंजक कथाओं में प्रेम, वीरता, भक्ति और हास्य की अनूठी योजना होती है। लेखकों ने ऐसी कथाओं में कल्पना द्वारा रहस्य-रोमांच की भी सृष्टि की है। इन कथाओं में कहीं-कहीं पद्य की भी प्रभावशाली छटा दृष्टिगोचर होती है।

अभिलेखीय गद्य के अन्तर्गत शिलालेख, ताम्रपत्र और पट्टों-परवानों के उस गद्य का समावेश होता है, जो राजस्थानी में प्राप्त होता है।

राजस्थानी भाषा में व्याकरण, वैद्यक, ज्योतिष, टीका, स्तवन आदि विषयक गद्य भी विभिन्न लेखकों द्वारा प्रचुर परिमाण में लिखा गया है।

1. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 438
2. राजस्थानी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 107–108

5.1.2.3. ब्रजभाषा-गद्य :—

ब्रजभाषा में भी विपुल मात्रा में गद्य का निर्माण हुआ। कतिपय समालोचकों ने ब्रजभाषा-गद्य को बहुत हीन बताया है, किन्तु वास्तविकता इसके प्रतिकूल है। ब्रजभाषा-गद्य पर्याप्त समृद्ध और वैविध्यपूर्ण है। उसकी परंपरा एक निश्चित व पुष्ट परंपरा है और उसकी शैली परिष्कृत व सुगठित है। डॉ० प्रेमप्रकाश गौतम के अनुसारः—

"ब्रज का टीका-गद्य भी उतना हीन नहीं है, जितना कुछ विद्वान उसे बताते हैं। ब्रजभाषा-गद्य में धार्मिक-आध्यात्मिक विषयों की अभिव्यक्ति की सामर्थ्य तो है ही; वैद्यक, ज्योतिष, प्रश्न, शकुन, सामुद्रिक, इतिहास, भूगोल, गणित, अस्त्र, चित्रकारी, मल्लविद्या आदि व्यावहारिक विषयों की प्रतिपादन-शक्ति का भी परिचय उसने दिया है।[1]"

ब्रजभाषा-गद्य का प्रारम्भ 14वीं शताब्दी से माना जाता है, किन्तु उसके प्रामाणिक नमूने 16वीं शताब्दी से ही मिलते हैं। अनेक समालोचकों ने गोरखपंथी रचनाओं को प्राचीन ब्रजभाषा-गद्य का नमूना बताया था, किन्तु अब सुसिद्ध हो गया है कि वे 17वीं शताब्दी से पूर्व की नहीं हैं। 17वीं शताब्दी से पूर्व का ब्रजभाषा-गद्य 'पृथ्वीराज रासो' की प्रतियों में 'वार्ता' या 'वचनिका' शीर्षक से और कुछ पत्रों, इश्तिहारों, एक-दो स्वतन्त्र गद्य-ग्रन्थों तथा टीकाओं के रूप में प्राप्त होता है। राधावल्लभ-सम्प्रदाय का "सिद्धान्त-विचार" नामक ग्रन्थ भी प्राप्त होता है जो वि० सं० 1595 के आसपास का है। इसकी भाषा बहुत प्रवाहपूर्ण, सरल और सशक्त है। इसके लेखक ध्रुवदास माने जाते हैं।

इसके बाद एक 'भुवनदीपिका' नामक ज्योतिष-ग्रन्थ की 16वीं शताब्दी की टीका भी प्राप्त होती है जो राजस्थानी-मिश्रित ब्रज भाषा में है।

ईसा की 17वीं शताब्दी में नाभादास, बनारसीदास, बैकुंठमणि शुक्ल, अग्रदास आदि अनेक लेखकों ने ब्रजभाषा में सुन्दर और विपुल गद्य लिखा, जो एकदम मौलिक था। इस समय के टीकाकारों में पाण्डे राजमल, पं० हेमराज, अखयराज, रूपचन्द, चतुरदास, हरिराय, किशोरदास, ब्रजभूषण, रसिकलाल, धरनीधरदास आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

इस काल की भाषा की विशेषता बताते हुए डॉ० प्रेमप्रकाश गौतम ने लिखा है कि :—

"इस काल की भाषा अधिकतर तत्समनिष्ठ है। नामधातु और 'करत भए' ऐसी पण्डिताऊ क्रियाएँ प्रायः सर्वत्र हैं। रूप कहीं ओकारान्त हैं, कहीं औकारान्त। वर्तमान कृदन्त के पुल्लिंग एकवचन रूपों के अन्त 'तु', 'त' दोनों हैं। यथा— दीसत हैं, करत हैं, करतु हैं, होतु हैं। कहीं—कहीं करे हैं, आए हैं —ऐसे तिङन्त भी वर्तमान सामान्य काल में प्रयुक्त हैं। भूतकाल में 'दई', 'दीनी' दोनों प्रकार

1. हिन्दी-गद्य का विकास, पृष्ठ 371

के रूप मिलते हैं। टीकाएँ संस्कृत टीका-प्रणाली पर प्रायः खंडान्वयी और पर्यायमयी हैं, परन्तु अनेक टीकाएँ स्वच्छ, सुबोध और सजीव भाषा में हैं। स्वन्तत्र ग्रन्थों में तो प्रायः परिष्कृत भाषा मिलती है।[1]"

5.1.2.4. हिन्दी-गद्य-परम्परा की कतिपय प्रमुख जैन कृतियाँ :—

हिन्दी-गद्य-परम्परा की अधिकांश कृतियाँ जैनधर्म से सम्बन्धित हैं और प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध जैन-साहित्यकार से सम्बन्धित है, अतः यहाँ हिन्दी-गद्य-परम्परा की कतिपय प्रमुख जैन कृतियों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है :—

(1) **आराधना** :— यह जैन-गद्य-परम्परा की ही नहीं, अपितु समूची हिन्दी—गद्य—परम्परा की अबतक प्राप्त हुई सबसे पहली कृति मानी गई है। इसका लेखक अज्ञात है। अनुमान किया जाता है कि इसकी रचना वि० सं० 1330 में किसी लोकोपकारक जैन साधु ने की होगी। इसका प्रतिपाद्य विषय जैनधर्म की आराधना है। यह कृति पाटण (गुजरात) की ताड़पत्रीय प्रति में मिली थी।[2]

(3) **अतिचार** :— हिन्दी-जैन-गद्य-परम्परा में 'अतिचार' नाम की दो कृतियाँ प्राप्त होती हैं। एक की रचना वि० सं० 1340 में हुई थी और दूसरी की रचना विक्रम संवत् 1369 में हुई थी। लेखक दोनों ही कृतियों के अज्ञात हैं। दोनों ही का विषय धर्माचरण है। इनमें धर्म के व्रत-नियमों के निर्दोष पालन का उपदेश दिया गया है।[3]

(4) **धनपाल-कथा** :— इसकी रचना किसी धनपाल नामक लेखक ने विक्रम की 13वीं शताब्दी में किसी समय की थी। यह कथात्मक कृति है। इसकी कथावस्तु जैनधर्म से सम्बन्धित और अत्यन्त सरस है। भाषा भी बहुत सरल है।[4]

(5) **तत्त्वविचार प्रकरण** :— इसकी रचना भी किसी अज्ञात लेखक ने वि० सं० 1400 के आसपास की थी। इस कृति को सर्वप्रथम प्रकाश में लाने का श्रेय श्री अगरचन्द नाहटा को है। नाहटाजी ने लिखा है कि इस ग्रन्थ में श्रावक के 12 व्रत, जीवादि 9 पदार्थ, देव-गुरु-धर्म, त्रिषष्टिशलाका पुरुष और त्रैलोक्य आदि का वर्णन है।[5]

(6) **षडावश्यक बालावबोध** :— इसकी रचना आचार्य तरुणप्रभसूरि ने वि० सं० 1411 में की थी। इसमें जैन-श्रावक के 6 दैनिक आवश्यक कर्मों का विवेचन किया गया है। रचना-शैली उपदेशात्मक है। भाषा में राजस्थानी के सरल शब्दों का प्रयोग हुआ है।[6]

1. हिन्दी-गद्य का विकास, पृष्ठ 374
2. आदिकाल का हिन्दी-गद्य-साहित्य, पृष्ठ 129
3. वही, पृष्ठ 132
4. वही, पृष्ठ 139
5. वही, पृष्ठ 137
6. वही, पृष्ठ 153

(7) **गुर्वावली** :— इसकी रचना श्री जिनवर्धन ने वि० सं० 1480 के लगभग की थी। यह ऐतिहासिक गद्य है। इसमें महावीर स्वामी से लेकर श्वेताम्बर सम्प्रदाय के सोमसुन्दरसूरि तक की पट्टनामावली दी गई है।[1]

(8) **शोकाधिकार** :— इसकी रचना किसी अज्ञात लेखक ने विक्रम की 15वीं शताब्दी के अन्तिम दशक में की होगी — ऐसा अनुमान किया जाता है। यह कथा-प्रधान कृति है। इसकी उपलब्धि सर्वप्रथम मुनि जिनविजय जी को हुई थी। इसका यह नामकरण भी डॉ० भायाणी ने ही इसकी कथावस्तु के आधार पर किया है।[2]

(9) **समयसार-कलश-टीका** :— इसकी रचना पांडे राजमल ने वि० सं० 1600 के आसपास की थी। यह आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार नामक ग्रन्थ की टीका के संस्कृत-काव्यों की खंडान्वयी टीका है। इसकी भाषा ब्रज और राजस्थानी से मिश्रित है। यह जैन-अध्यात्म का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। वर्तमान में यह खड़ी बोली में रूपान्तरित होकर श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (गुजरात) से प्रकाशित हो चुका है।

(10) **परमार्थ वचनिका** :— इसकी रचना पं० बनारसीदास ने विक्रम की 17वीं शताब्दी में की थी। इसकी भाषा ब्रजभाषा है। इसका विषय जैन-अध्यात्म का निरूपण है। इसका प्रकाशन 'मोक्षमार्गप्रकाशक' के परिशिष्ट के रूप में जयपुर से हो चुका है।

(11) **उपादान-निमित्त की चिट्ठी** :— यह भी पं० बनारसीदास की एक महत्त्वपूर्ण गद्य कृति है। इसमें जैनदर्शन के एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त उपादान-निमित्त को तार्किक शैली में समझाया गया है। इसका भी प्रकाशन 'मोक्षमार्गप्रकाशक' के परिशिष्ट के रूप में जयपुर से हो चुका है।

(12) **चिद्विलास** :— इसकी रचना पं० दीपचन्द शाह ने वि० सं० 1779 में की थी। इसका गद्य अपरिमार्जित और आरम्भिक अवस्था में है। इसकी भाषा राजस्थानी और ब्रज से मिश्रित है। इसका प्रकाशन भावनगर (गुजरात) से हो चुका है।

(13) **अनुभवप्रकाश** :— इसकी रचना भी पं० दीपचन्द शाह ने विक्रम की 18वीं शताब्दी में की थी। इसमें आत्मानुभव का सुन्दर वर्णन किया गया है। गद्य का स्वरूप और भाषा 'चिद्विलास' के समान ही है। इसका भी प्रकाशन भावनगर (गुजरात) से हो चुका है।

---

1. आदिकाल का हिन्दी-गद्य-साहित्य, पृष्ठ 160
2. वही, पृष्ठ 180

(14) **आत्मावलोकन** :— इसकी रचना भी पं० दीपचन्द शाह ने विक्रम की 18वीं शताब्दी में की थी। इसमें भी आत्मदर्शन का अच्छा विवेचन किया गया है। इसका भी प्रकाशन भावनगर (गुजरात) से हो चुका है।

(15) **भावदीपिका** :— इसकी रचना भी पं० दीपचन्द शाह ने विक्रम की 18वीं शताब्दी में की थी और इसमें जीवों के अनन्त भावों को वर्ग बनाकर गणितीय पद्धति से समझाया गया है। इसका प्रकाशन जयपुर से हो चुका है।

(16) **सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका** :— इस विशाल गद्य-कृति की रचना महापण्डित टोडरमल ने वि० सं० 1818 में पूर्ण की थी। इसमें जैनदर्शन के 5 महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थों की टीका लिखी गई है। इसका विषय बहुत कठिन है, किन्तु टीकाकार ने बहुत सरल करने का प्रयास किया है। इसकी भाषा ढूंढ़ाड़ी (राजस्थानी) है। इसका भी प्रकाशन जयपुर से हो चुका है।

(17) **मोक्षमार्गप्रकाशक** :— इस विशाल गद्य-कृति की रचना भी महापण्डित टोडरमल ने ही वि० सं० 1823 में की थी। इसमें जैन तत्त्वज्ञान के प्रायः समस्त प्रमुख विषयों का समावेश किया गया है। यह 9 अधिकारों में विभक्त है। इसका भी प्रकाशन जयपुर से हो चुका है।

(18) **रहस्यपूर्ण चिट्ठी** :— इस लघु कृति की रचना पं० टोडरमल ने ही विक्रम की 19वीं शताब्दी में की थी। यह एक ऐसा पत्र है जो उन्होंने अपने कुछ साधर्मियों को लिखा था। इस रचना में जैन-अध्यात्म के महत्वपूर्ण विषय भेदविज्ञान और आत्मानुभव का सुन्दर वर्णन किया गया है। पं० टोडरमल अपने समय के महत्त्वपूर्ण गद्य-लेखक हैं। इनकी भाषा बहुत व्यवस्थित और परिमार्जित है। इसका प्रकाशन 'मोक्षमार्गप्रकाशक' के परिशिष्ट के रूप में जयपुर से हो चुका है।

5.2. वर्ण्य :—

पं० दौलतराम कासलीवाल की गद्य-रचनाओं में विविध विषयों का वर्णन किया गया है, जिन्हें हम निम्नलिखित भागों में विभाजित करके भली-भाँति समझ सकते हैं :—

1. वस्तु-वर्णन,	2. प्रकृति-चित्रण	3. सौन्दर्य-चित्रण,
4. भाव-निरूपण,	5. चरित्र-चित्रण,	6. धर्म,
7. दर्शन,	8. आचार,	9. भक्ति,
10. नीति,	11. अध्यात्म	12.अन्य।

5.2.1. वस्तु-वर्णन :—

पं० दौलतराम कासलीवाल की गद्य-रचनाओं में वस्तु-वर्णन के प्रसंग विशेषतः पुराणों की भाषावचनिकाओं में प्राप्त होते हैं। इन वर्णनों में लोक-वर्णन, काल-वर्णन, समवशरण-वर्णन, वैभव-वर्णन, नगर-वर्णन, युद्ध-वर्णन, सेना-वर्णन आदि प्रमुख हैं। इनमें भी लोक-वर्णन और काल-वर्णन अत्यधिक विस्तृत रूप में प्राप्त होते हैं, क्योंकि इनमें ऊर्ध्व, मध्य, अधो इन तीनों लोकों का और उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी रूप समस्त कालचक्र का जैन-मान्यतानुसार व्यापक वर्णन किया गया है। वस्तु-वर्णन की शैली कहीं-कहीं विवरणात्मक है, किन्तु अधिकांश स्थलों पर काव्यात्मक है। युद्ध, वैभव आदि के वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण भी प्रतीत होते हैं। लोक-वर्णन और काल-वर्णन के प्रसंग 'तत्त्वार्थसूत्र-टव्वाटीका' के तृतीय-चतुर्थ अध्याय और 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा-टव्वाटीका' के लोकभावना-प्रकरण में भी प्राप्त होते हैं, किन्तु यहाँ इनकी शैली विवरणात्मक ही है, काव्यात्मक नहीं। कतिपय प्रमुख वस्तु-वर्णनों का अध्ययन इस प्रकार है :—

1. **लोक-वर्णन** :— पं० दौलतराम के अनुसार सम्पूर्ण लोक का आकार ऐसा है:—"आधे ढोल पर सारा ढोल धरिये जैसा वह आकार होय वैसा लोक का आकार है। कटि पर धरे हैं कर युगल जिसने और पसारी हैं दोनों जंघा जिसने ऐसा पुरुष का जैसा आकार होय है तैसा आकार लोक का है।[1]"

इसे हम चित्ररूप[2] में इस प्रकार देख सकते हैं :—



इस सम्पूर्ण लोक की ऊँचाई 14 राजू है, किन्तु चौड़ाई पृथक् स्थानों पर पृथक्-पृथक् है, जिसका भी लेखक ने विस्तार से वर्णन किया है।[3]

यह लोक तीन भागों में विभक्त है:—ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक, अधोलोक। ऊर्ध्वलोक के दो भाग हैं:— सिद्धलोक और स्वर्गलोक। स्वर्गलोक के दो विभाग हैं:— कल्प व कल्पातीत। कल्प में सौधर्म, ईशान, सनतकुमार, माहेन्द्र, बह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ट, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण, अच्युत -- ये 16 पटल हैं और कल्पातीत में ग्रैवेयक, अनुदिश और अनुत्तर – ये 3 पटल हैं। मध्यलोक में असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं। तथा अधोलोक में रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा, महातमप्रभा-- ये 7 पृथ्वियाँ हैं, जिन्हें नरक भी कहते हैं।

लेखक ने इन सभी का अत्यन्त विस्तार से वर्णन किया है।[4]

---

1. हरिवंशपुराण-वचनिका, पृष्ठ 50
2. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश, भाग 3, पृष्ठ 439
3. हरिवंशपुराण-वचनिका, पृष्ठ 50
4. (क) हरिवंशपुराण-वचनिका, पृष्ठ 45,49,52,72,77,89,127,354
   (ख) तत्त्वार्थसूत्र-टव्वाटीका, अध्याय 3,4

2. काल-वर्णनः— जिसप्रकार एक मास में दो पक्ष होते हैंः— कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष; उसीप्रकार एक कल्पकाल में दो भाग होते हैंः— अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी। अवसर्पिणी काल में वस्तुओं की शक्ति, आयु, काय आदि सब घटते जाते हैं और उत्सर्पिणी में बढ़ते जाते हैं। इन दोनों कालों के छह-छह भेद हैं। अवसर्पिणी के 6 भेद क्रमशः इसप्रकार हैंः— सुखमा-सुखमा, सुखमा, सुखमा-दुखमा, दुखमा-सुखमा, दुखमा, दुखमा-दुखमा। इन्ही भेदों को विपरीत क्रम से गिनने पर उत्सीर्पिणी के 6 भेद बन जाते हैं। लेखक ने अपनी गद्य-रचनाओं में काल के इन सभी भेद-प्रभेदों का विस्तार से वर्णन किया है।[1]

3. समवशरण-वर्णन :— जैन-साहित्य में तीर्थंकरों की उस धर्मसभा को समवशरण कहते हैं जिसमें मनुष्य, देव और पशु-पक्षी सभी उनका उपदेश-श्रवण करते हैं।[3] पं० दौलतराम ने अपनी गद्य-रचनाओं में इसका भी विस्तृत और आश्चर्यकारी वर्णन किया है। उदाहरणार्थ तीर्थंकर महावीर के समवशरण का यह वर्णन द्रष्टव्य हैः—

"(भगवान महावीर के समवशरण में) देवों ने तीन कोट रचे। एक एक कोट के चारों ओर चार दरवाजे सो तीन कोट के द्वादश दरवाजे शोभते भये। एक योजन के विस्तार महावीर का समवशरण होता भया। उस विषे बारह सभा आकाश तुल्य स्फटिक मणि की है भित्ति जाके। उस समवशरण विषे चौंतीस अतिशय और अष्ट प्रतिहार्य उनकर युक्त जिनचन्द्र इन्द्रादिक कर वेष्टित ऐसे शोभते भये जैसे नक्षत्रों में निशाकर सोहै।..... और अष्ट प्रकार की जो महाध्वजा तिनकर संयुक्त है समवशरण जिनका। अष्ट प्रकार ध्वजाओं में पुष्पमाला, चक्र, वस्त्र, कमल, गज, सिंह, वृषभ, गरुड़ अष्ट प्रकार के आकार हैं और मानस्तम्भ तथा रत्नन के तूप कहिए पुंज और चार प्रकार के महा वन और वापी और सरोवरी और वल्ली वनलता-मण्डप इत्यादि और भी अनेक रचनाओं कर मण्डित जिनराज का समवशरण होता भया। जिस ठौर जे-जे वस्तु चाहिए, वे सकल समवशरण में पूर्ण हैं। ऐसा रमणीक त्रैलोक्य में और स्थान नाहीं।[3]"

तीर्थंकर के समवशरण में श्रोताओं के लिए पृथक्-पृथक् 12 सभाएँ होती हैं। लेखक ने इन सब का भी वर्णन किया है।[4]

4. वैभव-वर्णन :— पं० दौलतराम की गद्य-रचनाओं में अनेक राजाओं के वैभव का वर्णन हुआ है[3], किन्तु उनमें सम्राट भरत चक्रवर्ती के वैभव का वर्णन विशेष उल्लेखनीय है। भरत चक्रवर्ती के पास

1. (क) हरिवंशपुराण-वचनिका, पृष्ठ 138 से 144
   (ख) पद्मपुराण वचनिका, 204, 205,
   (ग) पुण्यास्रवकथाकोश-भाषा, 215–216
2. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 4, पृष्ठ 329
3. हरिवंशपुराण-वचनिका, पृष्ठ 22–23
4. हरिवंशपुराण-वचनिका, पृष्ठ 23–24

14 रत्न, 9 निधियाँ, 18 करोड़ घोड़े, 3 करोड़ गायें, 84 लाख हाथी आदि अपरम्पार वैभव था। 'हरिवंशपुराण-वचनिका' में लेखक ने इस वैभव का विस्तृत वर्णन किया है, जो मूलतः द्रष्टव्य है।[1]

5. **नगर-वर्णन** :— पं० दौलतराम की गद्य-रचनाओं में सैकड़ों नगरों का वर्णन प्राप्त होता है[2], जिनमें राजगृही[3], अयोध्या[4], मगध[5], पुण्डरीकनी[6] आदि नगर-नगरियों का वर्णन विशेष उल्लेखनीय है। उदाहरणार्थ किहकुन्द नगर का वर्णन प्रस्तुत है:—

"तहां किहकुंद नामा नगर बसाया। कैसा है वह नगर जहाँ वैरियों का मन भी प्रवेश न कर सके। 14 योजन लम्बा और 14 योजन चौड़ा, अर जो परिक्रमा करिये तो 42 योजन से कछुइक अधिक होय जाके मणियों के कोट, रत्नों के दरवाजे व रत्नों के महल। रत्नों का कोट इतना ऊँचा है कि अपने शिखरकरि मानों आकाश सों ही लग रह्या है अर दरवाजे ऊँचे मणियों से ऐसे शोभे हैं मानों यह अपनी ज्योति से थिरीभूत होय रहे हैं। घरनि की देहली पद्मराग मणिन की है। सो अत्यन्त लाल है अर दरवाजे मोतिन की माला कर युक्त हैं ..... अर महलन के शिखरनि पर चन्द्रकान्ति मणि लग रही है। .... घरनि के चौक मणिन के हैं अर जहाँ नगर के राजमार्ग बाजार बहुत सीधे हैं, तिन में वक्रता नहीं। ..... इत्यादि नगर का वर्णन कहाँ तक करिये।[7]

6. **युद्ध-वर्णन** :— युद्ध-वर्णन के चित्र भी पं० दौलतराम की भाषावचनिकाओं में ही अधिक प्राप्त होते हैं। इन युद्धों में सेना का घमासान युद्ध भी है और मल्लयुद्ध भी। यहाँ कृष्ण और जरासंघ के युद्ध-वर्णन का एक स्थल अवलोकनार्थ प्रस्तुत है:—

"युद्ध के वादित्र दोनों सेनाओं में बाजे। परस्पर दोनों कटक में चतुरंग सेना युद्ध को उद्यमी भई। वह उसे बुलावे अर वह उसे बुलावे। परस्पर राजा युद्ध करने लगे सो क्रोध के भार कर वक्र भई है भौंह जिनों की तिस कर क्रूर है वदन जिनों के। हाथियों के सवार तो हाथियों के सवारों से लड़ने लगे अर रथों के सवार रथवालों से अर घोड़ों के सवार घोड़ों के सवारों से अर पयादे पयादों से लड़ने लगे। इस भांति योधा परस्पर युद्ध करने लगे। धनुषों की फिड़चों का शब्द अर गजों की गर्जना अर तुरंगों की हींस अर योद्धाओं के सिंहनाद, तिन कर दसों दिशायें शब्दायमान भई।[8]"

1. पुण्यास्रवकथाकोश-भाषा, पृष्ठ 229
2. हरिवंशपुराण-वचनिका, पृष्ठ 228 से 230
3. वही, पृष्ठ 224 व 337
4. पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 17–18
5. वही, पृष्ठ 16
6. वही, पृष्ठ 337
7. वही, पृष्ठ 80
8. हरिवंशपुराण-वचनिका, पृष्ठ 563

7. **सेना-वर्णन**:— 'पद्मपुराण-वचनिका' में सेना के 8 भेद बताये गये हैं:— पत्ति, सेना, सेनामुख, गुल्म, वाहिनी, पृतना, चमू एवं अनीकिनी; और इन सबका परिमाण भी बताया गया है।[1] इसके अतिरिक्त 'हरिवंशपुराण-भाषावचनिका' में अश्वसेना, वृषभसेना, रथसेना, गजसेना, गंधर्वसेना, नर्तकियों की सेना और पियादों की सेना – इन सप्त सेनाओं का भी वर्णन प्राप्त होता है।[2]

8. **ऐरावत-वर्णन** :— 'ऐरावत' इन्द्र के हाथी को कहते हैं। 'पद्मपुराण-वचनिका' में इनका भी सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है। यथा—

"वह हाथी शरद के बादल समान उज्ज्वल है मानों कैलाश पर्वत सुवर्ण की सांकलनिकरि संयुक्त है। जिसका कुम्भस्थल भ्रमरों की पंक्ति करि मंडित है, जिसने दशों दिशा सुगन्ध से व्याप्त करी है। महा मदोन्मत्त है, जिसके नख सचिक्कण हैं, जिसके रोम कठोर हैं, जिसका मस्तक भजे शिष्य के समान बहुत विनयवान और कोमल है, जिसका अंग दृढ़ है और दीर्घ काय है, जिसका स्कंध छोटा है, मद झरै है, अर नारद समान कलहप्रिय है। ..... ऐसे ऐरावत हाथी पर चढ़कर सुरपति आए।[3]"

पं० दौलतराम की गद्य-रचनाओं में उपर्युक्त वस्तु-वर्णनों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक वस्तु-वर्णन प्राप्त होते हैं जिनमें दिग्विजय-वर्णन[4], द्वीप-वर्णन[5], मुनि-वर्णन[6], स्वप्न-वर्णन[7], विहार-वर्णन[8], क्रीड़ा-वर्णन[9], हस्ति-वर्णन[10], आश्रम-वर्णन[11], अतिशय-वर्णन[12] आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

5.2.2. प्रकृति-चित्रण:—

वस्तु-वर्णन की भाँति प्रकृति-चित्रण के स्थल भी भाषावचनिकाओं में ही अधिक प्राप्त होते हैं। इनमें वन, पर्वत, रात्रि और वसन्तादि ऋतुओं के चित्रण मुख्य हैं। उदाहरणार्थ प्रकृति-चित्रण के कतिपय प्रमुख स्थल द्रष्टव्य हैं :-

---

1. पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 591–592
2. हरिवंशपुराण-वचनिका, पृष्ठ 456, 457
3. पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 23
4. हरिवंशपुराण-वचनिका, पृष्ठ 220
5. पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 77
6. वही, पृष्ठ 269
7. (क) हरिवंशपुराण-वचनिका, पृष्ठ 160, 346, 446, 449,
   (ख) पुण्यास्रवकथाकोश-भाषा, पृष्ठ 179
   (ग) पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 111
8. वही, पृष्ठ 662
9. हरिवंशपुराण-वचनिका, पृष्ठ 588
10. पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 142
11. वही, पृष्ठ 422
12. (क) पुण्यास्रवकथाकोश-भाषा, पृष्ठ 220 व 225
    (ख) हरिवंशपुराण-वचनिका, पृष्ठ 493

1. **वन-चित्रण**:— "कैसा है वह वन ?. पर्वत के पाषाणनि के समूहकरि महाकर्कश, अर बड़े बड़े जे वृक्ष तिन पर आरुढ़, बेलनि के समूह जहां अर क्षुधाकर अति क्रोधायमान जे शार्दूल तिनके नखनिकर विदारे गए हैं वृक्ष जहां, अर सिंहनि कर हते गए जे गजराज तिनके रुधिर कर रक्त भए जे मोती सौ ठौर-ठौर बिखर रहे हैं। अर माते जे गजराज तिन कर भग्न भये हैं तरुवर जहां, अर सिंहनी की ध्वनि सुनकर भाग रहै है कुरंग जहां, अर सूते जे अजगर तिनके श्वासनि की पवन करि गूंज रही हैं गुफा जहाँ, सूकरनि के समूहकर कर्दम रूप होय रहे हैं तुच्छ सरोवर जहाँ, अर महाअरण्य भैंसे तिनके सींगन कर भग्न भए हैं बबइयनि के स्थल जहां, अर फणकूं ऊँचे किए फिरे हैं भयानक सर्प जहाँ, अर काँटनि कर बींधा है पूँछ का अग्रभाग जिनका ऐसी जे सुरै गाय सो खेदखिन्न भई हैं, अर फैल रहे हैं कटेरी आदि अनेक प्रकार के कंटक जहाँ अर विषय पुष्पनि की रज की वासना कर घूमे हैं अनेक प्राणी जहाँ अर गैंडानि के नखनिकर विदारै गये हैं वृक्षनि के पींड जहाँ, अर भ्रमते रोझने के समूह तिनकर भग्न भए हैं पल्लवनि के समूह जहाँ अर नाना प्रकार के जे पक्षीनि के समूह तिनके जो क्रूर शब्द उन कर वन गूँज रह्या है अर बंदरनि के समूह तिनके कूदने कर कम्पायमान है वृक्षनि की शाखा जहाँ .....।[1]"

2. **पर्वत-चित्रण**:— "कैसा है वह विजयार्द्ध पर्वत ! भोगभूमि के समान है पृथ्वी तल से पच्चीस योजनि ऊँचा है अर सवा छै योजनि का केन्द्र है अर भूमि पर पचास योजन चौड़ा है। अर भूमि तै दस योजन ऊँचे उठिये तहाँ दस-दस योजन की दोय श्रेणी हैं— एक दक्षिण क्षेणी एक उत्तर श्रेणी।[2]"

3. **संध्या-चित्रण** :— "सांझ के समय सांझ फूली, सूर्य अस्त समय किरण संकोचने लगा, जैसे संयमी कषायों को संकोचे, सूर्य आरक्त होय अस्त कूं प्राप्त भया, कमल मुदित भये, चकवा-चकवी वियोग तैं भयकर दीन वचन रटते भये मानो सूर्य कूं बुलावे हैं अर सूर्य के अस्त होयवे कर ग्रह नक्षत्रनि की सेना आकाश विषै बिस्तरी, मानो चन्द्रमा ने पठाई।[3]"

4. **रात्रि-चित्रण** :— "समस्त जगत तिमिर के पटल कर आच्छादित भया, सो तिमिर पटल कज्जल समान श्याम है। ..... अर कितनी एक रात्रि गये चन्द्रमा का उदय भया सो चन्द्रमा अपनी किरणों पर निशा सम्बन्धी अन्धकार को हरता संता पृथ्वी विषे प्रकाश करता भया। ..... वह चन्द्रमा जे सुखीजन हैं तिनका तो सखा कहिए मित्र है तिनको तो प्रमोद उपजावे है अर जो विरही हैं तिनको आताप उपजावे

---

1. पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 423
2. वही, पृष्ठ 46
3. वही, पृष्ठ 659

है। चन्द्रमा की किरण को स्पर्शती हुई कमोदनी विकास को प्राप्त भई ..... अर चन्द्रमा के उदय से कमलिनी मुद्रित भई। अर चकवा-चकवी वियोग कर दुखी भये।[1]"

5. **बसन्त-चित्रण** :— "बसन्त का समय तामें सुगन्ध पुष्पों को मकरन्द विस्तर गया अर शीतल मन्द सुगन्ध पवन दक्षिणी की बाजती भई उस कर प्राणी के खेद दूर होते भये .....। आमों के मौर लगे हैं तिन पर कोयल मिष्ठ शब्द करे है। जिनके शब्द सुनकर काम का उद्दीपन होय है। अर भंवर पुष्पों का मकरन्द पीय मधुर शब्द करे हैं अर कुर्वक जाति के वृक्ष अर बोलसरी आदि सुगन्ध वृक्ष ते भंवरों के समूह कर सुन्दर दीखे हैं .....[2]"

6. **वर्षा-चित्रण** :— "ग्रीष्म ऋतु गई अर वर्षा ऋतु आई। आकाश विषे मरुस्थल के पन्थी तृषातुर मेघमाला देखते भये। प्रथम तो मेघ गर्जता भया अर फिर शीतल जल के कणके वर्षते भये। जिनकर पपैयाओं को सुख होय सो वह मेघ का वर्षना इस पृथ्वी विषै जे नर-नारी वियोगी हैं तिनकों दूना दुःसह आताप उपजावता भया ..... ग्रीष्म की दौंकर अर दिवाकर की किरण कर दग्ध जीवन-स्थली तिन तिषैं प्रथम ही मेघ के वर्षन कर अंकूरे ऊगते भये। ..... चलायमान बिजली अर चलायमान बादले अर वर्षे हैं मेह की बूदँ अर इन्द्रधनुष चढ़ रहा है सो आकाश तो इन कर व्याप्त है अर पृथ्वी सावण की ढोकरियों कर भरी है सो पन्थी चाले कैसे। पन्थियों का मन सर्वथा गमन से विमुख भया है।[3]"

इनके अतिरिक्त नदी-चित्रण[4], निर्झर-चित्रण[5], ऋतु-चित्रण[6], वन-चित्रण[7], पर्वत-चित्रण[8], संध्या-चित्रण[9] आदि के अन्य भी अनेक स्थल पं० दौलतराम की गद्य-रचनाओं में उपलब्ध होते हैं। इनमें कहीं-कहीं प्रकृति को मनुष्य के सुख-दुःख से सहानुभूति करते हुए भी चित्रित किया गया है। यथा— "इन सबके रुदन तैं गुफा गुंजार करती भई, सो मानों पर्वत ने भी रुदन किया। जल के जे नीझरने, तेई भए अश्रुपात सब वन शब्दमई होय गया। वन के जीव जे मृगादि सो भी रुदन करते भए।[10]"

---

1. हरिवंशपुराण-वचनिका, पृष्ठ 485
2. वही, पृष्ठ 587
3. वही, पृष्ठ 591
4. आदिपुराण-वचनिका, तीसवाँ पर्व पृष्ठ 5
5. वही, पृष्ठ 6
6. पद्मपुराण–वचनिका पृष्ठ 243, 330, 401, 503
7. वही, पृष्ठ 498, 499, 500, 531
8. वही पृष्ठ 156
9. वही, पृष्ठ 275
10. वही, पृष्ठ 281

5.2.3. सौन्दर्य-चित्रण :—

पं० दौलतराम की गद्य-रचनाओं में तीनों प्रकार के सौन्दर्य का चित्रण पाया जाता है :— प्रकृति-सौन्दर्य, मानवीय सौन्दर्य और देवोपम सौन्दर्य।

1. प्रकृति-सौन्दर्यः— प्रकृति-सौन्दर्य का अध्ययन विगत पृष्ठों में पृथक् से किया जा चुका है।

2 मानवीय सौन्दर्य :— पं० दौलतराम की गद्य-रचनाओं में मानवीय सौन्दर्य के दोनों रूप प्राप्त होते हैं :— स्त्री-सौन्दर्य और पुरुष-सौन्दर्य। स्त्री-सौन्दर्य के अन्तर्गत स्त्री के और पुरुष-सौन्दर्य के अन्तर्गत पुरुष के प्रत्येक अंग की सुन्दरता का लेखक ने आलंकारिक भाषा में विस्तार से चित्रण किया है। इसके अतिरिक्त पं० दौलतराम की गद्य-रचनाओं में बाल-सौन्दर्य का चित्रण करने वाले भी अनेक स्थल प्राप्त होते हैं। यद्यपि उनका पूरा आनन्द तो उन्हें मूलतः पढ़कर ही लिया जा सकता है, तथापि अवलोकनार्थ तीनों का एक-एक लघु उदाहरण प्रस्तुत है :—

(क) **स्त्री-सौन्दर्य**[1] :— यह ऋषभदेव की माता मरुदेवी के चरणों के सौन्दर्य का वर्णन है :—"मरुदेवी के दोनों चरण शोभा को धरते भये। उन्नत है अग्रभाग जिनका अर सचिक्कण हैं सुन्दर हैं आरक्त नखों की किरणों कर कमलों की शोभा को जीतते भए। कैसे हैं चरणकमल? सुन्दर हैं अंगुरी रूप पत्र जिनके अर गूढ़ हैं गुल्फ कहिए कूष्या जिनके। और क्रांतिरूप जल के समूह विषे गमन और दोनों समान अति शोभा को धरते भये।[2]"

(ख) **पुरुष-सौन्दर्य** :— यह राम के सौन्दर्य का वर्णन है:— "महा सुन्दर, सूक्ष्म, स्निग्ध, श्याम, सुगन्ध, वक्र, लम्बे महामनोहर हैं केश जिनके, सो लक्ष्मी रूप बल इन कर मंडित महासुकुमार है अंग जिनका, सूर्य समान प्रतापी, चन्द्र समान कांतिकारी, अपनी कांतिकरि प्रकाश के करणहारे, नेत्रनि को आनन्द के कारण, महामनोहर अतिप्रवीण आश्चर्य के करणहारे, मानों स्वर्गलोक तें देव ही आये हैं।[3]

(ग) **बाल-सौन्दर्यः**— यह राम-लक्ष्मण के बाल-सौन्दर्य का चित्रण है:— "राम लक्ष्मण ये दोउ बालक महामनोहर रूप, मूंगा समान हैं लाल होठ जिनके, अर लाल कमल समान हैं कर अर चरण जिनके, माखन हू तैं अतिकोमल है शरीर का स्पर्श जिनका, अर महासुगन्ध शरीर जिनका, अनेक जन्म का बढ़ा जो स्नेह तातैं परम स्नेह रूप चन्द्र सूर्य समान ही हैं। महल माहिं जावे तब तो सर्व स्त्री जनकों अतिप्रिय लागैं। अर बाहिर आवैं, तब सर्व जननिकों प्यारे लागैं। जब ये वचन बोलैं तब मानों जगतकों अमृतकर सीचैं हैं। अर नेत्रनिकर अवलोकन करैं हैं, तब सबनिकों हर्ष करि पूर्ण करै हैं।[4]"

---

1. स्त्री-सौन्दर्य के अन्य स्थल 'पद्मपुराण-वचनिका' के पृष्ठ 110, 124, 241, 247, 359, 440, 573, 627, पर भी देखे जा सकते हैं।
2. हरिवंशपुराण-वचनिका, पृष्ठ 155
3. पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 555
4. वही, पृष्ठ 347

3. **देवोपम सौन्दर्य** :— पं० दौलतराम की गद्य-रचनाओं में स्वर्ग के देवादिक जीवों और तीर्थंकरादि महापुरुषों के सौन्दर्य का भी चित्रण प्राप्त होता है। यथा— "कैसे हैं स्वर्गनिवासी देव ? अपनी कांतिकरि अर दीप्तिकरि चांद सूर्य को जीते हैं। ..... देवों का शरीर माता–पिता से उत्पन्न नहीं होता। ..... कैसा है तिनका शरीर ? सात उपधातु रहित, निर्मल, रज, पसेव अर रोगनितैं रहित, सुगंध पवित्र कोमल, परमशोभायुक्त, नेत्रों को प्यारा, ऐसा उत्पादिक शुभ वैक्रियक देवों का शरीर होय।[1]" इसी प्रकार देवांगनाओं के अनुपम सौन्दर्य का भी चित्रण मूलतः अवलोकनीय है।[2]

5.2.4. **भाव-निरूपण** :—

पं० दौलतराम की गद्य-रचनाओं में — विशेषतः पुराणों की भाषावचनिकाओं में हर्ष, शोक, राग, वैराग्य, क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, उत्साह आदि अनेक मनोभावों का भी सुन्दर चित्रण हुआ है। उदाहरणार्थ कतिपय भावों के मनोहर चित्र द्रष्टव्य हैं:—

1. **क्रोध** :— "जैसे काग अपने मन में सियाना होय रहे अर स्याल आपको अष्टापद मानैं, तैसैं वह रंक आपको इन्द्र मान रह्या है। ..... हे कुदूत ! हमारे निकट तू ऐसे कठोर वचन कहता हुआ कुछ भय नाहीं करता ? ऐसा कहकर म्यानतैं खड्ग काढया।[3]"

2. **शोक** :— "हाय नाथ ! मैं तिहारे विरह से अतिकायर, मोहि तजकर तुम कहां गए? तिहारे जन दुःखसागर विषै डूबें हैं सौ क्यों न देखो ? ..... हाय विधाता ! हम तेरा कहा बुरा किया, जो तैनें निर्दई होयकर हमारे सिर पर ऐसा दुःख डार्‌या।[4]"

3. **स्वाभिमान** :— "राम ने तुमसूं यह कही है कि हे दशानन !..... तू परदारा हरकर मरवे को उद्यमी भया है तो मैं अपनी स्त्री के अर्थ क्यों न मारुंगा ? अर मुझे तीन हजार कन्या देहै, सो मेरे अर्थ नाहीं। मैं वन के फल अर पत्रादिक ही भोजन करूँगा, अर सीता सहित वन में विहार करूँगा।[5]"

4. **पश्चात्ताप** : "तब रावण का जीव ..... मन में विचारता भया— मैं मनुष्य भव पाय अणुव्रत-महाव्रत न आराधे तातैं इस अवस्था कूं प्राप्त भया। हाय हाय! मैं कहा किया जो आपकूं दुख-समुद्र में डार्‌या।[6]"

---

1. पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 223–224
2. वही, पृष्ठ 224
3. वही, पृष्ठ 131
4. वही, पृष्ठ 676
5. वही, पृष्ठ 632
6. वही, पृष्ठ 921

5. **चिंता** :— "पुत्री को नवयौवन देख माता-पिता कों याके परणायवे की चिंता भई। या योग्य वर चाहिए सो माता-पिता को रात-दिन निद्रा न आवै। अर दिन में भोजन की रुचि गई, चिंता रूप है चित्त जिनका।[1]"

6. **हर्ष** :— "रावण को देखकर गुरुजन ऐसे खुशी भये जो कहने में न आवै। बारम्बार रावण को सुखवार्ता पूछै अर ..... पिता रत्नश्रवा अर माता केकसी पुत्र के गात को स्पर्शते संते अर इसको बारंबार प्रणाम करता हुता देख कर बहुत आनन्द को प्राप्त भए।[2]"

7. **काम**[3] :— "काम के वेगकरि पवनंजय धीरज-रहित भया, कपोलनि के कर लगाय शोकवान होय बैठ्या। पसेव से टपके हैं कपोलनि तैं जाके, उष्ण निश्वास कर मुरझाये हैं होठ जाके अर शरीर कम्पायमान भया, बारम्बार जंभाई लेने लागा, अर अत्यन्त अभिलाषा रूप शल्य तैं चिंतावान भया, स्त्री के ध्यान तैं इन्द्रिय व्याकुल भई। मनोज्ञ स्थान भी याकों अरुचिकर भासै। चित्त की शून्यता धारता संता तजी हैं समस्त शृंगारादि क्रिया जानै क्षणमात्र विषै तो आभूषण पहिरै, क्षणमात्र विषै खोल डारै, लज्जा-रहित भया। क्षीण होय गया है समस्त अंग जाका ऐसी चिंता धारता भया कि वह संमय कब होय जो मैं वा सुन्दरी कों अपने पास बैठी देखूं अर वाके कमल तुल्य गात्र को स्पर्श करूँ, वा कामिनी से रस की वार्ता करूँ।[4]"

5.2.5. **चरित्र-चित्रण** :—

पं० दौलतराम कासलीवाल की गद्य-रचनाओं में से पद्मपुराण, आदिपुराण और हरिवंशपुराण की भाषावचनिकाओं का मुख्य वर्ण्य चरित्र-चित्रण ही है, क्योंकि इनमें प्रधानतया जैन-साहित्य में वर्णित 63 शलाका पुरुषों[5] के जीवन का चित्रण किया गया है।

इन 63 शलाका पुरुषों में से भी पं० दौलतराम की भाषावचनिकाओं में मुख्य रूप से प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव या आदिनाथ ('आदिपुराण-वचनिका' में), 21वें तीर्थंकर नेमिनाथ, 9वें नारायण कृष्ण, 9वें प्रतिनारायण जरासंध, 9वें बलदेव बलराम (सभी चरित्र 'हरिवंशपुराण—वचनिका' में) 8वें नारायण लक्ष्मण, 8वें प्रतिनारायण रावण और 8वें बलदेव रामचन्द्र ('पद्मपुराण—वचनिका' में) के जीवन का ही चित्रण

---

1. पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 297
2. वही, पृष्ठ 119–120
3. काम भाव का निरूपण करते हुए लेखक ने उसके 10 वेगों का भी पृथक्-पृथक् निरूपण किया है। देखिये— 'पद्मपुराण-वचनिका', पृष्ठ 244–245
4. पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 245
5. 63 शलाकापुरुषों की सूची इसी शोध-प्रबन्ध में पृष्ठ 135 पर दी गई है।

किया गया है। इसके अतिरिक्त बाहुबली, जीवन्धर (आदिपुराण), वसुदेव, प्रद्युम्न (हरिवंशपुराण) और हनुमान (पद्मपुराण),इन 5 कामदेवों का चरित्र-चित्रण भी पं० दौलतराम की इन वचनिकाओं में मुख्यरूप से प्राप्त होता है। गौण रूप में उक्त सभी महापुरुषों से सम्बन्धित सैकड़ों पात्रों के जीवन का चरित्र-चित्रण भी पं० दौलतराम की इन भाषावचनिकाओं में प्राप्त होता है।

सभी मुख्य पात्रों के चरित्र-चित्रण की पद्धति लगभग एक-सी है। उनके अनेक पूर्वोत्तर जन्मों का चित्रण किया गया है, उनके अद्‌भुत शारीरिक सौन्दर्य और अतुल बल का चित्रण किया गया है और अन्त में उन्हें धर्म भावना से अनुप्राणित दिखाया गया है। लेखक ने सभी पात्रों के सभी जन्मों के माता-पिताओं और जन्म-स्थलियों के नाम भी बताये हैं। वर्तमान जन्म से सम्बधित जानकारियाँ तो और भी विस्तृत रूप से प्राप्त होती हैं। विशेषतया तीर्थंकर पात्रों की आयु, उनके शरीर की लम्बाई, उनके शरीर का रंग, उनके पाँचों कल्याणकों की तिथियाँ, उनके श्रोता, भूत-भविष्य के भी 63 शलाका पुरुष, आदि अनेकानेक विषयों की जानकारियाँ दी गई हैं।[1]

चारित्रिक स्वरूप भी मुख्य पात्रों का लगभग एक-सा होता है। जैसे सभी तीर्थंकर पूर्व में अनेक जन्मों से एक-सी आत्मसाधना करते आते हैं, सभी के जन्म से पूर्व माता को 16 शुभ स्वप्न दिखाई देते हैं, सभी के देवों द्वारा एक से गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और मोक्ष – ये पंचकल्याणक मनाये जाते हैं, सभी अद्‌भुत सौन्दर्य और बल के धनी होते हैं, इत्यादि।

इसी प्रकार सभी नारायण, प्रतिनारायण का वध करते हैं, बलदेव से विस्मयकारी अनुराग रखते हैं, मृत्यु होने पर बलदेव उनके शव को जीवित समझकर छह माह तक कंधे पर लादे फिरते हैं, और अन्त में सभी बलदेव प्रबुद्ध होकर मुनि बन जाते हैं और घोर तप करके केवलज्ञान की प्राप्ति करते हैं।

इसी प्रकार सभी कामदेवों का चरित्र भी लगभग एक-सा ही चित्रित हुआ है। सभी अतुल्य रूप के धारक होते हैं। सभी को कारणवश अपने गृह, कुटुम्ब, ग्रामादि को छोड़ना पड़ता है। और फिर वे सभी अज्ञातभाव से अनेक देशों में भ्रमण करते हैं। वहाँ अपने आश्चर्यकारी कार्यों से सबको प्रभावित करते हैं, अनेक कन्याओं से उनका विवाह होता है, नाना प्रकार की सुख-समृद्धि प्राप्त करने के बाद वे अपने घर लौटकर परिजन-पुरजनों को हर्षित करते हैं और अन्त में मुनिदीक्षा धारण कर घोर तप द्वारा परमपद मोक्ष की प्राप्ति करते हैं।

गौणरूप से जिन पुरुष-पात्रों का चरित्र-चित्रण इन भाषावचनिकाओं में प्राप्त होता है, उनमें कुम्भकर्ण, विभीषण, बाली, सुग्रीव, राजा मधु, राजा इन्द्र, पवनञ्जय, दशरथ, जनक, भामण्डल, भरत, शत्रुघ्न,

1. (क) हरिवंशपुराण-वचनिका, पृष्ठ 677 से 712, सर्ग 60
   (ख) पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 300 से 316 (पर्व 20)

नल, नील, अंगद, इन्द्रजीत लव,कुश, कृतान्तवक्र (सभी 'पद्मपुराण-वचनिका' में), नाभिराय, महाबल राजा, वज्रजंघ, श्रीधर देव, वज्रनाभि, स्वयंबुद्ध मंत्री, जयकुमार (सभी 'आदिपुराण-वचनिका' में), युधिष्ठिर, अर्जुन, दुर्योधन, कीचक, राजा समुद्रविजय, राजा उग्रसेन, राजा दक्ष, राजकुमार वसुदेव, विष्णुकुमार मुनि, आचार्य अकंपन, सोमशर्मा ब्राह्मण (सभी 'हरिवंशपुराण-वचनिका' में) के नाम विशेषतया उल्लेखनीय हैं।

पुरुष-पात्रों के साथ-साथ अनेक स्त्री-पात्रों का चरित्र-चित्रण भी इन भाषावचनिकाओं में भली प्रकार हुआ है। इन स्त्री-पात्रों में सीता, मंदोदरी, कौशल्या, सुमित्रा, केकयी, सुप्रभा, अंजना, विदेहा (सभी 'पद्मपुराण-वचनिका' में), मरुदेवी, यशस्वती नन्दा, सुनन्दा, ब्राह्मी, सुन्दरी, सुलोचना, श्रीमती (सभी 'आदिपुराण-वचनिका' में) यशोदा, रुक्मिणी, सत्यभामा, वनमाला, मदनवेगा, सुसीमा, गौरी (सभी 'हरिवंशपुराण-वचनिका' में) के नाम विशेषतया उल्लेखनीय हैं।

चरित्र-चित्रण करते समय पं० दौलतराम ने प्रसिद्ध पात्रों के सम्बन्ध में प्रचलित कुछ ऐसी अज्ञानताओं का निराकरण भी किया है जो उन पात्रों की महिमा को क्षीण करती हैं। यथा– उनके अनुसार रावण मांसाहारी नहीं था, कुंभकर्ण छह मास तक गहरी निद्रा में नहीं रहता था और नींद खुलने पर अनेक हाथी-भैसों का भक्षण भी नहीं करता था। रावण व हनुमान राक्षस और बन्दर नहीं थे, अपितु उत्तम कुल में उत्पन्न क्रमशः राक्षसवंशी व वानरवंशी विद्याधर थे। प्रमाणस्वरूप 'पद्मपुराण-वचनिका' की वे पंक्तियाँ मुख्यरूप से द्रष्टव्य हैं जो प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में पृष्ठ 96 पर भी उद्धृत की जा चुकी हैं।

लेखक ने राम के चरित्र को बहुत उन्नत दिखाया है। वे धैर्य, पराक्रम, शील, सौन्दर्य, दया, क्षमा, विनय आदि अनेकानेक सद्गुणों से सम्पन्न हैं। उनका शत्रु रावण भी उनकी हृदय से प्रशंसा करता है। कहता है कि "एक राम न्यायमार्गी है, ताहि छोडूँगा अर समस्त अन्यायमार्गी हैं तिनकूं शस्त्रनिकर चूर डारुँगा।[2]"

पं० दौलतराम के राम कपटनीति से सर्वथा रहित हैं। एक बार रावण मन्दिर में ध्यानस्थ होता है। राम की सेना के अनेक वानरवंशी राजाओं ने और यहाँ तक कि विभीषण ने भी इस अवसर का लाभ उठाने के लिए कहा, किन्तु राम इस प्रकार की कपटनीति में रंचमात्र भी विश्वास नहीं करते। वे अन्य लोगों को भी समझाते हैं:— "हो विद्याधर हो ! तुम महामूढ़ता के वचन कहो हो, क्षत्रिनि के कुल का यह धर्म नाहीं जो ऐसे कार्य करें। अपने कुल की यह रीति है जो भयकरि भाजे ताका वध न करना। तो जे नियमधारी निजमन्दिर में बैठे हैं, तिनसे उपद्रव कैसे करिए ? यह नीचनि के कर्म हैं सो कुलवंतनि को योग्य नाहीं।[3]"

---

1. पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 29
2. वही, पृष्ठ 651
3. वही पृष्ठ 639

स्त्री–पात्रों में लेखक ने केकई का चरित्र-चित्रण विशेष सावधानी से चित्रित किया है। उनकी केकई आश्चर्यजनक विद्वत्ता धारण करनेवाली है। वह गीत, संगीत, दर्शन, साहित्य, भाषा, व्याकरण, गणित, इतिहास आदि अनेकानेक विषयों की पण्डिता है। लेखक ने उसके इन गुणों का वर्णन विस्तार से किया है।[1]

5.2.6. **धर्म** :–

पं० दौलतराम की सभी गद्य-रचनाओं का सबसे प्रमुख वर्ण्य धर्म है। चाहे वह टीका हो या अनुवाद,सभी में सर्वत्र तिल में तेल की भाँति धर्म का समावेश पाया जाता है। उनकी परमात्मप्रकाश, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, वसुनन्दि-श्रावकाचार, तत्त्वार्थसूत्र और समयसार आदि रचनाएँ तो पूर्णतः धार्मिक हैं ही, पुण्यास्रवकथाकोश और पुराणों की वचनिकाओं में भी धार्मिक विषयों का ही बहुलता से प्रतिपादन पाया जाता है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में उन रचनाओं का परिचय देते हुए संकेत किया जा चुका है कि इन रचनाओं में प्रत्येक सर्ग या अध्याय और सम्पूर्ण ग्रन्थ के अन्त में तो धर्म के प्रतिपादनपूर्वक धर्म-धारण की प्रेरणा दी ही गई है, उदाहरणों तक में धर्म का प्रतिपादन किया गया है। इसीप्रकार पात्रों के पारस्परिक संवादों में भी यत्र-तत्र अनेक धार्मिक विषय समाविष्ट रहते हैं। पं० दौलतराम की गद्य-रचनाओं में वर्णित प्रमुख धार्मिक विषय निम्नलिखित हैं:–

1. **धर्म की परिभाषा एवं स्वरूपः**— पं० दौलतराम के अनुसार वस्तुतः आत्मा के स्वभाव और शुद्ध भाव का नाम ही धर्म है, क्योंकि वही संसार में पतित प्राणियों को वहाँ से निकाल कर उच्च मोक्षपद में स्थापित करता है।[2] 'धर्म' शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ बताते हुए पं० दौलतराम लिखते हैं कि "व्याकरण हू तैं धर्म शब्द का यही अर्थ होय है— जो धर्म आचरता संता दुर्गति विषै पड़ते प्राणियों को थांभै सौ धर्म कहिए।"[3]

पं० दौलतराम के अनुसार धर्म का सम्बन्ध जीव से है, क्योंकि जीव अनादिकाल से निरन्तर इस चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण कर रहे हैं और नाना प्रकार के दुःख भोग रहे हैं। कोई एक विरले भव्य जीव ही इस धर्म के प्रताप से सुख की प्राप्ति करते हैं और सर्व दुःखों से मुक्त होते हैं। धर्म ही सब जीवों का वास्तविक बन्धु है।[4]"

---

1. पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 341
2. परमात्मप्रकाश, दूहा 195 की टीका
3. पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 221
4. वही, पृष्ठ 215, 221

धर्म का स्वरूप बताते हुए पं० दौलतराम ने लिखा है कि "संसार का तारक धर्म ही है। यह धर्म नामा परममित्र जीवों का महाहितू है। धर्म के प्रसाद से प्राणी मनवांछित सुख पावे है। धर्म ही पूज्य है। जे धर्म का साधन करैं ते ही पण्डित हैं।[1]"

पं० दौलतराम के अनुसार ऐसा धर्म हिंसा से सर्वथा रहित होता है। वे स्पष्टता व दृढ़ता के साथ लिखते हैं कि "जहां हिसा तहां धर्म नाहीं। ..... जो जीव-घात करि पुण्य चाहे हैं ते जीव पाषाण तैं दुग्ध चाहै हैं।[2]"

धर्म की महिमा बताते हुए भी वे लिखते हैं कि "तीन लोक में जीवों को धर्म ही परमशरण है। याही तैं परमसुख होय है.....। जैसे मेघ बिना वर्षा नाहीं, बीज बिना धान्य नाहीं, तैसें जीवनि के धर्म बिना सुख नाहीं। अर जैसे कोई पंगु पुरुष चलने की इच्छा करै, अर गूंगा बोलने की इच्छा करै, अर अंधा देखने की इच्छा करै, तैसैं मूढ प्राणी धर्म बिना सुख की इच्छा करै है। जैसे परमाणुतैं और कोई अल्प (सूक्ष्म) नहीं, अर आकाश तैं कोई महान नाहीं, तैसैं धर्म समान जीवों का अन्य कोई मित्र नाहीं, अर दया समान कोई धर्म नाहीं।[3]"

धर्म की महिमा के विषय में ऐसे ही विचार पं० दौलतराम की गद्य-रचनाओं में अन्य भी अनेक स्थलों पर व्यक्त हुए हैं।[4]

2. **धर्म के भेद** :— यद्यपि उक्त स्वरूप वाला धर्म आत्मा का निर्मल परिणाम है, अतः निश्चय से एक और अभेद है; किन्तु उस आत्मिक धर्म का परिज्ञान प्राणियों के बाह्य निर्मल आचार से होता है अतः उस व्यवहार या बाह्याचरण की अपेक्षा से उसके दो भेद किये जाते हैं:— श्रावकधर्म और मुनिधर्म। इन दोनों धर्मों का वर्णन पं० दौलतराम की गद्य-रचनाओं में ठीक वैसा ही किया गया है, जैसा कि चतुर्थ और पंचम अध्याय में लिखा जा चुका है। अन्तर केवल इतना है कि वहाँ संक्षिप्त है और यहाँ अतिविस्तृत। बाह्याचरण में भी पं० दौलतराम ने अपनी गद्य–रचनाओं में जीवदयादि रूप धर्माचरण पर बहुत बल दिया है और कहा है कि "धर्म का लक्षण जीवदया ही है ..... सब जीवन को प्राण समान और कुछ प्यारा नहीं ..... तातैं जो मूरख परजीवनि के प्राण हरैं है ते दुष्टकर्मी नरक में पड़े हैं। उन समान कोऊ पापी नाहीं। ..... हिंसा ही संसार का कारण है। चोरी न करनी, साँच बोलना, स्त्री की संगति न करनी, धन की वांछा न रखनी, सर्व पापारम्भ तजने, परोपकार करना, परपीड़ा न करनी।[5]"

---

1. पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 22
2. वही, पृष्ठ 219
3. वही, पृष्ठ 49
4. (क) हरिवंशपुराण-वचनिका, पृष्ठ 284
   (ख) पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 236
5. पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 70–71

पं० दौलतराम की गद्य-रचनाओं में 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-भाषाटीका' और 'वसुनन्दि-श्रावकाचार-टब्बाटीका' तो पूर्णतः श्रावक धर्म और मुनिधर्म से सम्बन्धित हैं ही, उनके अतिरिक्त उनकी गद्य-रचनाओं में श्रावकधर्म और मुनिधर्म का वर्णन निम्नांकित स्थलों पर भी पाया जाता है:—

1. पद्मपुराण-भाषावचनिका, पृष्ठ संख्या 88 से 90 तक और 226 से 231 तक।

2. कार्तिकेयानुप्रेक्षा-टब्बाटीका, गाथा 304 से 486 तक की टीका।

3. तत्त्वार्थसूत्र-टब्बाटीका, अध्याय 7 और 9।

धर्म के फल के सम्बन्ध में पं० दौलतराम का अभिमत है कि आत्मा के निर्मल परिणाम रूप निश्चयधर्म का फल तो सर्वथा मोहशत्रु का विनाश एवं आत्मिक आनन्दरूप मोक्ष पद की प्राप्ति है, किन्तु पुण्याचरण रूप व्यवहारधर्म का फल देव-मनुष्यों के सर्व सांसारिक सुखों की प्राप्ति है। यथा :—

"जो देवलोक में सुख हैं तथा मनुष्यलोक विषै चक्रवर्त्यादिकनि के सुख हैं सो सर्व धर्म का फल जिनेश्वर देव ने कह्या है। अर तीन लोक में जो सुख ऐसा नाम धरावै हैं सो सर्व धर्मकरि ही उत्पन्न होय हैं। जे तीर्थंकर तथा चक्रवर्ती, बलभद्र, कामदेवादि, दाता भोक्ता मर्यादा के कर्ता, निरंतर हजारों राजानि करि तथा देवनि करि सेइए हैं सो सर्व धर्म का फल है। अर जो इन्द्र स्वर्ग लोक का राज्य, ... सो सर्व धर्म का फल है। यह तो सकल शुभोपयोग रूप व्यवहारधर्म के फल कहे। अर जे महामुनि निश्चल रत्नत्रय के धरणहारे मोहरिपु का नाशकरि सिद्धिपद पावै हैं सो शुद्धोपयोग रूप आत्मिक धर्म का फल है।[1]"

3. **दशलक्षण धर्म** :— उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य — ये धर्म के 10 लक्षण हैं। इन्हीं को दशलक्षण धर्म भी कहते हैं। पं० दौलतराम की गद्य-रचनाओं में इनका भी विशद वर्णन प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ उत्तम क्षमा और उत्तम मार्दव धर्म का वर्णन करनेवाली निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :— "कर्कश वचन तथा वध बंधनादि सबकार होतें क्रोध रूप कलुषता न उपजै सो उत्तम क्षमा है। उत्तिम जाति आदि गुण का मद न हो ता पैला अपमान करै तहां अभिमान न करनां कोमल भाव राखना सो मार्दव है।[2]"

धर्म के उक्त दशलक्षणों में से उत्तम तप का वर्णन करते हुए पं० दौलतराम ने अग्रलिखित 12 तपों का भी विशद वर्णन किया है:— अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन,

1. पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 225
2. तत्त्वार्थसूत्र-टब्बाटीका, सूत्र 9/6 की टीका।

कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान। इनमें से प्रारम्भ के 6 तप बाह्य तप कहलाते हैं और बाद के 6 तप अंतरंग तप कहलाते हैं। जैन-साहित्य में आत्मसाधना के प्रसंग में इनका व्यापक वर्णन प्राप्त होता है। पं० दौलतराम ने भी अपनी गद्य-रचनाओं में इन 12 तपों का परम्परित वर्णन किया है। उदाहरणार्थ वृत्तिपरिसंख्यान तप का वर्णन करनेवाली निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :—

"वृत्तपरिसंख्या कहिये विषम प्रतिज्ञा का धारना, अटपटी बात विचारनी, या विधि आहार मिलेगा तो लेवेंगे, नातर नाहीं।[1]"

4. मोहादि के त्याग का उपदेश :— पं० दौलतराम ने अपनी गद्य-रचनाओं में अनेक स्थलों पर मोह, राग, द्वेष आदि विकारी भावों के त्याग का हृदयस्पर्शी उपदेश दिया है। यथा मोह के त्याग का उपदेश देते हुए वे लिखते हैं कि :—

"जो अनेक शास्त्रनि के समूह जाने, अर अनेक नय विषैं प्रवीन होय, अर जाके मन्त्री भी निपुण होय, अर सूर्य सारिखा तेजस्वी होय, तथापि मोहरूप मेघपटल करि आच्छादित भया प्रकाशरहित होय है। यह मोह महा अज्ञान का मूल विवेकियों को तजना योग्य है।[2]"

इसी प्रकार क्रोध, मान, माया, लोभ के त्याग की प्रेरणा देते हुए वे लिखते हैं कि :—

"क्रोध मान माया लोभ ये कषाय जीव के महा शत्रु हैं, सो क्षमा तैं क्रोध को जीतना अर मार्दव कहिये निगर्व परिणाम तिनकरि मान को जीतना, अर आर्जव कहिये सरल परिणाम निकपट भाव ताकरि मायाचार को जीतना अर संतोष तैं लोभ को जीतना।[3]"

5. वैराग्य एवं अनुप्रेक्षा वर्णन :— पं० दौलतराम की गद्य-रचनाओं में विशेषतया पुराणों की भाषावचनिकाओं में वैराग्य-वर्णन के स्थल बहुत अधिक मिलते हैं, क्योंकि इनके प्रायः सभी पात्र अन्त में संसार-शरीर-भोगों की क्षणभंगुरता और असारता का विचार करके वैराग्य दशा को प्राप्त होते हैं।

वैराग्य-वर्णन के प्रायः सभी स्थलों पर जैन धर्म में प्रसिद्ध 12 भावनाओं का भावपूर्ण वर्णन भी पाया जाता है। अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म – ये 12 भावनाएँ हैं। इन 12 भावनाओं को द्वादशानुप्रेक्षा भी कहा गया है।

---

1. पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 222
2. वही, पृष्ठ 633
3. वही, पृष्ठ 221–222

वैराग्य-वर्णन के प्रसंग में कहीं--कहीं इन सभी 12 भावनाओं का वर्णन न करके किसी भी एक, दो या तीन भावनाओं का ही वर्णन करके वैराग्य भाव को पुष्ट किया गया है। उदाहरणार्थ अनित्य भावना को दर्शाने वाला यह एक स्थल द्रष्टव्य हैः—

"देखहु यह संसार की अनित्यता, जिसको देखकर भवि जीवनि का मन संसार विषै न प्रवर्ते। तो आगैं तुम्हारे समान पराक्रमी ..... अनेक राजा भये। ते सर्वकाल वश भये सो राजान की बात तो दूर ही रहो, जे स्वर्गलोक के इन्द्र महाविभव करि युक्त है तेऊ क्षण में विलाय जाय हैं। जैसें पक्षी एक वृक्ष पर रात्रि को आय बसैं हैं, प्रभात भये अनेक दिसान को गमन करैं हैं। यह प्राणी कुटुम्बरूपी वृक्ष विषैं आय बसै है, स्थिति पूरी कर अपने कर्म के वश तैं चतुर्गति विषैं गमन करैं हैं। ..... जीवनि का शरीर सम्पदा अर इष्ट का संयोग, सर्व इन्द्रधनुष व स्वप्न व बिजली व झाग व बुदबुदा तिन समान जानना।[1]"

पं० दौलतराम की गद्य-रचनाओं में वैराग्य-वर्णन और द्वादशानुप्रेक्षा-वर्णन के अन्य भी अनेक स्थल प्राप्त होते हैं। लेखक की एक प्रमुख गद्य-रचना 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा-टव्वाटीका' का तो प्रमुख वर्ण्य द्वादशानुप्रेक्षा ही है, जिसमें बारहों भावनाओं का पृथक्-पृथक् रूप से विस्तृत वर्णन किया गया है। सम्बन्धित अन्य स्थल निम्नलिखित हैः—

1. पुण्यास्रवकथाकोश-भाषा, पृष्ठ 102 से 104
2. हरिवंशपुराण-वचनिका, पृष्ठ 263 से 265, 594 एवं 734
3. पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 69, 385, 715 874, 885
4. तत्त्वार्थसूत्र-टव्वाटीका, सूत्र 9/7 की टीका

6. **होनहार** :— जिस द्रव्य का, जिस क्षेत्र में, जिस काल में, जिस भाव से जो परिणमन होना सर्वज्ञ ने देखा है; उसे टालने में कोई इन्द्र, जिनेन्द्र, नरेन्द्र भी समर्थ नहीं हैं।[2] इसी वस्तु-व्यवस्था को भवितव्य या होनहार कहते हैं। पं० दौलतराम ने अपनी गद्य-रचनाओं में इस होनहार पर बहुत बल दिया है। उनकी दृढ़ मान्यता है कि "भवितव्यता दुर्निवार है।[3]" उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि "यह प्राणी अनेक चेष्टा करै है परन्तु अन्यथा न होय, जैसा भवितव्य है तैसा ही होय। सूर्य हू और प्रकार करिवे समर्थ नाहीं।[4]"

---

1. पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 66-67
2. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 321, 322
3. हरिवंशपुराण-वचनिका, पृष्ठ 717
4. पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 662

7. पुण्य-पाप :— पं० दौलतराम ने अपनी गद्य-रचनाओं में पुण्य पाप का भी परम्परित प्रतिपादन किया है। इस प्रसंग में उन्होंने पाप एवं पाप के फल की निन्दा करते हुए उसके त्याग का उपदेश दिया है और पुण्य एवं पुण्य के फल की प्रशंसा करते हुए उसके ग्रहण का उपदेश दिया है। उदाहरणार्थ पुण्य–प्रभाव का वर्णन करने वाली निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :—

"पुण्य के प्रभाव करि सर्व स्तुति की सिद्धि होवे है। पुण्य करि क्या न होय? इसलिए हे प्राणी हो ! पुण्य विषै तत्पर होहु, जाकरि शोक रूप सूर्य का आताप न होय।[1]"

8. विकृति-निवारण : पं० दौलतराम ने अपनी गद्य-रचनाओं में धर्म-प्रतिपादन के साथ-साथ धर्म के नाम पर प्रचलित अनेक विकृतियों का निराकरण भी किया है। यथा, लेखक का मानना है कि जीवहिंसा में कदापि धर्म नहीं हो सकता, चाहे वह हिंसा यज्ञ के लिए ही की गई हो। लेखक का स्पष्ट कथन है कि —

"जे निर्दई देवन का छल करि पशुवों का घात करैं हैं ते पारधी समान हैं, ... देवता मोहीं वर देगें, यह अभिलाषा करना जगत विषैं बड़ी भूल है। ..... हिंसा करना अर करावना अर हिंसा की अनुमोदना करनी – यह तीन अशुभ हैं। इन कर पाप का आस्रव होय है। ..... हिंसा कुगति का कारण है अर सर्व पाप का मूल है।[2]"

इसी प्रकार जो लोग धर्म के नाम पर दिन के भोजन का तो त्याग कर देते हैं किंतु रात्रि में भोजन ग्रहण करते है, वे भी गलत हैं, क्योंकि रात्रिभोजन में तो हिंसा अधिक होती है और जहाँ हिंसा है वहाँ धर्म कैसे हो सकता है ?[3]

इसी प्रकार लेखक के अनुसार जो व्यक्ति मुनिदीक्षा धारण करके भी आरम्भ-परिग्रह में लीन रहते हैं वे मुनि नहीं, पापी हैं। उन्हें कदापि मोक्ष-प्राप्ति नहीं हो सकती। यथा—

"जो मूढ़ निजदीक्षा लेकर आरम्भ करै हैं सो यति नाहीं। यति का धर्म आरम्भ-परिग्रह सूं रहित है। परिग्रहधारियों को मुक्ति नाहीं। जे हिंसा में धर्म जान षट्कायिक जीवों की हिंसा करें हैं ते पापी हैं।[4]"

---

1. पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 708–709
2. हरिवंशपुराण-वचनिका, पृष्ठ 550–551
3. पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 232
4. वही, पृष्ठ 838

9. **अन्य** :— पं० दौलतराम की गद्य-रचनाओं में उक्त विषयों के अतिरिक्त भी अन्य अनेक धार्मिक विषयों का वर्णन हुआ है। यथा :—बाईस परिषह[1], समभाव[2], पंचकल्याणक[3], द्वादशांग[4], चारित्र[5], ध्यान[6] आदि। सभी वर्णन प्राचीन जैन-ग्रन्थों की परम्परा के अनुरूप हैं; अतः सभी का पृथक्-पृथक् विवेचन अनावश्यक है।

5.2.7. **दर्शन** :—

पं० दौलतराम की रचनाओं में अनेक दार्शनिक विषयों का प्रतिपादन हुआ है, जो सभी मुख्यतः जैनदर्शन से सम्बन्धित हैं। इन दार्शनिक विषयों में कतिपय प्रमुख इसप्रकार हैं :—

1. रत्नत्रय,
2. कर्म सिद्धान्त,
3. अनेकान्त—स्याद्वाद,
4. षड्द्रव्यात्मक विश्व,
5. प्रमाण—व्यवस्था।

1. **रत्नत्रय** :— पूर्व में लिखा जा चुका है कि रत्नत्रय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र — इन तीनों का एक सम्मिलित नाम है। जैनदर्शन में इस रत्नत्रय को मोक्षमार्ग एवं मोक्ष का मूल माना गया है।[7] पं० दौलतराम ने अपनी गद्य-रचनाओं में इस रत्नत्रय का अनेक स्थलों पर वर्णन किया है, किन्तु वह संक्षिप्त—विस्तार के अन्तर को गौण कर दिया जाये तो ठीक वैसा ही है, जैसा कि चतुर्थ और पंचम अध्याय में लिखा जा चुका है; अतः यहाँ उसकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है।

पं० दौलतराम की गद्य-रचनाओं में रत्नत्रय का वर्णन पुराणों की वचनिकाओं[8] में तो यत्र-तत्र हुआ ही है, 'तत्त्वार्थसूत्र-टब्बाटीका'[9], 'परमात्मप्रकाश-वचनिका,'[10] 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय—भाषाटीका'[11] में भी अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है।

---

1. हरिवंशपुराण-वचनिका, पृष्ठ 740
2. परमात्मप्रकाश-वचनिका, पृष्ठ 248
3. (क) पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 39
   (ख) हरिवंशपुराण-वचनिका, पृष्ठ 454, 597
4. हरिवंशपुराण-वचनिका, पृष्ठ 27
5. वही, पृष्ठ 742, 750
6. वही, पृष्ठ 599, 743
7. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 3, पृष्ठ 389
8. हरिवंशपुराण-वचनिका, पृष्ठ 218, 625, 656
9. विशेषतया अध्याय 1 और 6 में।
10. परमात्मप्रकाश-वचनिका, दोहा 2/12 से 30 तक
11. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-भाषाटीका, श्लोक 20 से 41 तक की टीका।

2. **कर्मसिद्धान्त** :— जैनदर्शन में कर्मसिद्धान्त का विवेचन बहुत विस्तार और सूक्ष्मता के साथ किया गया है। सारांशतः कहा गया है कि जो जैसा शुभ या अशुभ कर्म करता है, वह निश्चित रूप से उस शुभ या अशुभ कर्म को भोगता है, उसमें कोई अन्य कुछ नहीं कर सकता।[1]

जैनदर्शन का यह कर्मसिद्धान्त ऊपर से देखने पर बहुत सामान्य-सा नजर आता है, किन्तु वस्तुतः यह बहुत गूढ़ और गम्भीर है। जैनदर्शन में इस पर स्वतन्त्र रूप से अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं जिनमें आचार्य पुष्पदन्त-भूतबलि कृत षट्खण्डागम, नेमिचन्द्राचार्य कृत गोम्मट्टसार आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

पं० दौलतराम की गद्य-रचनाओं में इस कर्मसिद्धान्त का वर्णन सांगोपांग और पूर्ण व्यवस्थित रूप से तो नहीं प्राप्त होता, किन्तु इसका सरल-सुबोध व सामान्य प्रतिपादन अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ कतिपय महत्त्वपूर्ण पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं:—

1. "सुख-दुःख का मूल कारण कर्म ही है, अर प्राणी तो निमित्तमात्र है।[2]"

2. "जगत के सकल जीव अपने उपार्जे कर्म का फल भोगवे है। इस संसार विषैं सुख-दुःख का दाता कोई शत्रु अर मित्र नहीं। निश्चय थकी विचारिये तो कर्म ही सुख-दुःख का दाता है।[3]"

3. "कर्मों की यह विचित्रता है। कौन पुरुष अन्यथा करने को समर्थ है। तातैं जगत में कर्म प्रबल है।[4]"

4. "मन में चिन्तिये कछू और, होय जाये कछु और, जगत के लोक उद्यम मै प्रवरतै हैं, तिनको पूर्वोपार्जित कर्म का उदय ही कारण है। जो हितकारी वस्तु आय प्राप्त भई सो अशुभ कर्म के उदय तैं विघटि जाये, अर जो वस्तु मन तैं अगोचर हैं सो आय मिलै कर्मन की गति विचित्र है।[5]"

कर्मसिद्धान्त का विवेचन पं० दौलतराम की गद्य-रचनाओं में अन्य भी अनेक स्थलों पर उपलब्ध होता है।

3. **अनेकान्त-स्याद्वाद** :— यह जैनदर्शन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विषय माना जाता है। इसका तात्पर्य है कि प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है; उसमें अस्ति, नास्ति, नित्य, अनित्य आदि अनन्त परस्पर

---

1. भावना-द्वात्रिंशतिका, छन्द 30—31
2. पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 134
3. हरिवंशपुराण-वचनिका, पृष्ठ 724
4. पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 210
5. वही, पृष्ठ 267
6. वही, पृष्ठ 267, 274, 601, 719, 892, 930 आदि।

विरोधी धर्म एक साथ निवास करते हैं, किन्तु उन सब को वाणी द्वारा एक साथ पूरी तरह व्यक्त नहीं किया जा सकता; अतः विविध अपेक्षाओं से ही उनका कथन करना सुसंगत है। अभिप्राय यह है कि अनेकान्त वस्तु का स्वरूप है और स्याद्वाद उसे ठीक से व्यक्त करने की शैली।

"जैनदर्शन के इस अनेकान्त-स्याद्वाद पर विश्व के अनेक महान दार्शनिकों ने गहन विचार किया है किन्तु यह इतना रहस्यपूर्ण है कि इसे बहुत कम लोग ही सही अर्थों में समझ सके हैं।[1]"

पं० दौलतराम की गद्य रचनाओं में इस अनेकान्त-स्याद्वाद सिद्धान्त का भी संक्षिप्त वर्णन प्राप्त होता है। लेखक के अनुसार वस्तु को अनेकान्तात्मक मानने से ही कार्यसिद्धि संभव है और स्याद्वाद ही सम्यग्ज्ञान का मूल है। यथा :—

"वस्तु का स्वरूप सदा अस्तिरूप है, नास्तिरूप है, नित्य है, अनित्य है, सामान्य है, विशेष है। निज-पर को अनेकान्त रूप मानना सो ही कार्यसिद्धि है। द्रव्य में अर गुण में नाममात्र भेद है अर वस्तु अभेद है। यह स्याद्वाद ज्ञान का मूल है अर जे मिथ्यादृष्टि मूढ़ता कर एक ही नय का पक्षपात करे हैं तिनको ज्ञान की प्राप्ति नहीं सो दीर्घ संसारी जानने।[2]"

पं० दौलतराम की गद्य-रचनाओं में अन्य भी अनेक स्थलों[3] पर अनेकान्त-स्याद्वाद का वर्णन प्राप्त होता है। इस प्रसंग में लेखक ने अनेक नयों का भी वर्णन किया है।[4]

4. षड्द्रव्यात्मक विश्व :— जैनदर्शन की मान्यता है कि यह विश्व अनादिनिधन और अकृत्रिम है। इसका कोई कर्त्ता-धर्त्ता नहीं है। यह षड्द्रव्यात्मक है अर्थात् जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल — इन छः द्रव्यों से निर्मित है। इन द्रव्यों में काल को छोड़कर शेष पाँच अस्तिकाय हैं, जीव को छोड़कर शेष पाँच अजीव हैं और पुद्गल को छोड़कर शेष पाँच रूपी हैं। जीव, धर्म और अधर्म— ये तीन द्रव्य असंख्यप्रदेशी हैं, आकाश द्रव्य अनन्तप्रदेशी है, पुद्गल द्रव्य संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशी हैं और काल द्रव्य के एक ही प्रदेश होता है। ये सभी द्रव्य परस्पर एक-दूसरे का उपकार करते हुए इस लोक में अवस्थित रहते हैं।

पं० दौलतराम ने भी अपनी गद्य-रचनाओं में अनेक स्थलों पर इस जैनदर्शनानुमोदित विश्व-व्यवस्था के अनुकूल विचार व्यक्त किये हैं। ऐसे स्थल प्रमुखतया रत्नत्रय-वर्णन के प्रसंग में सम्यग्दर्शन का विवेचन करते समय आये हैं।

---

1. तीर्थंकर भगवान महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ 142
2. हरिवंशपुराण-वचनिका, पृष्ठ 551, 552
3. (क) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-भाषाटीका, श्लोक 2 व 203 की टीका
   (ख) तत्त्वार्थसूत्र-टब्बाटीका, सूत्र 5/32 की टीका
4. (क) तत्त्वार्थसूत्र-टब्बाटीका, सूत्र 1/33 की टीका
   (ख) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-भाषाटीका, श्लोक 58 की टीका

5. प्रमाण :— जैनदर्शन में प्रमाण की चर्चा अत्यन्त विस्तार से प्राप्त होती है; जिसमें प्रमाण का स्वरूप, प्रमाण के भेद–प्रभेद एवं प्रमाणाभास की चर्चा मुख्य है। पं० दौलतराम की गद्य-रचनाओं में इनमें से केवल प्रमाण के भेद-प्रभेदों की ही चर्चा अधिक प्राप्त होती है। लेखक के अनुसार प्रमाण के मुख्य भेद दो हैं :— परोक्ष और प्रत्यक्ष। मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं और अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान एवं केवलज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। लेखक ने अपनी गद्य-रचनाओं में मतिज्ञानादि के सर्व भेद-प्रभेदों का भी वर्णन किया है।[1]

5.2.8. आचार :—

पं० दौलतराम की गद्य-रचनाओं में अनेक आचारपरक विषयों का भी वर्णन हुआ है और उनकी मुख्य विशेषता यह है कि वे सभी लेखक की धार्मिक दृष्टि से प्रभावित हैं। वे मात्र आचार के रूप में कम और धर्माचार के रूप में अधिक दृष्टिगोचर होते हैं। यही कारण है कि कवि ने उन्हें 'श्रावकाचार' शब्द से भी अभिहित किया है। लेखक की 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-भाषाटीका' और 'वसुनन्दि-श्रावकाचार-टब्वाटीका' तो पूर्णतः आचारविषयक ही हैं, 'तत्त्वार्थसूत्र–टब्वाटीका' के छठे-सातवें अध्याय भी आचार से ही सम्बन्धित हैं। इसके अतिरिक्त अन्य गद्य-रचनाओं में भी यत्र-तत्र आचार-प्रधान विषयों का बहुत वर्णन हुआ है। इन आचार-प्रधान विषयों की एक मुख्य विशेषता यह भी है कि इनमें से अधिकांश विषय आहार-सम्बन्धी विवेक से सम्बन्धित हैं।

पं० दौलतराम की गद्य-रचनाओं में जिन आचार-प्रधान विषयों का वर्णन हुआ है, उनमें से कतिपय प्रमुख निम्नलिखित हैं :—

1. अभक्ष्य-भक्षण :— पं० दौलतराम ने अपनी गद्य-रचनाओं में मद्य, मांस, मधु और पंच उदुम्बर फलों को सर्वथा अभक्ष्य बताकर उनके भक्षण का निषेध किया है। बड़, पीपल, पाकर, ऊमर और कठूमर के फलों को पंच उदुम्बर फल कहते हैं। लेखक के अनुसार इन अभक्ष्यों का भक्षण करने से घोर हिंसा होती है; परप्राणों का विनाश होता है और अपना चित्त भी कलुषित होता है; अतः सर्वप्रथम इन आठ वस्तुओं का यत्नपूर्वक त्याग कर देना चाहिए।[2] लेखक ने अपनी गद्य-रचनाओं में इन आठों अभक्ष्यों के भक्षण से उत्पन्न होने वाले दोषों का भी विस्तार से वर्णन किया है।[3]

2. रात्रिभोजन :— पं० दौलतराम की गद्य-रचनाओं में रात्रिभोजन का सर्वथा निषेध किया गया है। लेखक को रात्रिभोजन किसी भी रूप में और किंचित् भी स्वीकार्य नहीं है। रात्रिभोजन के विषय में लेखक के विचार अत्यन्त कट्टरतावादी प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ 'पद्मपुराण-वचनिका' की कुछ पक्तियाँ

1. तत्त्वार्थसूत्र-टब्वाटीका, अध्याय 1, सूत्र 7 एवं 10 से 31 तक की टीका।
2. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-टीका, श्लोक 61
3. वही, श्लोक 61 से 74

ध्यानपूर्वक पठनीय हैं :— "जो अविवेकी पापबुद्धि अंधकार के पटल कर आच्छादित भए हैं नेत्र जाके, रात्रि को भोजन करैं है सो मक्षिका कीट केशादिक का भक्षण करैं हैं। अथवा बहुत प्रपंचकरि कहा ? सर्वथा यह व्याख्यान है कि जो रात्रि को भोजन करैं है सो सर्व अशुचि का भोजन करै है। सूर्य के अस्त गये पीछे कछु दृष्टि न आवै। तातैं दोय मुहूर्त दिवस बाकी रहै तब तें लेकर दोय मुहूर्त दिन चढ़े तक विवेकियों को चौविधि आहार न करना। अशन पानं खाद स्वाद ये चार प्रकार के आहार तजने।[1]"

रात्रिभोजन का निषेध पं० दौलतराम की गद्य-रचनाओं में अन्यत्र[2] भी प्राप्त होता है।

3. पंच पाप-निषेध :— हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह— ये 5 प्रमुख पाप हैं। पं० दौलतराम ने अपनी गद्य-रचनाओं में इन पाँचों पापों के त्याग की प्रबल प्रेरणा दी है। लेखक के अनुसार यदि कोई व्यक्ति इनका पूरी तरह त्याग न कर सके तो उसे भी इनका स्थूल त्याग तो अवश्य करना चाहिए।[3] यथा, कोई व्यक्ति हिंसा का पूर्णतः त्याग न कर सके तो उसे स्थूल हिंसा – संकल्पी हिंसा[4] का तो त्याग करना ही चाहिए। जो व्यक्ति पूर्णतः असत्यभाषण और अदत्तादान से नहीं बच सके तो उसे स्थूल असत्यभाषण और लोकनिंद्य चोरी से तो बचना ही चाहिए। तथा इसीप्रकार जो व्यक्ति सर्वथा स्त्री-सेवन का त्याग नहीं कर सकता हो तो उसे परस्त्री-सेवन का तो त्याग करना ही चाहिए।[5]

5.2.9. भक्ति :—

भारतीय साहित्य में भक्ति का विवेचन अत्यन्त सूक्ष्मता और विस्तार के साथ प्राप्त होता है। विवेचनकर्त्ता विद्वानों में पाराशर, गर्ग, शाण्डिल्य, नारद आदि अनेक ऋषि-मुनियों के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने भक्ति के लक्षण सामान्यतः इस प्रकार बताये हैं :—

"1. पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः।

2. कथादिष्विति गर्गः।

3. आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः।

4. नारदस्तु तदर्पिताखिलाचरिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।[6]"

---

1. पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 234
2. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-टीका, श्लोक 129 से 134
3. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-भाषाटीका, श्लोक 17 की टीका।
4. "बिना किसी उद्देश्य के संकल्प प्रमाद से की जानेवाली हिंसा संकल्पी है।" — जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 4, पृष्ठ 532
5. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-भाषाटीका, श्लोक 43 से 129 तक
6. नारदीय भक्तिसूत्र, सूत्रसंख्या 16, 17, 18 व 19

तात्पर्य यह है कि पाराशर मुनि के अनुसार पूजादि में अनुराग का नाम भक्ति है, गर्ग के अनुसार परमात्मा की कथादि में अनुराग होना भक्ति है, शाण्डिल्य के अनुसार आत्मरति का ही अपरनाम भक्ति है और नारद मुनि के अनुसार परमात्मा के प्रति सम्पूर्णतः समर्पित होना एवं उनके विस्मरण में परमव्याकुलता की अनुभूति होना ही भक्ति है।

इसी प्रकार के अन्य भी अनेक विवेचन भक्ति के सम्बन्ध में उपलब्ध होते हैं। यथा, 'श्रीमद्भागवत' में नवधाभक्ति[1] का वर्णन प्राप्त होता है और अन्यत्र षड्विधा शरणागति[2] का भी वर्णन प्राप्त होता है। कहीं-कहीं दास्य भाव, सख्यभाव आदि की दृष्टि से भी भक्ति की चर्चा प्राप्त होती है।

किन्तु पं० दौलतराम की भक्ति में इन सब रूपों से पर्याप्त भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। उसमें न तो दास्य भाव की भक्ति के अनुरूप अपने आराध्य को लोकरक्षक बताया गया है और न ही सख्यभाव की भक्ति के अनुरूप अपने आराध्य को लोकरंजक बताया गया है। उसमें तो जैन-भक्ति-साहित्य की प्राचीन परंपरा के अनुरूप भगवान को लोकनिरीक्षक और पूर्ण वीतराग बताया गया है। यद्यपि इस भक्ति में भी भक्त स्वयं को भगवान के चरणों का दास बताता है, किन्तु वह अनन्त काल तक दास ही नहीं बने रहना चाहता। वह तो स्वयं भी उनके समान सर्व राग-द्वेष एवं अज्ञान का त्याग करके पूर्ण वीतरागी और सर्वज्ञ बनना चाहता है। जैन-भक्ति-परंपरा में भगवान की उपासना उनके गुणों की प्राप्ति हेतु ही की जाती है। जैसा कि लगभग 2000 वर्ष पूर्व रचित 'तत्त्वार्थसूत्र' ग्रन्थ के मंगलाचरण में कहा गया है :—

"मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वन्दे तद्गुणलब्धये।।"

पं० दौलतराम की गद्य-रचनाओं में यद्यपि एक भी रचना ऐसी नहीं है जो स्वतंत्र रूप से भक्तिविषयक हो, तथापि उन सभी में यत्र-तत्र भक्तिसम्बन्धी वर्णन बहुलता से प्राप्त होते हैं। लेखक ने अपनी प्रत्येक रचना के प्रारम्भ में मंगलाचरण किया है और उसमें अपने आराध्य के रूप में उसी वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु को भक्तिपूर्वक नमस्कार किया है, जिसे सम्पूर्ण जैन-भक्ति-साहित्य में आराध्य स्वीकार किया गया है। यथा:—

---

1. श्रवण कीर्तन विष्णों स्मरणं पादसेवनं।
   अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यं आत्मनिवेदनम्।। — श्रीमद्भागवत–7/5/ 23
2. आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
   रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा।
   आत्मनिक्षेप कार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।।

"पंच परमपद पद प्रणमि, प्रणमि जिनेश्वर बनि।

नमि जिनप्रतिमा जिनभवन, जिनमारग उर आनि।।"

इसी प्रकार 'हरिवंशपुराण-वचनिका' के प्रारंभ में भी उन्होंने जिनशासन, उसके कर्ता 24 तीर्थंकर, पंचपरमेष्ठी ओर सभी पूर्वाचार्यों को नमस्कार किया है, जिससे उनके आराध्यसम्बन्धी विचारों पर विशद प्रकाश पड़ता है।

जैन-भक्ति-साहित्य में आराध्य देव के रूप में अरिहंत और सिद्ध को ही स्वीकार किया गया है, अतः पं० दौलतराम ने अपनी गद्य-रचनाओं में इन दोनों को ही अपने आराध्यदेव के रूप में अंगीकार किया है और इन दोनों के स्वरूप का विशद वर्णन किया है। उदाहरणार्थ सिद्ध के स्वरूप का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं कि —

"सिद्ध सर्व लोक के शिखर तिष्ठै हैं। सर्व बाधा रहित, अष्टकर्म रहित, अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्य करि संयुक्त, शरीर तैं रहित अमूर्तिक पुरुषाकार जन्म-मरण तैं रहित अविचल विराजै हैं। जिनका संसार विषैं आगमन नाहीं। मन इन्द्रीन तैं अगोचर हैं।[2]"

पं० दौलतराम के अनुसार भगवान अनुपम गुणों को धारण करते हैं तथा सर्वकर्मों एवं रागादि से रहित होते हैं। यथा– "वे जिनवर अनुपम गुण को धरैं हैं अर अनुपम है काया जिनकी अर हते हैं संसारमई सकल कुकर्म जिनने अर रागादिक रूप जे मल तिनकर रहित महा निर्मल हैं, अर ज्ञानावरणादिक रूप जो पट तिनके दूर करनहारे, पार करवे कूँ अति प्रवीण हैं अर अत्यन्त पवित्र हैं।[3]"

पं० दौलतराम का स्पष्ट मत है कि भगवान अस्त्र, शस्त्र, वस्त्र, आभूषण, स्त्री एवं राग-द्वेष आदि से पूर्णतः रहित होते हैं। वे लिखते हैं कि– "जे आयुध का ग्रहण करैं हैं ते द्वेष संयुक्त जानने। जिनके राग-द्वेष है तिनके मोह भी है अर जे कामिनी के संगतैं आभूषणों को धारण करैं हैं ते रागी जानने। अर मोह बिना राग-द्वेष होय नाहीं। सकल दोषों का कारण मोह है। जिनके रागादि कलंक हैं ते संसारी जीव हैं। जिनके ये नाहीं ते भगवान हैं। जे देशकाल कामादि के सेवनहारे हैं ते मनुष्य तुल्य हैं तिनमें देवत्व नाहीं। तिनकी सेवा शिवपुर का कारण नाहीं।[4]"

यहाँ स्थूल दृष्टि से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक कट्टरतावादी विचारों का है, वह मात्र जैनधर्म के आराध्य देवों का ही पक्ष ग्रहण कर रहा है, अन्य धर्म के आराध्य देवी-देवताओं को देव

1. पद्मपुराण-वचनिका, मंगलाचरण, छन्द 2
2. वही, पृष्ठ 221
3. वही, पृष्ठ 372
4. वही, पृष्ठ 220

ही नहीं स्वीकार कर रहा है; किन्तु यह प्रतीति निरर्थक है, क्योंकि परस्पर विरोधी अवधारणाओं को एक साथ स्वीकार करने का नाम उदारता नहीं, अज्ञानता है। यही कारण है कि पं० दौलतराम की आस्था पूर्णतः वीतराग देव में ही है, क्योंकि वे ही जीवमात्र के हितकारी जिनशासन का प्रकट प्रतिपादन करते हैं, अन्य कोई नहीं। यथा :—

"जो मीमांसक, सांख्य, नैयायिक, वैशेषिक, बौद्धादिक मत है तिनके कर्ता जैमिनी, कपिल, काणभिक्ष, अक्षपाद, कणाद बुद्ध हैं वे मुक्ति के कारण नाहीं। जटा मृगछाला वस्त्र अस्त्र शस्त्र स्त्री रुद्राक्ष कपालमाला के धारक हैं और जीवों के दहन घातन छेदन विषै प्रवृत्त हैं। विरुद्ध अर्थ कथन करनेवाले हैं। मीमांसी तो धर्म का अहिंसा लक्षण बताय हिंसा विषै प्रवृत्ते हैं और सांख्य जो हैं सो आत्मा को अकर्ता और निर्गुण भोक्ता मानै है और प्रकृति ही को कर्ता माने हैं। और नैयायिक वैशेषिक आत्मा को ज्ञान रहित जड़ माने हैं और जगतकर्ता ईश्वर मानै है और बौद्ध क्षणभंगुर मानै है। शून्यवादी शून्य मानै हैं और वेदान्तवादी एक ही आत्मा त्रैलोक्यव्यापी नर नारक देव तिर्यच मोक्ष सुख दुःखादि अवस्था विषै मानै हैं। तातैं ये सर्व ही मुक्ति के कारण नाहीं। मोक्ष का कारण एक जिनशासन ही है जो सर्व जीव मात्र का मित्र है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का प्रकट करने वाला है। ऐसे जिनशासन को श्री वीतराग देव प्रकट कर दिखावै हैं।[1]"

पं० दौलतराम ने अपनी गद्य-रचनाओं में इस विषय को भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया है कि यद्यपि भगवान वीतराग हैं, तथापि उनकी भक्ति से लाभ और निन्दा से हानि अवश्य होती है। इस सम्बन्ध में वे लिखते हैं कि—

"यद्यपि श्री वीतराग देव राग-द्वेष रहित हैं। जे सेवा करैं तिनतैं प्रसन्न नाहीं अर जे निन्दा करै तिनतैं द्वेष नांही, महामध्यम भाव को धारै हैं। परन्तु जे जीव सेवा करैं ते स्वर्ग-मोक्ष पावै हैं। जे निन्दा करैं ते नरक-निगोद पावैं। काहे तैं ? जीवों के शुभ-अशुभ परिणामनि तैं सुख-दुःख की उत्पत्ति होय है। जैसैं अग्नि के सेवन तैं शीत का निवारण होय है अर खान-पान तैं क्षुधा-तृषा की पीड़ा मिटै हैं तैसे जिनराज के अर्चन तैं स्वयमेव ही सुख होय है अर अविनय तैं परमदुख होय है।[2]"

पं० दौलतराम की गद्य-रचनाओं में भक्ति की महिमा व फल के विषय में भी कुछ वर्णन प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ निम्न पंक्तियाँ पठितव्य हैं—

1. "हे श्रेणिक! जे महा विभवकर युक्त भगवान के भक्त महाविभूतिवंत अति महिमाकर प्रभु का पूजन करै हैं, तिनि के पुण्य के समूह का व्याख्यान कौन कर सकै? वे उत्तम पुरुष देवगति के सुख भोगैं बहुरि चक्रवर्तियों के भोग पावैं, बहुरि राज्य तज जैनमत के व्रत धार महातप कर परम मुक्ति पावैं।[3]"

1. पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 4–5 2. वही, पृष्ठ 273 3. वही, पृष्ठ 637

2. "हे रावण ! जिनेन्द्र की वंदना के तुल्य और कल्याण नाहीं। यह जिनभक्ति आराधी हुई मुक्ति के सुख देवै हैं। तातैं या तुल्य और कोई पदार्थ न हुआ, न होयगा।[1]"

5.2.10. नीति :—

पं० दौलतराम की गद्य-रचनाओं में यत्र-तत्र नीतिसम्बन्धी विषयों का भी बहुशः प्रतिपादन हुआ है जिनमें जीवन के विविध पक्षों को स्पर्श किया गया है। ऐसे विषयों में मुख्यतया सदाचार, परोपकार, साधु-स्वभाव, दुर्जन-प्रकृति, संगति, याचनावृत्ति-निषेध, पराधीनता-निन्दा, कृतज्ञता, मित्रता आदि विषय उल्लेखनीय हैं। लेखक का विषय-प्रतिपादन प्रायः परम्परित ही है, परन्तु कहीं-कहीं नवीनता भी दृष्टिगोचर होती है। नीतिगत विषयों की प्रस्तुति में लेखक की सबलता सर्वत्र ध्यान देने योग्य है। अनेक स्थलों पर लेखक ने अपने नीतिगत विषयों को सूक्तियों या सुभाषितों के द्वारा भी अद्‌भुत दृढ़ता प्रदान की है। लेखक के सर्व नीतिगत विषयों का सोदाहरण उल्लेख स्थानाभाव के कारण संभव नहीं है, किन्तु उदाहरणार्थ कतिपय विषयों का संकेत मात्र यहाँ प्रस्तुत है।

1. **संगति** :— "धिक्कार है नीच की संगति कूं, जिसका क्रूर वचन सुनिये सो मन में विकार का कारण है, अतः महापुरुषनि करि त्याज्य है। महाविषम वन में वृक्षनि के नीचे वास भला, न नीचनि के साथ। अर आहारादि विना प्राण जावें तो भले, परन्तु दुर्जन के घर क्षण एक रहना योग्य नहीं।[2]"

2. **अपकारी का भी उपकार करो** :— "शास्त्र की आज्ञा कर तो यह है जो किसी से द्वेष न करना। जो आपसे वैर करे उससे मित्रता करनी। यह तो धर्म रीति है।[3]"

पं० दौलतराम का यह कथन संत कबीर की इस साखी से तुलनीय है :—

"जो तोकों काँटा बुवै, ताको बो तू फूल।
तोहि फूल के फूल हैं, वाको हैं तिरसूल।।[4]"

3. **कृतज्ञता-कृतघ्नता** :— "एक अक्षर अथवा आधा पद ..... का देनेवाला जो उपकारी उसे भूले सो पापी अर धर्म उपदेश देनेवाले को भूले सो महापापी। उस समान अर निन्द्य कौन ? ..... जो पराये गुण को भूल जाए अथवा गुण पर अवगुण करे उस समान अर दुराचारी नहीं। कृतघ्न समान अर निन्द्य नहीं। उससे यह ही योग्य है जो आप पर अल्प भी गुण करे उसकी सज्जन जन्मपर्यन्त सेवा करें। उसका

---

1. पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 161
2. वही, पृष्ठ 446
3. हरिवंशपुराण-वचनिका, पृष्ठ 364
4. कबीर समग्र, पृष्ठ 396

गुण कभी न भूले सो कृतज्ञ कहिए। अर जो कुछ करने शक्य न होय तो सदा गुण ही माना करे अर उससे अति उज्ज्वल भाव राखे, अर उससे गर्व न करे। ये कुलवन्त पुरुषों के धर्म हैं।[1]"

4. **यथा राजा तथा प्रजा** :— "जो ..... राजा भी ऐसे निन्दकर्म करें तो प्रजा को कौन निवारे ?[2]"

5. युद्धनीति :— "जिस कायर ने अपनी पीठ दिखाई सो मृतक ही है। ताका पीछा क्या करना ?[3]"

6. **गर्व-निषेध** :— "मनुष्य होय जे माया का गर्व करै हैं ते मूर्ख हैं।[4]"

7. **छोटों का भी अनादर न करो** :— "दूसरा स्वल्प है और हम बड़े हैं — यह विचार बुद्धिमान का नाहीं। समय पाय एक अग्नि का किणका सकल मंडल को दहै।[5]"

8. **परधन व परस्त्री के लोभ की निन्दा** :— "चोरी दुःख का मूल है तातैं बुद्धिमान सर्वथा पराया धन न हरै हैं। सो जाकरि दोनों लोक बिगड़े ताहि कैसैं करैं ? अर सर्पिणी समान परनारी को जानिकरि दूर ही तैं तजो। यह पापिनी परनारी काम-लोभ के वशीभूत पुरुष की नाश करनहारी है। सर्पिणी तो एक भव ही प्राण हरै है अर परनारी अनन्त भव प्राण हरै हैं।[6]"

9. **कुमित्र से बचने की शिक्षा** :— "मंत्र, दोष, अपमान, दान—पुण्य, वित्त, शूरवीरता, कुशील, मन का दाह, यह सब कुमित्र कूं न कहिए। जो कहैं खता पावैं।[7]"

10. **आत्महत्या महापाप है** :— "जे अपने शरीर का अविधि से निपाता करैं हैं ते शूद्र मरकरि नरक विषै जाय पड़े हैं। अनेक भव अल्प आयु के धारक होय हैं। यह आत्मघात निगोद का कारण है।[8]"

5.2.11. **अध्यात्म** :—

पं० दौलतराम की गद्य-रचनाओं में अनेक स्थलों पर आध्यात्मिक विषयों का प्रतिपादन हुआ है। विशेषतया 'परमात्मप्रकाश-भाषा' और 'समयसार—टव्वाटीका' तो उनकी ऐसी गद्य-रचनाएँ हैं जो पूर्णतः

---

1. हरिवंशपुराण-वचनिका, पृष्ठ 327, 328
2. वही, पृष्ठ 500
3. पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 98
4. वही, पृष्ठ 208
5. वही, पृष्ठ 534
6. वही, पृष्ठ 227
7. वही, पृष्ठ 535
8. वही, पृष्ठ 192

अध्यात्म-प्रतिपादन के लिए समर्पित हैं, उनका मूल प्रतिपाद्य जैन–अध्यात्म ही है। उक्त दोनों रचनाओं के अतिरिक्त अन्य गद्य-रचनाओं में भी यत्र-तत्र अनेक स्थलों पर अध्यात्म-वर्णन दृष्टिगोचर होता है।

पं० दौलतराम के आध्यात्मिक विचार पूर्णतः जैन-मान्यता के अनुकूल हैं। इन विचारों में आत्मा का स्वरूप, आत्मा की शरीरादि परपदार्थों से भिन्नता, आत्मा की अनुभूति आदि विषय उल्लेखनीय हैं।

आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लेखक ने उसके अनुभव की मर्मस्पर्शी प्रेरणा अपनी 'पद्मपुराण-वचनिका' में इस प्रकार दी है :—

"हो भव्यजीव हो ! आत्मतत्त्व जो अपना स्वरूप सो सम्यग्दर्शन ज्ञान आनन्दरूप, अर अमूर्तीक, चिद्रूप, लोकप्रमाण, असंख्यप्रदेशी, अतीन्द्रिय, अखंड, अव्याबाध, निर्मल, निरंजन, परवस्तु से रहित निजगुण-पर्याय स्वद्रव्य स्वक्षेत्र स्वकाल स्वभाव कर अस्तित्वरूप है, जिसका ज्ञान निकट भव्यकूं होय। शरीरादिक परवस्तु असार हैं, आत्मतत्त्व सार है सो अध्यात्मविद्याकरि पाइये है। वह सबका देखनहारा-जाननहारा अनुभवदृष्टि कर देखिये, आत्मज्ञानकरि जानिये। अर जड़ पदार्थ पुद्गल धर्म अधर्म काल आकाश ज्ञेयरूप हैं, ज्ञाता नाहीं।[1]"

इसी प्रकार 'परमात्मप्रकाश–वचनिका', दूहा 31 में भी शुद्धात्मा का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि आत्मा मन-रहित है, अतीन्द्रिय है, ज्ञानमय है, अमूर्तिक है, चिन्मात्र है और इन्द्रियगोचर नहीं है।

पं० दौलतराम ने अपनी गद्य–रचनाओं में आत्मा को अवस्था की अपेक्षा तीन प्रकार का स्वीकार किया है :– बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा जो शरीरादि परपदार्थों को अपना मानता है वह मूढ़ जीव बहिरात्मा कहलाता है। जो अपने आत्मा को शरीर से भिन्न एवं ज्ञानमय जानता है वह अन्तरात्मा है तथा जो समस्त परद्रव्यों को छोड़कर नित्यनिरंजन ज्ञानमय परमानन्द स्वभावी बन गया है उसे परमात्मा कहते हैं। यह परमात्मा अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य से युक्त होता है।[2]

पं० दौलतराम के अनुसार सभी आत्माएँ शक्तिरूप में परमात्मा के समान हैं, अतः उक्त तीन प्रकार के आत्माओं में से एक परमात्मा ही उपादेय है।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी-गद्य की परम्परा आदिकाल से ही प्रारम्भ हो जाती है जो मध्यकाल में आकर दक्खिनी, राजस्थानी, ब्रज आदि के विविध गद्य-रूपों में विकास को प्राप्त होती हैं। पं० दौलतराम कासलीवाल की गद्य-रचनाएँ इसी परम्परा की प्रौढ रचनाएँ हैं जो एक ओर परिमाण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं, वहीं दूसरी ओर स्वरूप व वर्ण्य की दृष्टि से भी अत्यन्त सबल है। उनमें वस्तुवर्णन, प्रकृति-चित्रण, सौन्दर्य-चित्रण, भाव-निरूपण के साथ-साथ धर्म, दर्शन, भक्ति, नीति, आचार, अध्यात्म आदि विविध विषयों का प्रतिपादन भी हुआ है। □□□

1. पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 826
2. परमात्मप्रकाश-वचनिका, दूहा 11 से 25
3. वही, दूहा 26

षष्ठ अध्याय

भाषा और छन्द

क्रम.	पृष्ठ-संख्या
6.1 भाषा : स्वरूप और प्रयोग	**265**
6.1.1. भाषा-स्वरूप	265
6.1.1.1. काव्य-भाषा	265
6.1.1.2. गद्य-भाषा	270
6.1.2. शैली	272
6.1.2.1. काव्य-शैली	272
6.1.2.2. गद्य-शैली	279
6.1.3. भाषा-सामर्थ्य	283
6.1.3.1. शब्द-शक्ति	283
6.1.3.1.1. अभिधा शक्ति	283
6.1.3.1.2. लक्षणा शक्ति	284
6.1.3.1.3. व्यंजना शक्ति	285
6.1.3.2. प्रतीक-विधान	286
6.1.3.3. लोकोक्ति-मुहावरे	287
6.1.3.3.1. लोकोक्तियाँ	287
6.1.3.3.2. मुहावरे	289
6.1.3.4. अलंकार-योजना	292
6.1.3.4.1. शब्दालंकार (अनुप्रास, लाटानुप्रास, यमक, श्लेष, वीप्सा, पुनरुक्तवदाभास, चित्रालंकार)	293
6.1.3.4.2. अर्थालंकार	294
6.1.3.4.2.1. साधर्म्यमूलक	294
6.1.3.4.2.2. विरोधमूलक	296
6.1.3.4.2.3. शृंखलाबन्ध	296
6.1.3.4.2.4. न्यायमूलक	297
6.1.3.4.2.5. गूढ़ार्थमूलक	298
6.2. छन्द	**298**
6.2.1. वार्णिक छन्द	299
6.2.2. मात्रिक छन्द	300
6.2.2.1. सम मात्रिक	301
6.2.2.2. अर्धसम मात्रिक	301
6.2.2.3. विषम मात्रिक	302

षष्ठ अध्याय

भाषा और छन्द

6.0. विगत अध्यायों में पं० दौलतराम कासलीवाल के सम्पूर्ण कृतित्व का चरितकाव्य, विचारकाव्य एवं गद्य-विधाओं के विभाजन पूर्वक भावगत अध्ययन किया जा चुका है; किन्तु उसका शिल्पगत अध्ययन अभी शेष है, जिसे भाषा और छन्द– इन दो प्रमुख बिन्दुओं के आधार पर भलीभाँति पूर्ण किया जा सकता है। प्रस्तुत अध्याय इसी से सम्बन्धित है।

6.1. भाषा : स्वरूप और प्रयोग :–

पं. दौलतराम कासलीवाल के साहित्य की भाषा का अध्ययन दो रूपों में करणीय है। एक तो, उसका स्वरूप क्या है और दूसरा, उसका प्रयोग कैसा है। प्रयोग के स्तर पर भी दो बातों का विशेष अध्ययन होना चाहिए। एक तो, उसकी शैली कैसी है और दूसरे, भावाभिव्यक्ति में उसकी सामर्थ्य कितनी है। भाषा की सामर्थ्य को शब्द-शक्ति, प्रतीक, लोकोक्ति–मुहावरे एवं अलंकारों के प्रयोग से भली प्रकार समझा जा सकता है। अतः यहाँ ये सभी विषय अध्येतव्य हैं।

6.1.1. भाषा-स्वरूपः–

हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रंथों में पं० दौलतराम कासलीवाल को खड़ी बोली का लेखक बताया गया है और अद्यावधि विद्वानों द्वारा भी प्रायः ऐसा ही माना जाता रहा है; किन्तु यह एकदेश सत्य है, पूर्ण सत्य नहीं। पं० दौलतराम के गद्य-साहित्य को देखते हुए यह कथन कथंचित् सत्य है, किन्तु पं० दौलतराम अकेले गद्य लेखक ही नहीं, उत्कृष्ट कवि भी हैं और उक्त कथन उनकी काव्य-भाषा के सन्दर्भ में सत्य नहीं है। अतः उनकी भाषा का अध्ययन काव्य और गद्य– दोनों की दृष्टि से पृथक्-पृथक् करणीय है।

6.1.1.1. काव्य-भाषाः–

यदि हिन्दी-काव्य की परम्परा पर दृष्टिपात करें तो ज्ञात होता है कि आदिकाल में हिन्दी–काव्य की भाषा अपभ्रंश–प्रभावित हिन्दी थी, जिसे डिंगल, पिंगल या अन्य नामों से जाना जाता था। पूर्वमध्यकाल में उसके प्रादेशिक रूप प्रकट हो गये और ब्रज एवं अवधी – ये दो भाषाएँ हिन्दी-काव्य की प्रधान भाषाएँ बन गईं। सूर, तुलसी, जायसी जैसे महाकवियों ने इन्हीं भाषाओं को अपनी काव्यभाषा के रूप में अपनाया। इसी पूर्वमध्यकाल में कबीर आदि निर्गुण सन्तों ने किसी भी एक भाषा के बन्धन में बँधे बिना एक ऐसी सरल–सुबोध भाषा को अपने काव्य की भाषा बनाया, जिसे समालोचकों ने 'सधुक्कड़ी' या 'खिचड़ी' नाम

दिया है। उत्तरमध्यकाल आते–आते काव्य–भाषा का सिंहासन पूरी तरह ब्रजभाषा के अधिकार में आ गया। केशव, देव, बिहारी आदि इस काल के प्रायः समस्त कवियों ने शुद्ध परिमार्जित ब्रजभाषा को ही अपनी काव्याभिव्यक्ति का मुख्य साधन बनाया। पं० दौलतराम कासलीवाल का समय उत्तरमध्यकाल में ही आता है और उनके काव्य की भाषा भी निश्चित रूप से ब्रजभाषा ही है, जैसा कि प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में यत्र-तत्र उद्धृत उनकी कविता के अंशों से स्पष्ट परिलक्षित होता है; किन्तु वह केशव, देव, बिहारी आदि अनेक रीतिकालीन कवियों जैसी नितान्त शुद्ध और संस्कृतनिष्ठ क्लिष्ट ब्रजभाषा नहीं है, अपितु राजस्थानी से प्रभावित सरल-सुबोध ब्रजभाषा है। उसमें राजस्थानी का अत्यधिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है और पाठक की दृष्टि से वह अत्यन्त सरल-सुबोध भी है।

पं० दौलतराम की काव्यभाषा में राजस्थानी-प्रभाव के अनेक कारण हो सकते हैं, जिनमें मुख्य कारण ये हैं:–

1. राजस्थानी भाषा के मुख्य केन्द्र उदयपुर और जयपुर कवि की साहित्य-साधना के प्रमुख स्थल रहे हैं। उसने अपनी अधिकांश साहित्य–साधना राजस्थान के इन्हीं दो मुख्य नगरों में रहकर की है।

2. कवि स्वयं तो मूलतः राजस्थानी था ही, उसके दैनिक शास्त्र-सभा के श्रोता भी राजस्थानी भाषा को बोलने-समझने वाले थे।

यही कारण है कि पं० दौलतराम की काव्य-भाषा में ठेठ राजस्थानी शब्दों का भी भरपूर प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ कतिपय शब्द द्रष्टव्य हैं[1]:–

खोसै (छीनता है), आली (भीगी), लूण (नमक), चून (आटो), सीरा (हलुआ), तरकारी (सब्जी), ल्यूँजी (अचार), बोदी (कमजोर या नीची), पनही (जूती), भौंदू (मूर्ख), बलद (बैल), भींटै (स्पर्श करता है), ओछा (छोटा), कुंण (कौन), जाडो (मोटा), लेज (रस्सी), ताव (बुखार), टल्ला (धक्का), लहसी (प्राप्त करेगा), पासी (प्राप्त करेगा), जासी (जाएगा), होसी (होएगा), पौरी (आँगन), ल्हौरे (छोटे), वोहरा (सेठ, व्यापारी), बोदा (कमजोर), लुगाई (स्त्री), कूंणां (कोना), टपका (बूँद या गिरना), आदि।

राजस्थानी-प्रभाव के बावजूद पं० दौलतराम की काव्यभाषा स्वरूपतः ब्रजभाषा ही है। उसमें अधिकांश सर्वनामों और क्रियापदों का प्रयोग तो ब्रजभाषा के अनुरूप हुआ ही है, शब्द-भण्डार भी ब्रजभाषा के ही अनुरूप तद्भव कोटि का है। इस प्रकार के तद्भव शब्दों में ध्वनिविकृत रूपों का प्राचुर्य है। उदाहरणार्थ उनके काव्य में प्रयुक्त कतिपय तद्भव शब्द द्रष्टव्य हैं :–

---

1. शब्दों के आगे कोष्ठक में उनका अर्थ दिया जा रहा है।

त्रिशना, त्रिग, परधान, निरविकल्प, परवीन, परमेसुर, विसन, सूक्षम, परजाय, रितु, पिरथी, दरब, विनै, हरख, वारता, उछाह, मरजादा, समै, जस, प्रोहित, सूरिज, जमपास, आतम, परमातम, अध्यातम, रतन, लछमी, आदि।

ये तद्भव शब्द सबसे अधिक चरितकाव्यों में पाये जाते हैं और सबसे कम 'अध्यात्मबारहखड़ी' में।

ऊपर कहा जा चुका है कि महाकवि पं० दौलतराम की काव्यभाषा क्लिष्ट नहीं, है, सरल सुबोध है, क्योंकि उन्होंने अपनी कृतियों की रचना साधारण जन या मंदबुद्धि लोगों के लिए की है। कवि की मान्यता है कि संस्कृत आदि क्लिष्ट भाषाओं के ग्रन्थों को इस काल में विरले पंडितजन ही समझ सकते हैं, साधारण अल्पबुद्धि नहीं; अतः यदि सरल 'देशभाषा' में ग्रंथरचना हो तो उसे निःसन्देह बहुत लोग सहजता से समझ सकते हैं। कवि की यह भावना उसकी प्रायः सभी काव्यकृतियों की अंतिम प्रशस्ति में व्यक्त हुई है। उदाहरणार्थ 'जीवन्धरस्वामिचरित' की अंतिम प्रशस्ति का यह छठा छन्द द्रष्टव्य है:—

"देव भाष गंभीर, संसकृत विरला जांनैं।
पंडित करैं बखांन, अल्पमति नांहि बखांनैं।।
जो है ग्रन्थ अनूप, देस भाषा कै मांही।
वांचै बहुत ही लोक, या महै संसै नांही।।"

महाकवि पं० दौलतराम ने स्वयं अपनी भाषा को सर्वबोधगम्य या सरल होने के कारण ही 'भाषा' या 'देशभाषा' नाम दिया है।[1]

महाकवि ने अपनी भाषा को स्वाभाविक बनाने के लिए लोकप्रचलित उर्दू शब्दों का भी प्रयोग किया है। यथा:— हाकिम, सिताव, तल्लुक, माहिर, तहकीक, हकीक, गरीबनवाज, पेशकार, मुरब्बा, करार, मरम्मत, अजब, खलास, खौफ, साहिब, दिल, नेक, बद, हाल, हुनर, मेहरबानी।

महाकवि पं० दौलतराम के काव्य का मूल स्रोत प्राचीन संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश-साहित्य है, अतः उसमें अनेक शब्द प्राकृत-अपभ्रंश भाषाओं के भी दृष्टिगोचर होते हैं। यथा:—

---

1. (क) जीवन्धरस्वामिचरित, अंतिम प्रशस्ति, छन्द 6
   (ख) क्रियाकोश, छन्द 1 व 40
   (ग) श्रीपालचरित, छन्द 755
   (घ) वसुनंदि-श्रावकाचार-टब्बाटीका, अंतिम प्रशस्ति, छन्द 27

पुत्ती, पडिमा, कियउ, लहिउ, वानरु, नाह, जुत्तो, राजपुत्तो, झाण, णाण, णिच्च, णमो, धम्म, णियभाव, णादा, सयलु, खंध, खग्ग आदि। कहीं-कहीं तो प्राकृत शब्दों का इतना अधिक प्रयोग हुआ है कि कविता प्राकृत भाषा की ही प्रतीत होने लगी है। यथाः–

"तु ही णाण राया तु ही णाण काया।
तु ही णाण दाया तु ही णाण भाया।
तु ही णाण णादा सवै कम्मघादा।
तु ही णाण भासी अणादीस आदा।।"[1]

शब्द-प्रयोग के क्षेत्र में महाकवि ने एकरूपता का दृढ़ आग्रह नहीं रखा है। अनेक शब्द ऐसे हैं, जो उसकी काव्य-भाषा में तत्सम रूप में भी प्रयुक्त हुये हैं तो तद्भव रूप में भी। यथाः– सप्त/सात, शुद्धात्म/शुद्धातम, जन्म/जनम, मोक्षमार्गी/मोखमारगी, वीर्य/वीरज, अध्यात्म/अध्यातम, इत्यादि।

शब्दभण्डार की दृष्टि से कवि की 'अध्यात्मबारहखड़ी' उसकी अन्य काव्य-रचनाओं से पर्याप्त भिन्न दृष्टिगोचर होती है। अन्य रचनाओं में तत्सम शब्द कम हैं और तद्भवादि अधिक; किन्तु 'अध्यात्मबारहखड़ी' में तत्सम शब्दों का प्रयोग अत्यधिक हुआ है। यही कारण है कि कवि की अन्य काव्य-रचनाओं की अपेक्षा 'अध्यात्मबारहखड़ी' की भाषा अधिक शुद्ध, साहित्यिक और संस्कृतनिष्ठ प्रतीत होती है। कहीं–कहीं तो क्लिष्ट भी।यथाः–

"ऋषिकर ऋषिधर गुरतर शिवपुरि लेहु
ऋषितर ऋषितम तमहर निजरह देहु।।
ऋषिपर ऋषिपुर नाथाकर्ममिटाय।
ऋषिथिर ऋषिचर संता भर्म छुड़ाय।।"[2]

यों तो कवि की अन्य काव्य-रचनाओं में भी तत्सम शब्दों का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में हुआ है, किन्तु प्रायः वे सभी शब्द परम्परित हैं। कवि का काव्य जिस संस्कृत-प्राकृत भाषा के प्राचीन जैन-साहित्य की परम्परा में आता है, उसमें ये हजारों वर्षों से बहुप्रयुक्त होते चले आ रहे हैं, अतः पाठक को कठिनाई का आभास नहीं कराते। ऐसे शब्दों में जैनदर्शन के मुख्य पारिभाषिक शब्द अथवा स्थान और पात्रों के नाम हैं। उदाहरणार्थ 'अध्यात्मबारहखड़ी' में प्रयुक्त कतिपय तत्सम शब्द द्रष्टव्य हैंः–

---

1. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द – ण/13
2. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द – ऋ/42

अलीक, अर्क, न्यासापहार, अद्य, भेक, कोक, मद्य, मधु, यष्टि, एतत्, यावत्, तावत्, ये (जो), ते (वे), पिपासा, सर्वज्ञ, श्रुत, श्रुति, अगम्यगमक, अभक्ष्यभक्षक, संसारार्णव, रंध्र, ऋते, अक्ष, ऐक्य, अम्बुधि, अग्राह्य, अलभ्य, क्वापि, इत्यादि।

'अध्यात्मबारहखड़ी' में संस्कृत के मूल शब्दों का ही नहीं, अपितु उसके सुबंत-तिङन्त रूपों का भी अनेक स्थलों पर प्रयोग हुआ है। यथाः–

1. **शृणु** देवाधिदेव **मम** विनती। (पत्र-संख्या 12)
2. **त्वया** प्रीणिता भव्य जु लोका। (पत्र-संख्या 278)
3. **अणोर**णीया अंवरमहिता। (पत्र-संख्या 17)
4. **खै**रलभ्य तू केवलराम। (पत्र-संख्या 149)
5. तु ही **जैनधर्मस्य** मूला गुसांई। तु ही **जैनधर्मस्य** भूपा सुसांई।। (पत्र-संख्या 192)

इसी के प्रमाणस्वरूप निम्नलिखित पंक्तियाँ भी विशेषतया द्रष्टव्य हैं :–

*"**यदा** जु कहिए जा समै, तोहि जु ध्यावै नाथ।*
__तदा__ जु कहिए ता समै, जीव लहै शिव साथ।।
__यत्__कहिए जातैं प्रभु, तोहि भजैं मुनिराज।
__तत्__ कहिए तातैं तिके, हौंहि सु शिवसुख भाज।।
__यस्य__ कहैं जाकै उरैं, तू निवसै जगनाथ।
__तस्य__ कहैं ताकै नखै, नांहि टिकैं जड़ साथ।।
__यस्मिन्__ कहिए जा विषै, तेरी भक्ति जु नांहि।
__तस्मिन्__ कहिए ता विषै, गुणगण नांहि रहांहि।। [1]"

इतना ही नहीं, 'अध्यात्मबारहखड़ी' में तो कवि ने अनेक छन्द पूरे के पूरे ही संस्कृत भाषा में रचे हैं, जिनकी कुल संख्या लगभग 130 हैं। दो श्लोक यहाँ प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत हैंः–

"रजोहरं रमानाथं राजराजेन्द्रसेवितं।
रिक्ततारहितं पूर्णं धर्मरीतिप्रकाशनं।।
श्रीधरं श्रीप्रपूर्णांगं वंदनीयं नरामरैः।
रोधकं पापमार्गस्य सर्वरोगविवर्जितम्।। [2]"

---

1. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द – य/1 से 4
2. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द – र/1 व 3

इसके अतिरिक्त प्रत्येक परिच्छेद की पुष्पिका भी संस्कृत भाषा में ही लिखी गई है। यथाः– "इति श्रीभक्त्यक्षरमालिकाबावनी-स्तवन-अध्यात्मबारहखड़ी नामधेय-उपासनातंत्रे जिनसहस्रनाम-एकाक्षरी–नांममालादि–अनेक–ग्रंथानुसारेण भगवद्भजनानंदाधिकारे आनंदरामसुतदौलतरामेन अल्पबुद्धिना उपायनीकृते प्रथमस्तुति प्रारंभद्वारेण प्रणवमहिमापूर्वक श्रकारमिश्राक्षरप्ररूपको नाम प्रथमपरिच्छेदः।"

पं० दौलतराम की काव्यभाषा में अनेक अनुकरणात्मक शब्दों का भी प्रयोग हुआ है, जिनमें सींसाटी आदि कतिपय शब्द ध्वन्यात्मक अनुकरण से सम्बन्धित हैं और जिगजिगाट, झलमलाहट आदि दृश्यात्मक अनुकरण से सम्बन्धित हैं।

तात्पर्य यह है कि पं० दौलतराम की काव्यभाषा राजस्थानी-प्रभावित ब्रजभाषा है, जो प्रायः सर्वत्र सरल-सुबोध और व्यावहारिक है।

6.1.1.2. गद्य-भाषा :–

गत अध्याय में अध्ययन किया जा चुका है कि हिन्दी-गद्य की परम्परा यद्यपि बहुत समृद्ध रही है, किन्तु प्रायः वह सब राजस्थानी और ब्रजभाषा गद्य ही है, खड़ी बोली गद्य नहीं। पं० दौलतराम का गद्य भी यद्यपि राजस्थानी और ब्रजभाषा का गद्य ही है, किन्तु उसमें खड़ी बोली के प्रयोग इतने अधिक हैं कि समालोचकों ने उन्हें खड़ी बोली गद्य का आदि-लेखक स्वीकार किया है। खड़ी बोली गद्य के इतिहास में पं० दौलतराम का नाम सबसे ऊपर है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि अनेक मूर्धन्य समीक्षकों ने खड़ी बोली गद्य के विकास में पं. दौलतराम का महत्त्वपूर्ण योगदान स्वीकार किया है। प्रमाणस्वरूप निम्नलिखित सन्दर्भ प्रमुखतया द्रष्टव्य हैं:–

1. हिन्दी-साहित्य का इतिहास (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल), पृष्ठ 411
2. हिन्दी-साहित्य-कोश (संम्पादक् धीरेन्द्र वर्मा), भाग 2, पृष्ठ 268
3. महाकवि दौलतराम कासलीवाल : व्यक्तित्व एवं कृतित्व (डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल), पृष्ठ 72
4. हिन्दी-साहित्य का आदर्श इतिहास (डॉ० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'), पृष्ठ 92

यद्यपि पं० दौलतराम ने स्वयं अपनी भाषा का स्पष्ट नाम नहीं बताया है, तथापि उन्होंने अनेक स्थलों पर अपनी गद्य-भाषा को 'भाषा' या 'देश-भाषा' कहा है[1], जिससे उनका अभिप्राय वही मिश्रित भाषा प्रतीत होता है जो उस काल में जयपुर और उसके समीपवर्ती क्षेत्र में प्रयुक्त हो रही थी। आचार्यकल्प पं० टोडरमल आदि अनेक लेखक भी उसी भाषा में विपुल साहित्य-रचना कर रहे थे और वे भी अपनी भाषा को 'देशभाषा' ही कहते थे।[2]

1. (क) पुण्यास्रवकथाकोश–भाषा, अन्तिम ग्रन्थ प्रशस्ति, छन्द 3
   (ख) पद्मपुराण–वचनिका, अन्तिम ग्रन्थ प्रशस्ति, छन्द 7 व 12
   (ग) हरिवंशपुराण–वचनिका, अन्तिम ग्रन्थ प्रशस्ति, छन्द 12
2. पं० टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व, पृष्ठ 265, 266, 267

तात्पर्य यह है कि पं० दौलतराम की गद्य-भाषा में खड़ी बोली के साथ-साथ राजस्थानी और ब्रजभाषा की भी प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। उदाहरणार्थ उनकी रचनाओं से कतिपय उद्धरण प्रस्तुत हैं:—

1. "यह बड़ा आश्चर्य है कि जो हम सारिखे अल्पबुद्धि पुरुष भी उनके चरित्र को कहे हैं। यद्यपि हम सारिखे इस चरित्र को कहने में समर्थ नाहीं तथापि परंपरा से महामुनि जिस प्रकार कहते आये हैं, उनके कहे अनुसार कछु इक संक्षेपता कर कहैं हैं। जैसे जिस मार्ग विषैं मदमाते हाथी चालें, तिस मार्ग विषैं मृग भी गमन करैं हैं और जैसे युद्ध विषैं महा सुभट आगे होय कर शस्त्रपात करे हैं तिनके पीछें और भी पुरुष रणविषै जाय हैं, अर सूर्य करि प्रकाशित जे पदार्थ तिनकूं नेत्रवारे लोक सुखसूं देखे हैं अर जैसे वज्रसूची के मुख कर भेदी जो मणि उस विषै सूत्र भी प्रवेश करे हैं तैसै ज्ञानीन की पंकति कर भाषा हुआ चला आया जो राम सम्बन्धी चरित्र, ताके कहने को भक्ति कर प्रेरी जो हमारी अल्प बुद्धि सो भी उद्यमवती भई है।[1]"

2. "देखो भाई अनसन करि इसा पापी भी अहमेंद्र हूवा। चय करि मनुष्य होय मुक्ति जासी और कोई जिनभक्ति करि विशुद्ध भावां सौ अनसन करे सो कांई सुख न पावै। अैसो जानि अव्रत भानि हित मान उपवास करिवो जोग्य छै।[2]"

उक्त उद्धरण पं० दौलतराम की अनुवादात्मक रचनाओं से दिये गये हैं, जिनमें खड़ी बोली का पर्याप्त विकसित रूप दिखाई पड़ रहा है; किन्तु पं० दौलतराम की टव्वाटीकाओं की गद्यभाषा ऐसी नहीं है। उस पर लोकभाषा का प्रभाव अत्यधिक मात्रा में देखने को मिलता है। उदाहरणार्थ निम्न अंश द्रष्टव्य है:—

"जे साध संत श्रावक श्राविका आर्या सम्यकद्रिष्टी त्यांने भक्ति करि भोजन देणौं तथा दुखित भूखित बाल वृद्ध पसु पांखी रोगी इत्यादि सानैं दया करि देणौं, दान बिना भोजन न करणो।[3]"

पं० दौलतराम की गद्यभाषा की एक विशेषता यह भी है कि उसके क्रियापद संस्कृत-प्रकृति से मिलते हैं, आधुनिक खड़ी बोली से नहीं। यथा:— शोभता भया, तजेगा, कम्पायमान भये, प्रकाशित भये, भासै है, प्रवर्तै है, उपजै है, मरै है, रची है, उच्चारते भये, आदि।

शब्द-भण्डार की दृष्टि से पं० दौलतराम की गद्य-भाषा का अध्ययन किया जाये तो स्पष्ट होता है कि उसमें तत्सम शब्दों की अधिकता है। पं० दौलतराम की काव्य-भाषा में तद्भव शब्द अधिक मिलते

---

1. पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 7,8
2. पुण्यास्रवकथाकोश-भाषा, पृष्ठ 186
3. वसुनन्दि-श्रावकाचार-टव्वाटीका, गाथा 219

हैं, किन्तु उनका गद्य प्राकृत, संस्कृत भाषाओं के प्राचीन ग्रन्थों पर आधारित है, अतः उसमें तत्सम शब्दों का प्रयोग अत्यधिक हुआ है। लगभग अस्सी प्रतिशत शब्द तो तत्सम कोटि के हीं हैं। लेखक ने जैनदर्शन के पारिभाषिक शब्दों और पात्र एवं स्थानों के नामों को तत्सम रूप में ही रखने का प्रयत्न किया है। तत्सम शब्दों की अधिकता के कारण ही अनेक समालोचकों ने उनकी भाषा पर पण्डिताऊपने का आरोप लगाया है।[1]

पं० दौलतराम की गद्य-भाषा में प्रयुक्त कतिपय तत्सम शब्द निम्नलिखित हैं:–

चरित्र, श्रवण, तृणपत्रादि, जिनधर्म, गिरि, अन्न, अगम्य, सौन्दर्य, वृष, अच्युत, स्तवन, गंधोदक, सुकृत, मार्गणा, सम्यक्त्व, रात्रि, पुलिन, उद्योत, सन्ध्या, वादित्र, रुधिर, निष्कम्प, नेत्र, क्षेत्र, कल्प, अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी, दुग्ध, मिष्टान्न, उपार्जन, मोक्ष, निर्जरा, अणुव्रत, अथानंतर, अग्नि, आच्छादित, निद्रा, स्वप्न, सर्प, वृष्टि, मार्जार, अलंघ्य, नासिका, कदाचित्, एकदा, अद्यापि, ईति, भीति आदि।

पण्डित दौलतराम की गद्य-रचनाओं में तद्भव शब्दों का भी पर्याप्त प्रयोग हुआ है। ऐसे शब्दों में ध्वनिविकृत सरलीकृत रूपों का प्राचुर्य है। यथाः– दही, रतन, माता, वरषा, घर, मूसा, सुवर्ण, परवत, रासी, निरवृत्ति, वनासपती, विसन, जनम, परजंत, उत्पत्ति, प्रतग्या, हथणापुर, उजैनी आदि।

कुछ समालोचकों ने पं० दौलतराम की गद्य-भाषा को "फारसी उर्दू से कोई सम्पर्क न रखनेवाली स्वाभाविक खड़ी बोली" कहा है[2], किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। उसमें कहीं-कहीं उर्दू भाषा के शब्द भी देखने को मिल जाते हैं। यथा– ख़बर, सिताब, दिलगीर, मारफत, मुज़रा आदि।

पं० दौलतराम की गद्यभाषा में लोकभाषा राजस्थानी के शब्द भी बहुत मिलते हैं। यथाः– धणी, कोई, मौनैं, म्हारो, आछ्या, कठै, बळबळती ताती आदि।

6.1.2. शैलीः–

शोध-अध्ययन की सुविधा को ध्यान में रखते हुए पं० दौलतराम की शैली का अध्ययन भी काव्य और गद्य की दृष्टि से पृथक्-पृथक् किया जाना अधिक उचित है।

6.1.2.1. काव्य-शैलीः

महाकवि पं० दौलतराम यद्यपि रीतिकाल के कवि हैं और जयपुर-उदयपुर जैसे राजदरबारों से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध भी रहा है, तथापि उन्होंने अपनी काव्यरचना रीतिकालीन राजदरबारी कवियों की भाँति धनाभिलाषा या यशोलिप्सा के लिए नहीं की है। किसी प्रकार का पांडित्य-प्रदर्शन भी उनका उद्देश्य नहीं था। उनकी दृष्टि में कविता जीवन-निर्माण का उत्तम साधन था। उसके माध्यम से वे अपने सामान्य

1. हिन्दी-साहित्य-कोश, भाग–2, पृष्ठ 269
2. वही, वही, पृष्ठ 269

पाठकों के आचार-विचार को परिष्कृत करना चाहते थे। काव्य-रचना के पीछे उनका उद्देश्य अत्यन्त पवित्र था।

यही कारण है कि उनकी काव्य-शैली अत्यन्त सरल, स्वाभाविक, आडंबरहीन एवं प्रवाहमयी है। उसे पढ़ते समय साधारण पाठक को भी कहीं किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव नहीं होता, अपितु ऐसा आनन्दानुभव होता है कि वह उसमें मग्न होकर पढ़ता ही रहता है। रचना को बीच में छोड़ने का मन नहीं करता।

महाकवि पं. दौलतराम का युग क्लिष्ट काव्य-रचना का युग था, जिसमें अप्रचलित शब्दों द्वारा अथवा किसी अन्य जोड़-तोड़ से एक काव्य में अनेकानेक अर्थों का समावेश करना कवि की उत्कृष्टता का मान बना हुआ था; किन्तु महाकवि पं० दौलतराम का काव्य प्रायः सर्वत्र इतना सरल है कि कहीं शब्दकोश देखने की आवश्यकता नहीं पड़ती। अनेक स्थलों पर तो अन्वय तक नहीं लगाना पड़ता। ऐसा आभास होता है, मानों गद्य पढ़ रहे हैं।यथा:–

"त्याग जोगि परवस्तु जे, हेय कहावै तेहि।
लेन जोगि निजभाव जे, उपादेय हैं एहि।।[1]"
"राग कहावै प्रीति अरु, द्वेष होइ अप्रीति।
राग दोष तज भव्यजन, धरै धर्म की रीति।।[2]"

महाकवि पं. दौलतराम यद्यपि शब्द शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित हैं और अपनी विशाल काव्यकृति 'अध्यात्मबारहखड़ी' में उन्होंने अनेक ऐसे अप्रचलित शब्दों का प्रयोग भी किया है जो नितान्त अप्रचलित हैं, संस्कृतनिष्ठ हैं या कवि द्वारा नवनिर्मित हैं, लेकिन महाकवि उनके प्रयोग के साथ उनका सरलार्थ भी स्पष्ट करता चला गया है। वह अपने सामान्य पाठकों की उपेक्षा कभी नहीं कर सका है। उदाहरणार्थ निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :–

"लाठी कौं यष्टी कहैं, पंडित संस्कृती जु।
अंधे की यष्टी समो, हमरै तू ही धृती जु।।[3]"

महाकवि पं. दौलतराम की काव्य-शैली में किसी प्रकार का आडम्बर या कृत्रिमता नहीं है। वह नितान्त व्यावहारिक है। यह उसकी व्यावहारिकता ही है कि उसमें सभी प्रकार के यहाँ तक कि

---

1. विवेक-विलास, छन्द 921
2. क्रियाकोश, छन्द 1064
3. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द य/24

अरबी–फारसी के भी साधारण बोलचाल वाले शब्दों का सहज प्रयोग दृष्टिगोचर होता है, जिसका सोदाहरण अध्ययन हम इसी अध्याय के पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं।

पं. दौलतराम की काव्य-शैली में आलंकारिकता भी पाई जाती है, किन्तु वह भी अत्यन्त सहज और स्वाभाविक है। अलंकारों का प्रयोग रीतिकालीन मुख्य कवियों की भाँति सायास नहीं किया गया है जिसका विशेष अध्ययन इसी अध्याय के आगामी पृष्ठों में 'अलंकार' शीर्षक के अन्तर्गत होगा। यहाँ केवल एक उदाहरण प्रस्तुत है:–

"जैसे पारस पाय, लोह होय कंचन महा।
तैसे पारस ध्याय, भव्यजीव शिवपद लहा।।"

महाकवि पं. दौलतराम की काव्य–शैली की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि वह एकदम सजीव है। पाठक को निरन्तर ऐसा आभास होता है, मानों वह कवि से साक्षात् बात कर रहा है। कवि भी स्थान-स्थान पर "अब सुनि भैया बात इक[2]" अथवा[4]कहों, कहा जु बताइये[3]"– कहकर सजीवता का प्रमाण देता रहा है।

महाकवि पं. दौलतराम की काव्य-शैली में दृढ़ता और स्पष्टता भी विशेषतया द्रष्टव्य है। कवि अपने विचारों को इतने अदम्य विश्वास और सफाई के साथ प्रस्तुत करता है कि उसमें किसी प्रकार की शिथिलता, उलझन या अस्पष्टता की गुंजाइश नहीं रहती। यथा:–

"जे सीझे जे सीझिहैं, ते सब करुणाधार।
जे बूढ़े जे बूढ़िहैं, ते सब हिंसा कार।।"

महाकवि पं. दौलतराम की काव्य-शैली की अत्यन्त प्रमुख विशेषता है– स्पष्टता। वे अपने विषय को अधिक से अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं, उसमें कहीं कोई अस्पष्टता नहीं रहने देना चाहते; क्योंकि उनका पाठक साधारण जन है।

महाकवि दौलतराम अपने विचारों को स्पष्टतया अभिव्यक्त करने के लिए अनेक साधन अपनाते हैं। यथा:– शीर्षक प्रयोग करते हैं, परिभाषा-निर्माण करते हैं, स्वयं ही अपने काव्य पर गद्य में विशेषार्थ लिखते हैं, शब्दों की व्याकरणसम्मत व्युत्पत्ति करते हैं, आदि।

---

1. चतुर-विनोदिनी, छन्द 67
2. क्रियाकोश, छन्द 319
3. वही, छन्द 1869
4. वही, छन्द 468

शीर्षक-प्रयोग के सर्वाधिक उदाहरण 'जीवन्धरस्वामिचरित' में मिलते हैं। वहाँ कवि ने महारानी विजया द्वारा स्वप्न-दर्शन, स्वप्न-फल, पुत्र-प्राप्ति के लिए भविष्यवाणी, राजा के हाथी का बिगड़ना, पूर्वभव-वर्णन, जीवंधर की तलाश में छहों भाइयों का प्रस्थान, माता विजया से मिलन, युद्ध-वर्णन, श्रावकधर्म-वर्णन आदि अनेक शीर्षकों द्वारा अपनी काव्याभिव्यक्ति को स्पष्ट किया है। 'क्रियाकोश' में भी रसोई,पंखा, चक्की आदि क्रियाओं का वर्णन, बारहव्रत वर्णन, अचौर्याणुव्रत वर्णन, अथ शीलस्वरूप वर्णन आदि अनेक शीर्षक प्राप्त होते हैं।

परिभाषा-निर्माण में कवि के कथन प्रायः इसप्रकार के होते हैं:--

"शुभ कहिए तुव मत विषैं, दया दान उपगार।
व्रत शीलादि पुनीत विधि, जिनपूजा अधिकार।।
अशुभ कहावै पाप जो, हिंसादिक व्यवहार।
मिथ्या अव्रत कृपणता, इनमें शुभ न लगार।।"

महाकवि पं० दौलतराम ने अनेक स्थलों पर स्वयं ही अपने काव्य पर गद्य में विशेषार्थ लिखे हैं, जो अधिकांश स्थलों पर तो आधुनिक ढंग की सामान्य पाद-टिप्पणी के समान प्रतीत होते हैं, किन्तु कहीं-कहीं इनके द्वारा काव्य का सरलार्थ भी बताया गया है और उसकी विवेचनपरक विस्तृत व्याख्या भी की गई है। इनमें 'अध्यात्मबारहखड़ी' के विशेषार्थ विशेष उल्लेखनीय हैं।[1] प्रमाणस्वरूप 'अध्यात्मबारहखड़ी' की पत्र-संख्या 8, 9, 16, 17, 53, 60, 63, 71, 74, 76, 78, 81, 88, 102, 103, 104 आदि पर प्रयुक्त गद्यांशों को देखा जा सकता है।

महाकवि पं. दौलतराम ने अनेक स्थलों पर शब्दों की व्याकरणपरक व्युत्पत्ति लिखते हुए भी अपने विचारों को स्पष्ट किया है। यथा:--

"क्षत्री दुर्बल को किम मारै, क्षत्री तो पर-पीरा टारै।
माँस खाय सो क्षत्री कैसो, वह तो दुस्ट अहेरी जैसो।[2]"

अपने विचारों को पूर्णतः स्पष्ट करने के लिए कवि ने अनेक स्थलों पर शंका-समाधान शैली का भी प्रयोग किया है अर्थात् स्वयं ही शंका उठाकर स्वयं ही उसका समुचित समाधान प्रस्तुत किया है। इससे प्रतिपाद्य विषय तर्कसंगत बनकर स्पष्ट तो हो ही गया है, रोचक भी बन गया है। उदाहरणार्थ यह अंश देखिये--

---

1. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द - श/87-88
2. क्रियाकोश, छन्द 295

"कोऊ प्रश्न करै इह भाई, एक काल उत्पत्ति बताई।।
दरसन ज्ञान दुहुनिको तातै, कारन कारिज होई न तातैं।
ताकौं समाधान गुरु भाषैं, जे धारैं ते निजरस चाखैं।।
जैसे दीपक अर परकासा, एककाल दुहुँ कौ प्रतिभासा।
पर दीपक है कारनरूपा, कारिजरूप प्रकाशनरूपा।।
तैंसै दरशन ज्ञान अनूपा, एककाल उपजै निजरूपा।
दरशन कारनरूपी कहिये, कारिजरूपी ज्ञान सु गहिये।।"

महाकवि पं. दौलतराम ने अपने विचारों को पुष्ट करने के लिए प्राचीन ग्रन्थ और ग्रन्थकारों के कथन भी उद्धृत किये हैं। इनमें ज्ञानार्णव, रयणसार, श्रावकाचार, एकाक्षरी नाममाला आदि ग्रंथ प्रमुख हैं।

महाकवि पं. दौलतराम ने अनेक स्थलों पर यह कहकर भी अपने विषय के भावगांभीर्य की ओर संकेत किया है कि उसका वर्णन तो करोड़ जिह्वाओं से भी नहीं हो सकता।यथाः–

"महिमा जीव दया तनी, जाने श्री जगदीश।
गणधर हू कहि न सकें, जे चऊ ज्ञान सुधीश।।
कहि न सकें इन्द्रादिका, कहि न सके अहमिन्द्र।
कहि न सके लोकान्तिका, कहि न सकें जोगीन्द्र।।
कहि न सकें पाताल-पति, अगणित जीभ बनाय।
सो महिमा करुणा तणी, हम पै बरणि न जाय।।"

महाकवि पं. दौलतराम अपने प्रतिपाद्य को अधिक क्रमबद्ध या व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते हैं। उनके पास विषय-विवेचन का एक निश्चित क्रम या आदर्श व्यवस्था है। वे प्रायः प्रत्येक विषय के प्रतिपादन में उसी निश्चित क्रम या आदर्श व्यवस्था का निर्वाह करते हैं, ताकि साधारण पाठक को भी पूरा विषय क्रमिक रूप से स्पष्ट होता चला जाए। विषय-प्रतिपादन में कवि सर्वप्रथम संबंधित विषय के प्रारम्भ की औपचारिक सूचना देता है, उसके बाद मंगलाचरण करता है, उसके बाद उसकी

---

1. क्रियाकोश, छन्द 2460 से 2463
2. वही, छन्द 475 से 477

व्युत्पत्ति या परिभाषा प्रस्तुत करता है, आवश्यक हो तो उसके नामान्तर या पर्यायवाची भी बताता है, इसके बाद उसके भेद-प्रभेदों का वर्गीकरण प्रस्तुत करके सभी का क्रमशः वर्णन करता है।सबसे अन्त में विषय-समापन की सूचना होती है। उदाहरणार्थ 'क्रियाकोश' में 53 क्रियाओं का विवेचन द्रष्टव्य है, जो प्रायः सर्वत्र इसी क्रम में निबद्ध है। यदि किसी प्रकरण के बीच में कवि को कोई अन्य महत्त्वपूर्ण विषय कहना होता है तो वह यह कहकर ही कहता है कि– "अवर कथन इक सुनने जोगा, सुनकर धारहु सुबुधि लोगा।[1]"

महाकवि पं. दौलतराम ने अपने काव्य में अनेक कथाओं और असंख्य अन्तर्कथाओं का समावेश किया है, जिनसे प्रतिपाद्य विषय प्राथमिक जीवों के लिए भी अत्यन्त सरल, रोचक और सहज हृदयग्राह्य बन गया है। उदाहरणार्थ रात्रिभोजन के प्रकरण में महीदत्त ब्राह्मण की पूरी कथा पठनीय है।[2] तथा सप्त व्यसन के प्रकरण में समागत युधिष्ठिर, बक राजा, यादवगण, चारुदत्त, ब्रह्मदत्त, शिवभूति और रावण की अन्तर्कथाएँ भी द्रष्टव्य हैं।[3]

इसके अतिरिक्त स्थान-स्थान पर राजा श्रीपाल, भव्यसेन, भीष्म, मारीच, सुकौशल, सुकुमाल, गजकुमार, भरत, बाहुबली, हनुमान, जीवन्धर, त्रैलोक्यमंडन हाथी आदि की अनेक अन्तर्कथाएँ प्राप्त होती हैं, जो अत्यन्त प्रासंगिक, रोचक एवं प्रतिपाद्य-पोषक हैं। ऐसी अन्तर्कथाएँ कवि के विचारकाव्यों में ही पढ़ने को मिलती हैं, चरितकाव्यों में नहीं।

पं. दौलतराम की काव्य-शैली में एक उल्लेखनीय विशेषता यह भी मिलती है कि वे अपने प्रतिपाद्य विषय को उसके विपक्ष के साथ तुलना करते हुए प्रस्तुत करते हैं, जिससे विषय युक्तिसंगत और अतीव रोचक बन जाता है। उदाहरणार्थ 'विवेक-विलास' के 14 वर्णन द्रष्टव्य हैं, जो दो-दो के परस्पर विरोधी सात जोड़ों में विभाजित हैं। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित पंक्तियाँ भी देखिये, जिनमें सत्यवचन और असत्यवचन के प्रभाव को एक साथ प्रस्तुत करके बड़ा काव्य–प्रभाव उत्पन्न किया गया है:–

"सत्यप्रभावै धर्म सुत, गये मोक्षगुणकोष।
लहे झूठ अर कपट तें, दुर्योधन दुख दोष।।
जे सुरझे ते सत्य करि, और न मारग कोय।
जे उरझे ते झूठ करि, यह निश्चय अवलोय।।"

1. क्रियाकोश, छन्द 259
2. वही, छन्द 2394 से 2426
3. वही, छन्द 307 से 317
4. वही, छन्द 541, 542

इसीप्रकार निम्नलिखित पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं जिनमें क्रमशः ब्रह्मवासना व विषयवासना और संयम व असंयम के प्रभाव को एक साथ प्रस्तुत किया गया है:–

"ब्रह्मवासना सारिखी, और न रस की केलि।
विषय वासना सारिखी, और न विष की बेलि।।
अव्रत नांहि कुसील सो, नरक निगोद प्रदाय।
नहीं सील सो संजमा, भाषैं श्री जिनराय।।[1]"

पं. दौलतराम के काव्य में कुछ स्थलों पर परिगणन शैली का प्रयोग भी मिलता है, जो यद्यपि कविता में नीरसता उत्पन्न करता है, किन्तु कवि ने अपने काव्य में प्रयुक्त ऐसे नीरस स्थलों को भी भक्ति या आध्यात्मिक भावनाओं से जोड़कर अत्यन्त सरस बनाने का प्रयास किया है। उदाहरणार्थ यह स्थल द्रष्टव्य है जिसमें योनि के चौरासी लाख भेद गिनाने के बाद उनका सम्बन्ध प्रभु-भक्ति से जोड़ दिया गया है :–

"सप्त लाख पृथ्वी की कही। सप्त लाख गति जल की सही।।
सप्त लाख है तेऊ काय। सप्त लाख वाऊ गति भाय।।
सप्त सु नित्य निगोदि सु सही। सप्त होय फुनि इतर जु उहि।।
दस लख वनफति प्रति इक भाख। ए थावर गति वांवन लाख।।
द्वै द्वेंद्री द्वै तेंद्री जांनि। द्वै चौरिंद्री निश्चय मानि।।
जौंनि मनुष की चऊदह लाख। चऊलख पंचेंद्रीय सु भाख।।
चऊ नारक अर चऊ लख देव। लाख बतीस जु जंगम भेव।।
ए चौरासी लख के भेद। तैं ही भाखे भव दुख छेद।।
चौरासी तैं मोहि उतारि। तू प्रभु चौरासी की पार।।
तैं जु निकासै जग गुरु पीव। चऊरासी तैं केई जीव।। [2]"

इसीप्रकार एक यह निम्न स्थल भी द्रष्टव्य है, जिसमें पहले जीव के नौ भेद गिनाये गये हैं और बाद में अत्यन्त सरस रीति से उनका सम्बन्ध प्रभुभक्ति से जोड़ दिया गया है:–

"पंच वि थावर जंगम चारि। ए सब मिलि है नव सु प्रकार।।
इन तैं रहित करौ हरि मोहि। हरहु अविद्या विनऊं तोहि।। [3]"

---

1. क्रियाकोश, छन्द – 622 व 624
2. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द – च/54 से 58
3. वही, छन्द – न/14

6.1.2.2. गद्य-शैली:–

यद्यपि यह सत्य है कि पं. दौलतराम कासलीवाल की दस गद्य-कृतियों में से एक भी कृति पूर्णतः स्वतंत्र या मौलिक नहीं है, तथापि उनकी वचनिकाओं और टीकाओं के माध्यम से भी उनकी गद्य-शैली को स्पष्टतया समझा जा सकता है। इसके अतिरिक्त उनकी काव्य-कृतियों में भी यत्र-तत्र अनेक छोटे-बड़े गद्यांश प्राप्त होते हैं। पं. दौलतराम का गद्यकार उनमें भी स्पष्टतया परिलक्षित होता है।

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि पं. दौलतराम का सम्पूर्ण गद्य प्राचीन संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश भाषा के ग्रन्थों पर आधारित है, उन्हीं की वचनिका या टीका के रूप में लिखित हैं और उसके पीछे लेखक का उद्देश्य यह रहा है कि इस काल में संस्कृतादि भाषाओं के समझनेवाले अत्यन्त अल्प रह गये हैं, अतः यदि उन संस्कृतादि के महान ग्रंथों को वर्तमान में प्रचलित भाषा में सुगम रीति से प्रस्तुत कर दिया जाए तो उससे अगणित लोगों का कल्याण हो सकता है।[1] यही कारण है कि उनकी गद्य-रचनाएँ साधारण जन के भी समझ में आ सकने योग्य अत्यन्त सरल-सुबोध और प्रवाहपूर्ण शैली में लिखी गयी हैं। यह उनकी इस सरल-सुबोध और प्रवाहमयी शैली का ही प्रभाव था कि उस युग में उनकी गद्य-रचनाओं ने स्वाध्यायी पाठकों के मध्य एक अद्‌भुत क्रान्ति और जागरूकता उत्पन्न कर दी थी। सम्पूर्ण भारत वर्ष में गुजरात एवं दक्षिण के अहिन्दी प्रान्तों में भी उनकी गद्य-रचनाओं को बड़ी रुचि के साथ पढ़ा जाने लगा[2] और पं. दौलतराम उस युग के सर्वाधिक लोकप्रिय गद्य-लेखक बन गये। यह भी उनकी सरस गद्य-शैली का ही चमत्कार था कि मालवा-समाज ने भी उनसे 'हरिवंशपुराण' की वचनिका करने का हार्दिक अनुरोध किया था।[3]

पं. दौलतराम के इतने सफल गद्य-लेखक होने का कारण यह है कि वे अपने पाठक की क्षमता और विषय की गूढ़ता से भलीभाँति परिचित हैं। यही कारण है कि उन्होंने संस्कृतादि के प्राचीन ग्रन्थों का शब्दशः अनुवाद मात्र करके छुट्टी नहीं पा ली है, अपितु उसमें यत्र-तत्र बड़े ही उपयोगी भावार्थ भी लिखे हैं, जिससे उनके पाठक को कहीं किसी प्रकार की दुर्बोधता का अनुभव नहीं होता। प्रमाण स्वरूप निम्नोद्‌धृत भावार्थ द्रष्टव्य है, जिसमें 'ऋषभदेव ने अनादि सिद्ध मुनिव्रत धारण किया'– इसका स्पष्टीकरण किया जा रहा है:–

---

1 (क) वसुनन्दि-श्रावकाचार-टब्बाटीका, अंतिम प्रशस्ति, छन्द 26–27
(ख) पद्मपुराण-वचनिका, अंतिम प्रशस्ति, छन्द 6

2. हिन्दी-जैन-साहित्य का इतिहास (नाथूराम प्रेमी), पृष्ठ 181

3. हरिवंशपुराण-वचनिका, अंतिम प्रशस्ति, छन्द 8 से 14

"भावार्थ– यह जिनधर्म अनादिनिधन है, किसी का किया नाहीं अर कभी जाता नहीं। अनादि अनन्त है। सदा से सत्पुरुष जिनधर्म को जान योगीश्वरों का मार्ग अंगीकार कर लोकशिखर जाय हैं अर सदा ही योगीश्वर जिनधर्म का आराधन कर निर्वाणपुर पावेंगे। सो अनादिसिद्ध यति का धर्म ऋषभ ने धारा।[1]"

इसी प्रकार एक यह भावार्थ द्रष्टव्य है। यहाँ रावण सीता के स्पर्श की अभिलाषा करता हुआ कह रहा है कि यदि मैं अशोक वृक्ष होता तो अच्छा रहता। लेखक इसका भावार्थ इस प्रकार लिखता है:– "भावार्थ– अशोक वृक्ष स्त्री के पगतली के घात से फूलै।[2]"

इसी प्रसंग में निम्नलिखित दो भावार्थ भी द्रष्टव्य हैं:–

"ये सोलह स्वप्ने देखकर माता अति आनन्द को प्राप्त भई तब निद्रारूपी सखी जाती रही। भावार्थ माता ही स्वामिनी है अर निद्रा ही सखी है सो इस निद्रा सखी ने ऐसी जानी जो मोह कर मेरी स्वामिनी आनन्दरूप शुभ स्वप्न के दर्शन को प्राप्त भई सो मैं कृतार्थ भई। सेवक का यही धर्म है जो स्वामी को आनन्द उपजावे। इसी कर सेवक को कृतार्थता है।[3]"

"कैसी है माता ? महा श्याम स्निग्ध जो इन्द्रनीलमणि उसकी अद्वितीय खान है। भावार्थ श्री मुनिसुव्रत नाथ इन्द्रनीलमणि समान श्याम सुन्दर हैं अर यह माता मणियों की खान है।[4]"

पं. दौलतराम के साहित्य में इस प्रकार के भावार्थों का प्रयोग केवल उनकी अनूदित या वचनिका रूप गद्य कृतियों में ही नहीं हुआ है, अपितु टब्बाटीकाओं व भाषाटीका में भी हुआ है। कहा जा सकता है कि उनका गद्य-साहित्य भावार्थों का विशाल भण्डार है। यहाँ उनकी टीकाओं से भी दो भावार्थ द्रष्टव्य हैं:–

1. "भावार्थ दसमी प्रतिमा कौ धारक धर्मकार्य बिना और कार्य की आज्ञा न दे। पूछ्यौ थकौ भी चुप होय रहै। जिनसूत्र भणैं। बीजो बोल न बोलै।[5]"

2. "भावार्थ श्रावक नैं अतिथि संविभाग अवस्य करतव्य है।[6]"

इन भावार्थों के कारण अस्पष्टता और दुर्बोधता का निवारण तो हुआ ही है, प्रतिपादन में ऐसा सुन्दर प्रवाह भी निर्मित हुआ है कि अनुवाद के कारण उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण नीरसता उससे दूर हो

---

1. हरिवंशपुराण-वचनिका, पृष्ठ 189
2. पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 524
3. हरिवंशपुराण-वचनिका, पृष्ठ 162
4. वही, पृष्ठ 259
5. वसुनन्दि-श्रावकाचार-टब्बाटीका, गाथा 300
6. वही, गाथा 270

गई है और पाठक को स्वतंत्र कृति के पढ़ने का सा आनन्द आता है। इस सम्बन्ध में डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल का निम्नलिखित कथन द्रष्टव्य है, जो यद्यपि 'पद्मपुराण-वचनिका' के सन्दर्भ में लिखा गया है, पर वस्तुतः लेखक के सम्पूर्ण गद्य-साहित्य पर घटित होता है:—

"पद्मपुराण कवि की मूल कृति नहीं है, किन्तु महाकवि रविषेणाचार्य की संस्कृत कृति का गद्यानुवाद है; लेकिन कवि की लेखनशैली और भाषा पर पूर्ण अधिकार होने से यह मानों स्वयं की मूल रचना के समान लगती है।[1]"

पं. दौलतराम की गद्य-शैली की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि वे अपने प्रतिपाद्य विषय को अत्यन्त स्पष्ट करके ही आगे बढ़ते हैं। स्पष्टता के लिए वे कहीं उसके सम्बन्ध में विशेष टिप्पणी लिखते हैं, कहीं उदाहरण का प्रयोग करते हैं, कहीं उसके भेद--प्रभेदों को भी समझाते हैं और कहीं स्वयं ही प्रश्न उठाकर उसका समाधान प्रस्तुत करते हैं। उदाहरणार्थ 'तत्त्वार्थसूत्र-टव्वाटीका' का निम्नलिखित अंश ध्यानपूर्वक पठनीय है। ग्रंथ का मूल सूत्र है:— "स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः।" इसकी टीका करते हुए लेखक लिखता है कि—

"स कहितां सो उपयोग। द्विविध कहितां दोय प्रकार है। ज्ञान आठ प्रकार। दर्शन च्यार प्रकार। ए भेद हैं। इहाँ पूछै दर्शन ज्ञान विषैं भेद कहा? तहां कहै साकार तो ज्ञान है जातैं ज्ञेय के आकार होय है अर अनाकार दर्शन है जातैं सत्ता मात्र आकार रहित ग्रहण करै है। सो ए दोऊ छद्मस्थ जीव कै तो अनुक्रम तैं वर्तै है। पहिलैं दर्शन हो है पीछै ज्ञान हो है। बहुरि निरावरण जे केवली तिनके दोऊ युगपत् एकै काल प्रवर्तै है। इहां दर्शन तैं पहिली ज्ञान कह्या सो ज्ञान पूज्य प्रधान है तथा इहां सम्यग्ज्ञान का प्रकरण है तातैं कह्या है। बहुरि ज्ञान पूर्वै पंच प्रकार कह्या है सो इहां उपयोग कहन तैं विपर्यय ज्ञान भी ग्रहण कीया है तातैं आठ प्रकार कह्या। ऐसैं दोय सूत्र करि बाह्य जो उपयोग लक्षण जो जीव के शरीर तैं भेद कूं साधै है। जैसैं उष्ण जल की अवस्था मैं द्रवपणां अर उष्णपणां जल अग्नि का भेद कूं साधै है तैसैं जाननां।[2]"

इसी प्रकार एक यह स्थल भी द्रष्टव्य है जिसमें लेखक ने स्वयं ही शंका उठाई है और फिर उसका ऐसा वैज्ञानिक एवं तर्क सम्मत समाधान भी प्रस्तुत किया है कि उनकी बात आसानी से पाठक के गले उतर जाती है:—

"यहाँ कोई प्रश्न करै, प्रतिमाजी अचेतन छै, निग्रह-अनुग्रह करवा समर्थ नाहीं सो प्रतिमा का सेवन थकी स्वर्ग-मुक्ति फल प्राप्ति किसी भाँति होय ?

1. राजस्थान का जैन साहित्य, पृष्ठ 250
2. तत्त्वार्थसूत्र-टव्वाटीका, सूत्र 219 की टीका।

ताका समाधान– प्रतिमाजी शांत स्वरूप ने धार्या छै, ध्यान की रीति ने दिखावे छै। दृढ़ आसन, नासाग्र दृष्टी, नगन, निराभरण, निर्विकार जिसौ भगवान कौ साक्षात् स्वरूप छै तिस्यौ प्रतिमाजी ने देख्यां यादि आवै छै। परिणाम ऐते निर्मल होइ छै। अर श्रीप्रतिमाजी ने सांगोपांग अपना चित्त मैं ध्यावे तो वीतराग भाव ने पावै। यथा स्त्री की मूरति चित्राम की, पाषाण की, काष्ठादिक की देखि विकारभाव उपजै छै, तथा वीतराग की प्रतिमा का दर्शन थकी ध्यान थकी निर्विकार चित्त होइ छै। अर आन देव की मूरति रागी द्वेषी छै। उन्माद ने धारै छै। सो वाका दरशन ध्यान करि राग द्वेष उन्माद बढै छै। तीसौं आराधवा जोग्य, दरसन जोग्य, ध्यान जोग्य जिनप्रतिमा ही छै। जीवां ने भुक्ति, मुक्तिदाता छै। यथा कलपवृक्ष चिंतामणि औषधि मन्त्रादिक सर्व अचेतन छै, पणि फलदाता छै, तथा भगवत की प्रतिमा अचेतन छै, परन्तु फलदाता छै। ज्ञानी तो एक शान्तभाव का अभिलाषी छै। सो शांतभाव ने जिनप्रतिमा मूर्तवन्त दिखावै छै। तीसूं ज्ञानी जनां ने सदा वन्दिवा ध्यावा जोग्य छे। अर जगत का प्राणी संसारीक भोग चावै छै। सो जिनप्रतिमा का पूजन थकी सर्व प्राप्ति होय छै। ऐसो जानि, हित मानि, संशय भानि जिनप्रतिमा की सेवा जोग्य छै।[1]"

पं० दौलतराम अपनी बात को यद्यपि अत्यन्त संक्षेप में ही स्पष्ट करते हैं, जिसके प्रमाणस्वरूप कतिपय उपरि-उद्धृत भावार्थ देखे जा सकते हैं, किन्तु संक्षिप्तता के लोभ में अस्पष्टता कहीं नहीं रहने दी है। स्पष्टता के उद्देश्य से ही उन्होंने अपनी बात को कहीं-कहीं पर्याप्त विस्तार के साथ भी प्रस्तुत किया है। उदाहरणार्थ 'वसुनन्दि-श्रावकाचार-टव्वाटीका' में गाथा 41 की टव्वाटीका मूल रूप में द्रष्टव्य है, जिसमें बंध के प्रकृति, प्रदेश, स्थिति एवं अनुभाग रूप चारों भेदों की विस्तार से जानकारी दी है। स्थानाभाव के कारण उस विस्तृत अंश को यहाँ प्रस्तुत करना संभव नहीं है।

पं० दौलतराम की गद्य-शैली की एक विशेषता यह भी है कि वे विशेषणों को विशेष्य से पहले न लगाकर, पहले विशेष्य संबंधी प्रश्न बनाते हैं और फिर उसके सभी विशेषणों को एक-एक करके लिखते जाते हैं। उदाहरणार्थ निम्नोद्धृत गद्यांश द्रष्टव्य हैं:–

1. "कैसा है भरतेश्वर ? बड़े बड़े वंश के बड़े बड़े नरेश्वरों कर सेवनीक है अर महा हर्षवान है अर बड़ा गृहस्थ है, श्रावकों में मुख्य है।[2]"

2. कैसे हैं गौतम ? संदेह रूप तिमिर दूर करवे कूं सूर्य हैं, सर्व लोक की चेष्टा कूं जाने हैं, पापरूप रज के उड़ावने को पवन हैं।[3]"

---

1. क्रियाकोश, छन्द 2340 के बाद का गद्यांश।
2. हरिवंशपुराण-वचनिका, पृष्ठ 218
3. पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ट 505

पं० दौलतराम के गद्य-साहित्य में उक्त विशेषताओं के अतिरिक्त भी काव्यात्मकता, आलंकारिकता, परिगणनात्मकता आदि अनेक विशेषताएँ प्राप्त होती हैं, पर उनको हम पं० दौलतराम की अपनी मौलिक गद्य-शैली नहीं कह सकते, क्योंकि वे मूल काव्यग्रंथों के प्रभाव-स्वरूप ही दृष्टिगोचर हो रही हैं। पं. दौलतराम की गद्य-शैली का वास्तविक स्वरूप तो उसकी सरलता, सुबोधता एवं स्पष्टता में ही निहित है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि पं. दौलतराम का गद्य तत्कालीन गद्य की तुलना में अधिक परिमार्जित, सशक्त, प्रवाहपूर्ण एवं सुव्यवस्थित है। उसमें भी पुराण-वचनिकाओं का गद्य तो अत्यधिक परिमार्जित और प्रौढ़ गद्य का उत्कृष्ट नमूना है। इस पर भी लेखक अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए कोई कमी शेष नहीं रहना देता। वह अपने सामान्य पाठक को प्राचीन ग्रन्थों की गूढ़ से गूढ़ बात भी बड़ी सरलता से स्पष्टतया हृदयंगम करने में अत्यन्त निपुण है।

6.1.3. भाषा-सामर्थ्यः—

अब यहाँ पं० दौलतराम कासलीवाल के साहित्य की भाषा के सामर्थ्य-परिज्ञान हेतु उसमें प्रयुक्त शब्द-शक्ति, प्रतीक-विधान, लोकोक्ति-मुहावरों और अलंकारों का अध्ययन विशेषतया करणीय है।

6.1.3.1. शब्द-शक्तिः—

भाषा और शब्द-शक्ति में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। शब्द-शक्तियों के प्रयोग से भाषा में विशेष अभिव्यक्ति-सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है। यही कारण है कि एक कुशल कवि शब्द की सभी शक्तियों की सहायता से अभीष्ट अर्थ को कलात्मक दृढ़ता से प्रस्तुत करता है। शब्द की ये शक्तियाँ मुख्यतः तीन होती हैं:— अगिधा, लक्षणा और व्यंजना। पं० दौलतराम कासलीवाल के साहित्य में इन तीनों ही शब्द-शक्तियों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। इससे उनकी भाषा में भावाभिव्यक्ति की अद्‌भुत सामर्थ्य उत्पन्न हो गई है।

6.1.3.1.1. अभिधा शक्ति :—

उदाहरणार्थ सर्वप्रथम अभिधा शक्ति के कतिपय प्रयोग देखियेः—

1 *"रहैं कंवारी कन्यका,ब्याह जोगि घर मांहि।*
मात तात कौ दूसरी, ता सम चिंता नांहि।।[1]

2. *"जे निज आतम ध्याय, भये सिद्ध परमात्मा।*
ते त्रिभुवन के राय, हे जिनराय जितात्मा।।

---

1. जीवन्धरस्वामिचरित, छन्द 2/47

हम सेवक जिन सेय, इह व्यवहार परूपणां।

आप हि ध्याता ध्येय, निश्चै येह निरूपणां।।[1]

उक्त उद्धरणों में अभिधामूलक शब्दावली की सहजता व्यक्त हो रही है, क्योंकि इनमें वाचक शब्दों द्वारा एकदम सीधे सरल अर्थ का बोध हो रहा है। पं० दौलतराम की रचनाओं में से इस प्रकार के और भी अनेकानेक उद्धरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं, क्योंकि नितान्त सरल-सुबोध शैली में लिखे जाने के कारण उनकी रचनाओं में अभिधा शक्ति का ही सर्वाधिक प्रयोग हुआ है।

अभिधा शक्ति में तीन प्रकार के वाचक शब्दों का प्रयोग होता है:– रूढ़, यौगिक एवं योगरूढ़। पं० दौलतराम की कृतियों में इन तीनों प्रकार के शब्दों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ उक्त उद्धरणों में घर, सिद्ध, निश्चय, व्यवहार आदि रूढ़ शब्द हैं; परमात्मा, जितात्मा आदि यौगिक शब्द हैं और त्रिभुवन आदि योग रूढ़ शब्द हैं।

6.1.3.1.2. लक्षणा शक्तिः–

मुख्यार्थ को गौण कर नवीन चमत्कारपूर्ण लाक्षणिक अर्थ के व्यापार संबंध को लक्षणा शक्ति कहते हैं। पं. दौलतराम की रचनाओं में अभिधा की भाँति लक्षणा का प्रयोग भी विपुलता से दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणार्थ निम्न उद्धरण द्रष्टव्य हैं:

1. "वह समय कब होय जो मैं ..... वा कामिनी से 'रस' की वार्ता करूँ![2]"

यहाँ 'रस' का तात्पर्य रस नहीं, प्रेम है; अतः यहाँ लक्षणा शक्ति का प्रयोग हुआ है; साथ ही अगोचर को गोचर रूप भी दिया गया है।

2. "यह तेरी पुत्री महादुष्ट मरकनी गाय है।[3]"

यहाँ 'मरकनी गाय' का अर्थ मारनेवाली गाय नहीं, अपितु अभिमानी लड़की है, जिसका ग्रहण हमें लक्षणा के माध्यम से ही होता है।

3. "जे शृगाल हू तुव भजैं, ते **शृगाल** नहिं **सिंह**।[4]"

यहाँ भी रेखांकित शब्दों का अर्थ साधारण नहीं है, अपितु लाक्षणिक है। शृगाल अर्थात् कायर व कमजोर और सिंह अर्थात् वीर व शक्तिशाली।

---

1. चतुर-चितारणी, छन्द 16 17
2. पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 245
3. वही, पृष्ठ 471
4. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द – अ/104

4. "विभीषण रावण से विनय कर कहता भया– हे देव! यह **बलता अंगारा** काहे कूं हृदय में लगाओ।[1]"

यहाँ 'जलते हुए अंगारे' का लाक्षणिक अर्थ 'सीता' है।

5. "जैसा **उदय** विषै तैसा ही **अस्त** विषै– अनुराग ऐसा ही चाहिए।[2]"

इनके अतिरिक्त लोकोक्ति-मुहावरों में भी लक्षणा शक्ति के सुन्दर प्रयोग प्राप्त होते हैं, जिनका अध्ययन इसी अध्याय के 'लोकोक्ति-मुहावरे' शीर्षक के अन्तर्गत किया जाएगा।

6.1.3.1.3. व्यञ्जना-शक्ति :–

"जब अभिधा और लक्षणा, अर्थ का बोध कराकर विरत हो जाती हैं तब जिस शब्द-शक्ति द्वारा व्यंग्यार्थ ज्ञात होता है, उसे व्यंजना शक्ति अथवा व्यापार कहते हैं। व्यंजना शक्ति शब्द के मुख्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ को पीछे छोड़ती हुई उसके मूल में छिपे हुए अकथित अर्थ को द्योतित कराती है।[3]"

पं० दौलतराम की रचनाओं में व्यंजना शक्ति के प्रयोग कम ही मिलते हैं, क्योंकि वे साधारण जन के लिए अत्यन्त सरल–सुबोध भाषा में लिखी गई हैं, तथापि अनेक स्थलों पर व्यंजना शक्ति के सुन्दर प्रयोग हुये हैं। यथा:–

1. "जो तृण नख ही से उपड़ आवे उस पर फरसी उठावना कहा ?[4]"

यह रावण के प्रति उसके पुत्र इन्द्रजीत का कथन है। इसमें उसका ध्वन्यार्थ यह है कि युद्ध में आपके जाने की आवश्यकता नहीं है, मैं ही पर्याप्त हूँ, अतः मुझे जाने की आज्ञा दीजिए।

2. "अपने प्रमाद करि अमोलिक महा गुणवान रत्न नष्ट भया ताहि विवेकी महाआदर से ढूंढैं ही।[5]"

यह सीता के प्रति राजा वज्रजंघ का कथन है। इसका प्रतीयमान अर्थ यह है कि हे बहिन! राम ने भूल से तुमको जंगल में छुड़वा तो दिया है, किन्तु अब वे अवश्य तुमको खोज रहे होंगे।

3. "हनुमान (मंदोदरी से) कही– ..... अपना वल्लभ विष का भरा भोजन करें है ताहि नांही निवारो हो।[6]"

यहाँ हनुमान का अभिप्राय यह है कि रावण को समझाओ, वह अपनी मृत्यु का कार्य कर रहा है।

शब्द-शक्तियों में से विशेषतया लक्षणा और व्यंजना शक्ति के दर्शन लोकोक्ति-मुहावरों में सर्वाधिक होते हैं, अतः आगे लोकोक्ति-मुहावरों की दृष्टि से भी पं० दौलतराम के साहित्य का अध्ययन किया जाएगा।

1. पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 530
2. हरिवंशपुराण-वचनिका, पृष्ठ 485
3. हिन्दी-साहित्य-कोश, भाग 1, पृष्ठ 805
4. पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 605
5. वही, पृष्ठ 781
6. वही, पृष्ठ 574

6.1.3.2. प्रतीक विधान :–

"प्रतीक शब्द का प्रयोग उस दृश्य (गोचर या प्रस्तुत) वस्तु के लिए किया जाता है, जो किसी अदृश्य (अगोचर या अप्रस्तुत) विषय का प्रतिविधान उसके साथ अपने साहचर्य के कारण करती है; अथवा कहा जा सकता है कि किसी अन्य स्तर की समानुरूप वस्तु द्वारा किसी अन्य स्तर के विषय का प्रतिनिधित्व करनेवाली वस्तु प्रतीक है।[1]"

प्रतीकीकरण मनुष्य का सहज स्वभाव है अथवा यह भी कहा जा सकता है कि मनुष्य का समस्त जीवन ही प्रतीकों से परिपूर्ण है, क्योंकि वह प्रारंभ में प्रतीकों के माध्यम से ही विचार-विमर्श किया करता था। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि प्रतीकों का महत्त्व धार्मिक क्षेत्र में बहुत अधिक होता है और पं. दौलतराम कासलीवाल का साहित्य मुख्यतया धार्मिक साहित्य है, अतः उसमें प्रतीकों का बहुलता से प्रयोग हुआ है।

प्रतीक-विधान की दृष्टि से कवि की रचना 'विवेक-विलास' सर्वाधिक उल्लेखनीय है, क्योंकि उसमें कवि ने अपने आध्यात्मिक विचारों को नाना प्रतीकों के माध्यम से ही सशक्त ढंग से प्रस्तुत किया है। इस रचना में प्रधानतया हंस विवेकी आत्मा का, दीपक केवलज्ञान अथवा पूर्णज्ञान का, अमृत आत्मानुभूतिजन्य आनन्द का, काँटे क्रोध का, जाल मायाचारी का, कछुआ निष्ठुर भाव का, अजगर अज्ञान का, मछली जिह्वालोलुपी मनुष्य का, मेंढक दुर्वादी मनुष्य का, सीप मानसिक द्वन्द्व का और कमल अनासक्त या निर्लेप भाव का प्रतीक है। इसी प्रकार इस रचना में विशाल समुद्र और भयानक वन घोर संसार के प्रतीक हैं तथा भूत-पिशाच-राक्षसादि आत्मा के मिथ्यात्व, असंयम एवं राग-द्वेष आदि अशुचि भावों के प्रतीक हैं।

'विवेक-विलास' एक अध्यात्मप्रधान रचना है, अतः इसमें प्रयुक्त प्रायः सभी उक्त प्रतीक आध्यात्मिक प्रतीकों की कोटि में आते हैं। पं. दौलतराम ने स्थान-स्थान पर इन प्रतीकों का अर्थ भी स्वयं ही स्पष्ट करने का सुन्दर प्रयास किया है। यथा:–

*"परमहंस मुनिराज से, **हंस** और नहिं कोय।*
*तिनकौं **भव कानन** विषै, दरसन दुरलभ होय।[2]"*
*"नहिं **अजगर अज्ञान** सो, ग्रसै जगत कौं जोय।*
*वसै सही **भववन** विषै, बचै कहां तैं कोय।[3]"*

---

1. हिन्दी-साहित्य-कोश, भाग 1, पृष्ठ 398
2. विवेक-विलास, छन्द 247
3. वही, छन्द 230

*"नहिं **कंटिक क्रोधादि** से, तिन करि पूरण एह।*
***क्रूर भाव से सिंह** नहीं, भववन तिनकौ गेह।।"*
***"जीभ लोलपा मांछला**, निठुर काछिवा जेहि।*
***वृथा विवादी मींडका, सागर** मैं नहिं तेहि।।"*

यहाँ सभी उदाहरण 'विवेक-विलास' से दिये गये हैं, किन्तु इसका अर्थ ऐसा नहीं समझना चाहिए कि कवि की अन्य रचनाओं में प्रतीकों का प्रयोग नहीं हुआ है, क्योंकि कवि की अन्य रचनाओं में भी अनेकत्र प्रतीकों के अतीव उत्तम प्रयोग हुए हैं। उदाहरणस्वरूप 'अध्यात्मबारहखड़ी' की निम्न पंक्ति द्रष्टव्य है–

"जे शृगाल हू तुव भजैं, ते शृगाल नहिं सिंह।"

यहाँ शृगाल और सिंह क्रमशः कायर-कमजोर और निर्भय-शक्तिशाली व्यक्ति के प्रतीक हैं।

6.1.3.3. लोकोक्ति-मुहावरे :–

लोकोक्ति और मुहावरे भाषा की अत्यन्त सबल और बहुमूल्य संपत्ति होते हैं। इनके प्रयोग से अभिव्यक्ति में गतिशीलता, स्पष्टता, दृढ़ता एवं प्रभावात्मकता का सहज संचार हो जाता है। भाषा की सामर्थ्य-वृद्धि के लिए इनका प्रयोग बहुत पुराने काल से ही भाषा में होता रहा है। सजीवता और सरसता लाने के लिए भी इनका प्रयोग किया जाता है। पं. दौलतराम कासलीवाल के साहित्य में भी अनेक लोकोक्ति और मुहावरों का सुन्दर प्रयोग हुआ है, जिससे उनकी भाषा सजीव और सरस तो हुई ही है, भावाभिव्यक्ति की अनन्त सामर्थ्य भी उसमें उत्पन्न हो गई है।

6.1.3.3.1. लोकोक्ति :–

लोकोक्ति लोक की उक्ति है, उसकी उत्पत्ति भी लोक से होती है। उसमें सम्पूर्ण लोक के अनुभव संचित रहते हैं। उसके माध्यम से सूक्ष्म, अप्रस्तुत और लाक्षणिक अर्थ की भी सरलता पूर्वक अभिव्यंजना की जा सकती है। पं० दौलतराम ने अपने साहित्य में अनेक बहुप्रचलित लोकोक्तियों का सन्दर्भानुकूल प्रयोग किया है, किन्तु छन्दादि के अनुरोधवश किसी–किसी लोकोक्ति की मूल शब्दावली में किंचित् परिवर्तन भी कर दिया है। प्रयुक्त लोकोक्तियों में से कतिपय लोकोक्तियाँ अर्थ और प्रयोग सहित यहाँ प्रस्तुत हैं:–

---

1. विवेक-विलास, छन्द 228
2. वही, छन्द 287
3. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द– ॐ/१०५

1. लोकोक्ति :– मुहँ में राम बगल में छुरी। (कपट व्यवहार)

   प्रयोग :– "पेट कतरणी जे मुख मिष्ठा। तोहि न पावैं जीव निकृष्ठा।।[1]"

2. लोकोक्ति :– राजा किसी का मित्र नहीं होता। (अर्थ स्पष्ट है।)

   प्रयोग :– " राजा मित्र न होय कदापि। इहै भाव है तू म उदापि।।[2] "

3. लोकोक्ति :– कौए में कैसी पवित्रता ? (पापी शुद्ध नहीं होता।)

   प्रयोग :– "काग विषैं नहिं शौचु होई। द्यूतकार में सत्य न जोहि।।[3]"

4. लोकोक्ति :– दो शरीर एक आत्मा। (अगाध प्रेम।)

   प्रयोग :– " सम स्वरूप सम गुन सबै, सम विद्या सम शील। क्यों न परसपर प्रीति ह्वै, चित्त एक द्वै डील।।[4] "

5. लोकोक्ति :– बन्दर और ऊपर से यंत्र चढ़ा। (एक के ऊपर दूसरा दोष।)

   प्रयोग :– "हे नाथ ! ..... यह लोक स्वभाव ही से कुटिल है अर एक दृष्टान्त प्रकट भावैं तब इनकूँ अकार्य करन विषैं कहा भय? जैसेः– वानर सहज ही चपल है अर महाचपल जो यंत्र पिंजरा उस पर चढ़ा तब क्या कहना ?[5]"

6. लोकोक्ति :– यथा राजा तथा प्रजा। (अर्थ स्पष्ट है।)

   प्रयोग :– "जिस रीति राजा प्रवर्ते, उसी रीति प्रजा प्रवर्ते। यथा राजा तथा प्रजा– यह वचन है।[6]"

7. लोकोक्ति :– कुत्तों के भौंकने से हाथी को गुस्सा नहीं आता। (नीचों की निंदा से ज्ञानी नहीं घबराते।)

   प्रयोग :– "नीच जीवनि के अपवाद करि पण्डित विवेकी क्रोध कूँ न प्राप्त होय, जैसे स्वानि के भौंकने तैं गजेन्द्र नांहि कोप करे है।[7]"

---

1. अध्यात्मबारहखड़ी, पत्र-संख्या 132
2. वही, पत्र-संख्या 134
3. वही, पत्र-संख्या 134
4. जीवंधरस्वामिचरित, छन्द–2/51
5. पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 763
6. वही, पृष्ठ 763 (इस लोकोक्ति का प्रयोग 'पुण्याश्रवकथाकोश-भाषा', पत्र-संख्या 61 पर भी हुआ है।)
7. वही, पृष्ठ 767

8. लोकोक्ति :– महावर पैरों में ही लगता है। (नीच नीचा ही रहता है।)

प्रयोग :– "जिसकी जैसी वृत्ति होवे वह उसके माफिक करे; महावर पगा ही लागे, वैसे ही जो निषिद्धाचरण है सो हि अपने को कर्त्तव्य है, उत्तम आचरण का प्रयोजन नांहि।[1]"

इनके अतिरिक्त एक तो कुलटा और ऊपर से वेश्या की संगति[2], एक ओर कुआ–दूसरी ओर खाई[3], घर भस्म हो जाए तब कुंआ खोदने के क्या लाभ ?[4] आदि अनेक लोकोक्तियों का भी सुन्दर प्रयोग पं. दौलतराम के साहित्य में प्राप्त होता है।

6.1.3.3.2. मुहावरे :–

डॉ० हरदेव बाहरी और डॉ० श्यामलाकान्त वर्मा के अनुसार– "'मुहावरा' शब्द के कई अर्थ हैं। यह एक अरबी शब्द है, जिसका मूल अर्थ है– बातचीत करना, प्रश्नोत्तर करना। किन्तु इस अर्थ में हम इसका प्रयोग नहीं करते।..... सामान्यतया मुहावरा उस वाक्यांश या खण्डवाक्य को कहते हैं जिसका अर्थ उस भाषा में साधारण या सीधा–सादा न होकर विलक्षण और वैचित्र्यपूर्ण हो, जिसमें लक्षणा और व्यंजना हो। जैसे, 'मन मारना' में 'मारना' का अर्थ साधारण नहीं है।..... 'मारना' का यहाँ लाक्षणिक अर्थ 'संयत करना' है।"[5]

मुहावरे के बिना भाषा नीरस और निष्प्राण है। मुहावरे भाषा की बहुमूल्य संपत्ति तो होते ही हैं, भाषा का शृंगार भी होते हैं। यही कारण है कि इनमें अनेक अलंकारों का भी अनायास प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ– पानी में आग लगाना, जानवरों की सी चाल चलना आदि। इनमें विरोधाभास, उपमा आदि अलंकारों का सौन्दर्य देखा जा सकता है।

लोकोक्ति की भाँति मुहावरे भी लोक-संपत्ति होते हैं। यद्यपि उनका निर्माण भी किसी-न-किसी व्यक्ति द्वारा ही होता है, किन्तु लोक-गीत की तरह उसके साथ भी उस व्यक्ति-विशेष का नाम जुड़ा नहीं रह जाता; वह समाज के सामान्य व्यक्तियों द्वारा प्रयुक्त होते-होते लोक-सम्पत्ति बन जाता है।

पं० दौलतराम कासलीवाल के साहित्य में अनेक मुहावरों का सुन्दर प्रयोग हुआ है, जिनमें से कतिपय मुहावरे अर्थ और प्रयोग के साथ यहाँ प्रस्तुत हैं। मुहावरों का अर्थ उनके सामने ही कोष्ठक में लिखित है:–

1. हरिवंशपुराण-वचनिका, पृष्ठ 320
2. पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 263
3. वही, पृष्ठ 438
4. वही, पृष्ठ 527
5. मुहावरा एवं लोकोक्ति कोश, भूमिका, पृष्ठ 9

1. मुहावरा :— बीस बिस्वा होना।[1] (निश्चित या पूरा होना।)

   प्रयोग :— "तब जानूं तू डंडहरण जगदीस है। तेरे रावल न्याव सु बिसवा बीस है।
   न्याव करै राजेस नांव पावै वही। तातैं करि अब न्याव राव राजा सही।[2]"

2. मुहावरा :— फूँक-फूँक कर पग रखना। (सोच-समझ कर काम करना।)

   प्रयोग :— "फूंक फूंक पग धरैं जीव की जु रक्षा करैं,
   अैसे मुनिराज नाथ तो ही कौं चितारहीं।[3]"

3. मुहावरा :— माथापच्ची करना। (मानसिक श्रम करना।)

   प्रयोग :— "इन दृष्टान्त नरेश तोहि सौं चरचा करिबौ।
   वृथा जु माथापच्च जासु मैं सुरकन धरिबौ।।[4]"

4. मुहावरा :— मीन मेख निकालना। (दोष निकालना।)

   प्रयोग :— "नहिं हु जानौं कछु मीन मेखा। तू ही उधारै मुझ कौ अलेखा।।[5]"

5. मुहावरा :— कोई लाग लगाव न होना। (वीतराग होना।)

   प्रयोग :— "लाखनि कौ देनहार लाग न लगाव तेरै,
   लाभ कौ स्वरूप नित्य लिप्त नांहि है कभू।[6]"

6. मुहावरा :— लिचर–पिचर बात करना। (संशयास्पद व व्यर्थ प्रलाप करना।)

   प्रयोग :— "लिचर–पिचर बात करैं मूढ अति ही जु लिप्त,
   ताके मेटन की रीति गहै ना विभू।[7]"

7. मुहावरा :— खून होना। (मरना।)

   प्रयोगः— "नहीं खून होवै तिहारी पुरी मैं।
   न तू क्वापि होई प्रभुजी बुरी मैं।[8]"

---

1. पं० दौलतराम कासलीवाल के साहित्य में इस मुहावरे का प्रयोग अनेक बार हुआ है। प्रमाणस्वरूप 'अध्यात्मबारहखड़ी' के पत्र-संख्या 214, 278, 407 द्रष्टव्य हैं।
2. अध्यात्मबारहखड़ी, पत्र-संख्या 278
3. वही, पत्र-संख्या 297
4. वही, पत्र-संख्या 315
5. वही, पत्र-संख्या 326
6. वही, पत्र-संख्या 354
7. वही, पत्र-संख्या 354
8. वही, पत्र संख्या 382/2

8. मुहावरा :— हृदय भर आना। (शोकाकुल होना।)

प्रयोग :— "तातैं उछव कछु नहिं कियो। बार–बार भरि आवै हियौ।[1]"

9. मुहावरा :— आँखें नीची करना। (लज्जा का अनुभव करना।)

प्रयोग :— "जीवन्धर के सुनिये बैनां। तापस कीये नीचे नैनां।[2]"

10. मुहावरा :— हृदय शीतल होना। (बहुत शान्ति मिलना।)

प्रयोग :— "इन वचननि तापस सुख पायो। अर माता को हियो सिहायो।[3]"

11. मुहावरा :— साँप को दूध पिलाना। (शत्रु का पोषण करना।)

प्रयोग :— "पै पावै जो साँप कौं, तऊ प्रांण की लेय।
सो कहवति सांची करी, नरभव को जल देय।[4]"

12. मुहावरा :— बारह बाट होना। (बिखरना, नष्ट होना।)

प्रयोग :— "ता सम सठ नृप और नहीं, करै राज बेढंग।
बाराबाट कुठाट सब, सदा कुबुद्धी संग।[5]"

13. मुहावरा :— युद्ध में काम आना। (मर जाना।)

प्रयोग :— "सारण के अर कालयवन के चिरकाल अति युद्ध भया सो वर्णन में न आवे। कालयवन काम आया।[6]"

14. मुहावरा :— डंडों से आकाश कूटना। (व्यर्थ परिश्रम करना।)

प्रयोग :— "जे अधर्म चर्चा करके वृथा बकवाद करै हैं ते दंडों से आकाश कूटे हैं।[7]"

15. मुहावरा :— आठवां चन्द्रमा आना। (मृत्यु समीप आना।)

प्रयोग :— "हे कांते ! कौन दुष्ट ने तोहि ऐसी अवस्था कूं प्राप्त करी। सो कहो, वह कौन है जाहि आज आठवाँ चन्द्रमा है?[8]"

---

1. जीवन्धरस्वामिचरित, छन्द 1/48
2. वही, छन्द 1/93
3. जीवन्धरस्वामिचरित, छन्द 1/106
4. वही, छन्द 5/43 (इस छन्द में एक अन्य मुहावरे का प्रयोग भी हुआ है– 'जल देना' जिसका अर्थ है– त्याग करना।)
5. विवेक-विलास, छन्द 831
6. हरिवंशपुराण-वचनिका, पृष्ठ 569
7. पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ 87
8. वही, पृष्ठ 510

इनके अतिरिक्त भी बाप का नाम रोशन करना[1], अपने आपको लाट साहब समझना,[2] पानी देना,[3] आँखें प्रसन्न करना,[4] जलांजलि देना,[5] नया जन्म होना,[6] आग पीना,[7] पवन को वस्त्र में बाँधना,[8] पहाड़ उठाना,[9] मेघ बिना वृष्टि होना,[10] बिना बोये ही अनाज उगना,[11] पर्वत की चोटी पर चढ़कर सोना,[12] दैव का रूठ जाना,[13] हवा लग जाना,[14] आदि अनेकानेक मुहावरों का भी सुन्दर प्रयोग पं. दौलतराम के साहित्य में उपलब्ध होता है।

6.1.3.4. अलंकार-योजना :–

अलंकार भाषा के भूषण होते हैं; अतः उनके द्वारा अभिव्यक्ति में स्पष्टता, प्रभविष्णुता, प्रेषणीयता और सौन्दर्य का सम्पादन तो होता ही है, भाषा में अद्‌भुत सामर्थ्य भी उत्पन्न होती है। महाकवि सुमित्रानन्दन पन्त के विचार इस सम्बन्ध में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, जो उन्होंने 'पल्लव' की भूमिका में व्यक्त किये हैं:–

"अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए उपादान हैं, वे वाणी के आचार-व्यवहार, रीति-नीति हैं, पृथक् स्थितियों के पृथक् स्वरूप हैं, भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं। वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव-भाव हैं।[15]"

पं० दौलतराम का युग अलंकारों का युग था, अलंकार-युग था, रीतियुग था। उस समय में कविगण अपनी कविता-कामिनी को अलंकारों के बोझ से बलात् दबा रहे थे। यहाँ तक कि उन्होंने यह घोषणा भी कर रखी थी कि कविता को अलंकारों से रहित नहीं माना जा सकता। केशवदास ने स्पष्ट लिखा कि–

"जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुवरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न विराजहिं, कविता बनिता मित्त।।[16]"

किन्तु उस युग में रहते हुए भी पं. दौलतराम कासलीवाल का दृष्टिकोण अलंकारों के सम्बन्ध में ऐसा आग्रहपूर्ण या कट्टरतावादी नहीं है। यद्यपि उनके काव्य में भी अलंकारों का भरपूर प्रयोग हुआ है, किन्तु वह कहीं भी बलात्‌प्रयोग की स्थिति को उत्पन्न नहीं करता। पं. दौलतराम के साहित्य में अलंकारों

---

1 से 4. जीवन्धरस्वामिचरित, छन्द-संख्या क्रमशः 2/44, 2/96, 5/43, 3/44

5. क्रियाकोश, छन्द 2489

6 से 13. पद्मपुराण-वचनिका, पृष्ठ-संख्या क्रमशः 107, 239, 239, 239, 239, 457, 510, 510

14. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द–य/38

15. पल्लव, भूमिका, पृष्ठ 32

16. कविप्रिया, छन्द 5/1

का प्रयोग सर्वत्र अत्यन्त सहज और स्वाभाविक रूप में ही प्राप्त होता है। अलंकारों के समावेश हेतु कवि ने कहीं भी अतिरिक्त प्रयास नहीं किया जान पड़ता है।

रीतिकाल के उस अलंकारप्रधान युग में ऐसा आलंकारिक दृष्टिकोण और काव्य विद्वानों द्वारा विशेषतया ध्यातव्य है।

साहित्य-कोशकार ने अलंकारों को मुख्यतया तीन वर्गों में विभाजित किया है:– शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार। तथा अर्थालंकारों को पुनः 5 उपवर्गों में विभाजित किया है:– सादृश्यगर्भ, विरोधगर्भ, शृंखलाबद्ध, न्यायमूल और गूढ़ार्थप्रतीतिमूल।[1] डॉ० राजवंश सहाय 'हीरा' ने अर्थालंकार के इन 5 भेदों के अतिरिक्त गोपनमूलक और अतिशयमूलक– ये 2 भेद और गिनाये हैं,[2] किन्तु 'साहित्य–कोश' में इनको उक्त 5 भेदों में ही समाहित कर लिया गया है; अतः दोनों के कथन में कोई मूलभूत अन्तर नहीं है, मात्र विवक्षा–भेद है।

पं. दौलतराम के साहित्य में उपर्युक्त लगभग सभी प्रकार के अलंकारों का प्रयोग हुआ है।

6.1.3.4.1. शब्दालंकार –

शब्दालंकारों में से पं. दौलतराम के साहित्य में प्रमुखतया अनुप्रास, यमक, श्लेष और वीप्सा का प्रयोग अधिक हुआ है, किन्तु कहीं-कहीं पुनरुक्तवदाभास, चित्र आदि अन्य शब्दालंकार भी दिखाई पड़ जाते हैं। यथा:–

1. अनुप्रास – "अलेखो अभेखो अलेशो अशेशो। अहेयो अमेयो अदेहो अदेसो।।
अडंको अटंको अनंको अबंको। असंको अरंको अकंपो अपंको।।[3]"

2. लाटानुप्रास– "क्रियाकार तू किरिया पारा। क्रियाधार तू किरिया सारा।।
किरिया सागर तू ज गुसांई। किरिया आगर तू ज असांई।।[4]"

3. यमक – "कालकूट विष सारिखौ, कालकूट इह भील।[5]"

4. श्लेष – "निज 'दौलति' अनुभूति है, ताहि विलसवे काज।
छांडै राज विभूति सब, सो पंडित सिरताज।।[6]"

---

1. हिन्दी-साहित्य-कोश, भाग 1, पृष्ठ 54
2. अलंकारों का ऐतिहासिक विकास, पृष्ठ – क्क-ख्ख।
3. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द–अ/295
4. वही, छन्द–क/86
5. जीवन्धरस्वामिचरित, छन्द – 1/127
6. विवेक-विलास, छन्द 827

5. वीप्सा – "जीवो जीवो बालक महा, पुण्य प्रभाव जनम इह लहा।[1]"

6. पुनरुक्तवदाभास –"चतुर चतुर भुज नांम चरची, ग्रंथ पंथ सिव सहर को।[2]"

7 चित्रालंकार "खान न पीन न लेन न देन न राज न काज न साज न बाजा।
गान न तान न मान न कानि न धान न पान न तू अतिराजा।।[3]"

6.1.3.4.2. अर्थालंकार :–

अर्थालंकारों के उक्त 5 भेदों में से पं० दौलतराम के साहित्य में सादृश्यगर्भ या साधर्म्यमूलक अलंकारों का प्रयोग सबसे अधिक हुआ है और गूढार्थमूलक अलंकारों का सबसे कम।

6.1.3.4.2.1. साधर्म्यमूलक अर्थालंकार :–

साधर्म्यमूलक अलंकारों में भी उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, उदाहरण आदि का प्रयोग पं० दौलतराम के साहित्य में सर्वाधिक रूप से दृष्टिगोचर होता है। यथा–

1. उपमा – "इंदीवर कहिए कमल, तुव पद कमल समान।
सुर नर मुनिवर भंवर सम, लपटि रहे धरि ध्यान।।[4]"

2. रूपक – "निकसै गिर अभिलाष तै, आसा तटिनि एह।
पइसै सागर सोच मैं, धारै अति सन्देह।।[5]"

3. उत्प्रेक्षा – "ध्यानारूढ़ विसुद्ध जो, मगन महा परवीन।
मानौ बैठौ सिद्ध ही, निज स्वरूप लवलीन।।[6]"

4. अनन्वय – "साकारो नाकार है, निराकार साकार तू।
तो सो तू हि जू शुद्ध है, निराधार आधार तू।।[7]"

5. दृष्टान्त – "सेवत ही लागैं भले, विषया दुरक निदांन।
खाजि खुजावत ही भली, फुनि दुख अति ही जांन।[8]"

---

1. जीवन्धरस्वामिचरित, छन्द 1/64
2. वही, अन्तिम ग्रन्थ प्रशस्ति, छन्द 5
3. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द– ष/65
4. वही, छन्द– इ/5
5. विवक-विलास, छन्द 526
6. जीवन्धरस्वामिचरित, छन्द 1/5
7. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द–ह/12
8. वही, छन्द – ष/72

6. उदाहरण – "जैसैं भूषण कलपवृक्ष सौं लपटि रहैं आभरणा।
त्यौं वनराज कंवर सौं सुंदरि तन मन एकीकरणा।।[1]"

7. निदर्शना – "जो चाहै हिंसा करि, धर्म मुकति को मूल।
सो अगनी सूं कमलवन, अभिलाषै मति भूल।।[2]"

8. अतिशयोक्ति – "सिंहनाद करि सुभट अति, गाज्यो नंदा पूत।
गूंजी तब दस ही दिसा, कंपे थिर चर भूत।।[3]"

9. अप्रस्तुतप्रशंसा – "लहि करि चिंतामणि कौं सुबुधी, कौन हाथ सौं डारै।
इत्यादिक दूतिनि के वचना, कन्या का मन धारै।।[4]"

10. व्यतिरेक – "अति जु अनंत प्रताप ताप नहिं तेरे सबही।
मिथ्या भाव जु राहु तोहि बेढै नहिं कबही।
वाकौ नांव जु मित्र तू जु है साचौ मित्रा।
अर्क नहिं तो तुल्य तू जु अतिरश्मि विचित्रा।[5]"

11. अपह्नुति – "जे श्रगाल हु तुव भजैं, ते श्रगाल नहिं सिंह।
तोहि ध्याय जंबू तिर्‌यौ, जगतनाथ नरसिंह।।[6]"

12. सन्देह – "लखि जीवंधर कौ सौ रूपा। इह जानी या अतुल अनूपा।।
होइ किधौं जीवंधर माता। धर्मधारिणी अघ की घाता।।[7]"

13. उल्लेख – "ए कहिए आगम कै मांहि। विष्णु नाम यामैं सक नाहिं।।
तू जिन हर हरि विष्णु महेश। शिव शंकर सुगतो जु जिनेश।।[8]"

---

1. जीवन्धरस्वामिचरित, छन्द 3/170
2. क्रियाकोश, छन्द 457
3. जीवन्धरस्वागिचरित, छन्द 5/27
4. वही, छन्द 3/171
5. अध्यात्मबारहखड़ी छन्द – अ/320
6. वही, छन्द –भ/104
7. जीवन्धरस्वागिचरित, छन्द 4/47-48
8. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द–ए/107

6.1.3.4.2.2. विरोधमूलक अलंकार :–

पं० दौलतराम के साहित्य में विरोधमूलक अलंकारों का प्रयोग कम ही हुआ है। कतिपय विरोधमूलक अलंकारों के प्रयोग इस प्रकार हैं :–

1. विभावना – "शस्त्रास्त्र जु तेरे नहीं, बिनु शस्त्र जु जगराव।[1]"
2. विरोधाभास – "सब मांही भरपूर, सब तें न्यारे नरपती।
   अष्ट करम चकचूर, सूर सवल दे सिवगति।।[2]"
3. सम – "रतिस्वरूप रामा इहै, कामस्वरूप कुमार।
   वय किसोर नागर नवल, क्यों न बढै सिंगार।।[3]"
4. विचित्र – "सब सेनातें रहित जु स्वामी, सेनाधर सेवैं दरबार।[4]"
5. रत्नावली – "हिंसा मृषा अदत्तधन, मैथुन परिग्रह साज।
   एकदेश त्यागी गृही, सब त्यागी रिषिराज।[5]"

6.1.3.4.2.3. शृंखलाबन्ध अलंकार :–

शृंखलामूलक अलंकारों की मूल प्रवृत्ति शृंखला पर आधारित है। इनमें एक पद या वाक्य दूसरे पद या वाक्य से सम्बद्ध रहता है। महाकवि पं० दौलतराम के साहित्य में शृंखलामूलक अलंकारों का प्रयोग भी अतीव सुन्दर बन पड़ा है। यथा –

1. सांगरूपक – "गो कहिए तरु नांम तू जु जिनरूष है।
   दरशन बीज दयाल तत्त्वरुचि भूष है।
   ज्ञानांकुर जगदेव व्रत्त पत्रो सदा।
   भावपुष्पधर तू जु नांहि पतझर कदा।।
   प्रशम डाल घन छाय सपक्षी उच्च तू।

---

1. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द–श/13
2. चतुर-चितारणी, छन्द 81
3. जीवन्धरस्वामिचरित, छन्द 2/50
4. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द–अ/397
5. क्रियाकोश, छन्द 390

मुनि पंखिन क़ो वास सदा अत्युच्च तू।
कीरति भास सुवास मुक्ति फलदाय तू।
अटल अनादि अछेह सकल जगराय तू।।[1]"

2. कारणमाला – "जग में धन वल्लभ है भाई। धन हू तैं जीतव अधिकाई।
जीतव तें लज्जा है बल्लभ। लज्जा तें नारी नर दुल्लभ।।[2]"

3. मालादीपक – "जौंनि अनेक विषैं यह दुल्लभ, ताहू मैं इह रूपा।
नांही वर वनराज सारिखौ, पुरुषनि मांहि अनूपा।।[3]"

4. सार – "कुंद पहुप अर हंस पख, जा सम उज्जल नांहि।
ऐसौ उज्जल परम जस, प्रगट्यौ पिरथी मांहि।।[4]"

6.1.3.4.2.4. न्यायमूलक अलंकार :–

न्यामूलक अलंकार तर्क आदि विभिन्न न्यायों पर अवलम्बित होते हैं। पं. दौलतराम कासलीवाल के साहित्य में ऐसे न्यायमूलक अलंकारों का भी पर्याप्त प्रयोग हुआ है। यथा :–

1. प्रतीप – "करौं अराधन नाथ की, जो अनंत द्युति रूप।
अगणित ससि सूरिज विभा, नख सम नांहि अनूप।।[5]"

2. काव्यलिंग – "नहिं मोहनिद्रा जिसी, दीरघ निद्रा कोइ।
सोवै सब जग मोह वशि, ज्ञान चेतना खोइ।।[6]"

3. हेतु – "तैसे दरशन ज्ञान अनूपा। एककाल उपजै निजरूपा।।
दरशन कारन रूपी कहिए। कारिजरूपी ज्ञान सु गहिए।।[7]"

4. मीलित – "भव शिव जाति न दोय, भेद सकल भ्रांति हि तनो।
भ्रांति न अपनी होय, इह धारै विकलप घनो।।[8]"

---

1. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द–ग/12–93
2. क्रियाकोश, छन्द 995
3. वही, छन्द 3/168
4. जीवन्धरस्वामिचरित, छन्द 1/144
5. अध्यात्मबारहखड़ी, मंगलाचरण छन्द 37
6. विवेक-विलास, छन्द 109
7. क्रियाकोश, छन्द 2463
8. चतुर-चितारणी, छन्द 12

5. सामान्य – "देवी और न क़ोय, शक्ति तिहारी चंडिका।
सो निज सत्ता होय, मोहासुर दल खंडिका।।[1]"

6. समुच्चय – "जल तरंग दुविधा नहीं, भानु रश्मि नहिं भेद।
तैसे कमला हरि विषैं, श्रुति गावै जु अभेद।।[2]"

6.1.3.4.2.5. गूढ़ार्थमूलक अलंकार :–

पं० दौलतराम कासलीवाल के साहित्य में गूढ़ार्थमूलक अलंकारों का भी विपुल प्रयोग देखने को मिलता है, जिनमें से कतिपय प्रमुख अलंकार निम्न हैं:–

1. वक्रोक्ति – "तब गुणमाला लयो बुलाये। पूछ्यौ विप्र कहां तैं आये।।
विप्र कह्यौ पाछा तैं आवैं। अर आगा को पांव धरांवै।।[3]"

2. स्वभावोक्ति – "ताही वन श्रीपाल नरेस। आ निकसे पलट्यो तनभेष।।
महा कोढ ताके तन मांहि। लार सात सै सेवक थांहि।।
सो भी सर्व कोढ करि सही। वास दुरगंध धार तन कही।।
छत्र चमर सिंघासण लार। राज त्रजु ज वन्यो सब सार।।
ये तन वास दुरगंध अपार। फैल रही सब बन के थान।।[4]"

3. लोकोक्ति – "सम स्वरूप सम गुन सबै, सम विद्या सम सील।
क्यों न परसपर प्रीति है, चित्त एक द्वय डील।।[5]"

6.2. छन्दः-

भाव-संप्रेषण, व्यवस्था, अमरता, मार्मिकता, व्यंजना-क्षमता, प्रभावोत्पादकता आदि अनेक दृष्टियों से छन्द का महत्त्व गद्य की अपेक्षा अधिक होता है।

'छन्द' शब्द की व्युत्पत्ति छद् धातु से मानी जाती है, जिसका अर्थ आवृत्त एवं रक्षित करने के साथ-साथ प्रसन्न करना भी होता है। निघण्टु में भी छद् धातु का प्रयोग प्रसन्न करने के अर्थ में हुआ है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि छन्द केवल वर्ण या मात्राओं की गणना से संबंधित विशिष्ट नियमों द्वारा नियोजित रचना का ही नाम नहीं है, अपितु छन्द कवि-अनुभूति को सम्पादित करने का भावात्मक

1. चतुर-चितारणी, छन्द 15
2. अध्यात्मबारहखड़ी, मंगलाचरण, छन्द 44
3. जीवन्धरस्वामिचरित, छन्द 4/105–106
4. श्रीपालचरित, छन्द 44 से 46
5. जीवन्धरस्वामि चरित, छन्द 2/51

कार्य भी करते हैं। अथवा, इसे इसप्रकार भी कहा जा सकता है कि छन्दों के द्वारा गेयता तो उत्पन्न होती ही है, रस और भाव की भी अभिव्यक्ति होती है। यही कारण है कि किसी भी रस या भाव की सफलतर अभिव्यक्ति के लिए किसी भी छन्द का आश्रय नहीं लिया जा सकता। इस सम्बन्ध में इसी प्रकार के विचार कविवर श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने भी अपने काव्य-संकलन 'पल्लव' की भूमिका में व्यक्त किये हैं, जो मूलतः द्रष्टव्य हैं। इसी प्रकार आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत 'साहित्य का मर्म' भी इस सन्दर्भ में विशेषतया अवलोकनीय है।

छन्दों के मूलतः दो भेद किये गये हैं:— वैदिक और लौकिक। वैदिक छन्दों का प्रयोग पं० दौलतराम कासलीवाल के साहित्य में नहीं प्राप्त होता, अतः उनकी चर्चा यहाँ अनावश्यक है। लौकिक छन्द दो प्रकार के होते हैं:— वर्णिक और मात्रिक। दोनों के पुनः तीन-तीन भेद होते हैं:— सम, अर्धसम और विषम।

6.2.1. वर्णिक छन्दः-

पं० दौलतराम कासलीवाल के साहित्य में वर्णिक छन्दों में से मात्र सम छन्दों का ही प्रयोग हुआ है, अर्धसम और विषम छन्दों का नहीं। वैसे भी इन दोनों प्रकार के वर्णिक छन्दों का प्रयोग विरल रूप में ही प्राप्त होता है। वर्णिक छन्दों के प्रयोग की दृष्टि से कवि की विशाल काव्य-रचना 'अध्यात्मबारहखड़ी' विशेषतया उल्लेखनीय है।

पं० दौलतराम कासलीवाल के समग्र साहित्य में अग्रलिखित 13 सम वर्णिक छन्दों का प्रयोग हुआ है:— अनुष्टुप्, उपेन्द्रवज्रा, तोटक, द्रुतविलंबित, भुजंगप्रयात, मन्दाक्रान्ता, मालिनी, मोतीदाम, वसंततिलका, शार्दूलविक्रीड़ित, शालिनी, सवैया और स्रग्धरा। इनमें से अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग केवल संस्कृत–काव्यों में किया गया है, उपेन्द्रवज्रा व द्रुतविलंबित छन्दों का प्रयोग संस्कृत व हिन्दी दोनों के काव्यों में हुआ है तथा सर्वाधिक प्रयोग सवैया छन्द का हुआ है। बहुप्रयुक्त सवैया दोनों प्रकार के हैं:— तेईसा भी और इकतीसा भी। तेईसा सवैया यद्यपि अनेक प्रकार का होता है, किन्तु पं० दौलतराम के साहित्य में प्रायः मत्तगयन्द का ही प्रयोग अधिक हुआ है। एक स्थल पर 25 वर्णवाला सवैया भी देखने को मिल जाता है। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं भुजंगी शीर्षक से सूचित छन्द का प्रयोग भी मिलता है, जो वस्तुतः भुजंगी नहीं, भुजंगप्रयात ही है। अब यहाँ उदाहरणस्वरूप अवलोकनार्थ कतिपय सम वर्णिक छन्दों के प्रयोग प्रस्तुत हैं:—

(क) उपेन्द्रवज्राः— *"मिल्यौ न तो सौं इस जीव क्वापी।*

रुल्यो जु तातैं जग मैं सतापी।।

मिले जु तो सौं मुनि–सिद्ध हूए।

लिए न जन्मा कबहू न मूए।।"

(ख) तोटकः– *"भव्या जु कमोदिनि तू जु ससी। भव्या कमला तुव भानु जसी।।*

तू सर्वकलाधर कपट हरो। कनकाचल न्हांन जु कारवरो।।"

(ग) शार्दूलविक्रीड़ितः– *"तू ही एक रमापती जिनवरो धारै रमा शास्वती।*

तेरी शक्ति चिदात्मरूप कमला ज्ञानात्मिका भासती।

बंध्यापुत्र विहायकु समै ठानैं कभी सेहुरो।

तवद्भक्ती बिनु मूढ तापस तथा तौ पावई छेहुरो।।"

(घ) सवैया(इकतीसा):–

"अंबर ही अंबर हैं बोढिवे के काजि जाके, धरा सीसु सेज जाके बड़ी है जु मीरी तैं।

दिसा परिधान परधान निजभाव भाई, ज्ञानादिक नंत जाकैं भले हैं स्वसीरी तैं।।

गुहा गिर गेह अर नेह सब जीवनितैं, प्रज्ञा सी सुगेहिनी महेशिनी वजीरी तैं।

रीरी नांहि भाषि वौ न जाचिवौ न काहू पै जु, कोटिक अमीरी वारि डरूं या फकीरी पै।।"

(ङ) स्रग्धराः– *"मोकौं भक्ती जु देहो, अपर नहिं चहूं एक तोही जु सेऊं।*

तेरे पादांबुजा जे, मधुर मधु भरा है अली वास लेऊं।

अंबा ताता च भ्राता इक तुवहि लखूं एक तो ही जु वेऊं।

सेऊं सेऊं जु तोही तुवमय जु भयो धर्म नावा जु खेऊं।।"

6.2.2. मात्रिक छन्दः-

पं० दौलतराम कासलीवाल के साहित्य में वर्णिक छन्दों की अपेक्षा मात्रिक छन्दों का प्रयोग अधिक हुआ है। मात्रिक में भी यों तो तीनों ही प्रकार के छन्दों का प्रयोग मिलता है, परन्तु विषम की अपेक्षा सम और अर्धसम छन्दों का ही प्रयोग अधिक दृष्टिगोचर होता है।

---

1. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द – म/109
2. वही, छन्द – क/9
3. वही, छन्द – ब/116
4. अध्यात्मबारहखड़ी छन्द – अं/64
5. वही, छन्द – अं/67

1. **सम मात्रिक छन्दः**— पं० दौलतराम कासलीवाल के साहित्य में अग्रलिखित 13 सम मात्रिक छन्दों का प्रयोग हुआ हैः— अरिल्ल (अडिल्ल), गीता, गीतिका, चालि, चौपई, चौपाई, जोगीरासा, त्रिभंगी, नाराच, पद्धरी, बेसरी, मनोहर, लरिल। ज्ञातव्य है कि गीता और गीतिका में बहुत सामान्य-सा अन्तर है। गीतिका में ही यदि अंत में लघु-गुरु और आ जाए तो उसे गीता कह दिया जाता है।[1] हिन्दी में इसका विशेष प्रयोग चंद, केशव और भूषण ने किया है।[2] अब यहाँ उदाहरणस्वरूप कतिपय सम मात्रिक छन्दों के प्रयोग द्रष्टव्य हैं :—

(क) अरिल्लः— *"माला घालि कंठि कंवर कै खग सुता,*
सीलवंति गुणवंति रूप करि अद्भुता।
कहा कहा नहिं होय पुण्य परभाव सौं,
तातैं धारौ पुण्य भव्य सुभ भाव सौं।[3]"

(ख) गीताः— *"आश्चर्यकारी लोकतारी आप आप्तनिरंजनं।*
आसक्ति त्यागी परमभागी आदि सकल जु रंजनं।[4]"

(ग) बेसरीः— *"उपादेय है एक निजातम। हेय सकल पर वस्तु परातम।।*
पर परिणति तजिहौं निज लीना। इहै कथन चौथा में कीना।[5]"

(घ) मनोहरः— *"ए मूढ अचेतो कछु इक चेतौ, आखिर जग मैं मरना है।*
धन रह ही इहां ही संग न जाहीं, तातैं दान सु करना है।।
बिन दान न सिद्धी है अघवृद्धी, दुरगति दुख अनुसरना है।
करपणता धारी शठमति भारी, तिनहिं न सुभ गति वरना है।[6]"

2. **अर्धसम मात्रिक छन्दः**— पं० दौलतराम कासलीवाल के साहित्य में अग्रलिखित 3 अर्धसम मात्रिक छन्दों का प्रयोग हुआ हैः— दोहा, सोरठा और बरवै। इनमें सर्वाधिक प्रयोग दोहा का हुआ है। दोहा के अन्तर्गत एक-दो स्थलों पर उसका एक उपभेद बड़दोहा भी प्रयुक्त हुआ है। यथाः—

---

1. हिन्दी-साहित्य-कोश, भाग 1, पृष्ठ 223
2. वही, वही, पृष्ठ 223
3. जीवन्धरस्वामिचरित, छन्द 2/39
4. अध्यात्मबारहखड़ी छन्द आ/92
5. समयसार-टब्बाटीका, अंतिम प्रशस्ति, छन्द 8
6. क्रियाकोश, छन्द 2304

(क) दोहाः— *"तू झगरे तैं दूरि है, झगरा तेरे नांहि।*
झगरा झांटा सब मिटै, जब आवै तुव पांहि।।[1]"

(ख) बड़दोहाः— *"पापभीत ते प्रानी ज्ञानी, करि उपाय रण टारैं।*
काहू कौं न सतांवै कबही, सहजैं काम सुधारैं।।[2]"

(ग) सोरठाः— *"हम दासा जिनदेव, कौलग जौलग जगदसा।*
होय कर्म कौ छेव, तब हम है जिनवर जिसा।।[3]"

(घ) बरवैः *"हमें देहु निज शौच जु, जगपति देव।*
हरे मलिनता हरिवर, दै निज सेव।।[4]"

3. विषम मात्रिक छन्दः— पं० दौलतराम कासलीवाल के साहित्य में अग्रलिखित 2 विषम मात्रिक छन्दों का प्रयोग हुआ हैः— छप्पय और कुण्डलिया। इनमें अधिक प्रयोग छप्पय का मिलता है। दोनों के एक-एक प्रयोग अवलोकनार्थ प्रस्तुत हैंः—

(क) छप्पयः— *"मिष्ट सु जिनमत सार, मिष्ट सतगुरु की सेवा।*
मिष्ट व्रत्त दृढ़ धरन, मिष्ट भजिबौ जिनदेवा।।
मिष्ट जु साधु महंत, मिष्ट चरचा तत्त्वनि की।।
मिष्ट सांहिम्मी मिलन है, मिष्ट द्विदस तप धारिबौं।
मिष्ट जु अनशन मरण है, मिष्ट जगत को त्यागिबौ॥[5]"

(ख) कुण्डलियाः— *"पापी तोहि जु ना लहै, खग मृग मीन हतै जु।*
जीवदया पालै जिके, ते जन तोहि लहै जु।।
ते जन तोहि लहै जु, होय तेरे निज दासा।
तुव परसाद जिनिंद, पावई तुव पुरि वासा।।

---

1. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द – झ/9
2. जीवन्धरस्वामिचरित, छन्द 3/178
3. चतुर-चितारणी, छन्द 18
4. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द – श/127
5. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द – म/92

मींट न आंखि लगै जु, साधु ध्यावै सु प्रतापी।

खग मृग मीन हतै जु, ना लहै तोहि जु पापी।।[1]"

इस प्रकार हम देखते हैं कि महाकवि पं० दौलतराम कासलीवाल के साहित्य में कुल मिलाकर 32 प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है, जिनमें 13 प्रकार के छन्द वर्णिक हैं और 19 प्रकार के मात्रिक। सभी छन्दों के प्रयोग अत्यन्त कुशलतापूर्ण एवं छन्दशास्त्रीय नियमों के अनुकूल हैं जो सिद्ध करते हैं कि पं० दौलतराम विविध छन्दों के विलक्षण प्रयोक्ता हैं। इतने सारे छन्दों के और वह भी एक-से-एक मनोहर प्रयोग हमें छन्दसम्राट् चन्द वरदाई की स्मृति दिलाते हैं।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि पं० दौलतराम कासलीवाल की भाषा सरल-सुबोध जनभाषा है, जिसमें जैन-सहित्य के परंपरा प्राप्त तत्सम शब्दों के अतिरिक्त राजस्थानी, ब्रज और उर्दू के भी अनेक शब्दों का स्वाभाविक प्रयोग हुआ है। शब्द-शक्ति, प्रतीक एवं लाकोक्ति-मुहावरों के प्रयोग से भाषा के अभिव्यक्ति-सामर्थ्य में बहुगुणी वृद्धि हुई है। अलंकारों का सहज प्रयोग और छन्दों का वैविध्य भी पं० दौलतराम कासलीवाल के अभिव्यक्ति-पक्ष की उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं।

□□□

---

1. अध्यात्मबारहखड़ी, छन्द – म/116

सप्तम अध्याय

उपसंहार

अब यहाँ इस अध्याय में पं० दौलतराम कासलीवाल और उनके साहित्य के सम्बन्ध में किये गये अब तक के सम्पूर्ण अध्ययन को समग्रता के साथ संक्षेप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है।

सर्वप्रथम पृष्ठभूमि के रूप में यह सुस्पष्ट है कि पं० दौलतराम कासलीवाल का आविर्भाव उस समय हुआ था जब देश का वातावरण समाज, राजनीति, साहित्य, संस्कृति आदि सभी दृष्टियों से अत्यन्त विषम था। देश में प्रायः सर्वत्र सामन्तवाद का बोलबाला था और सामन्तशाही के जितने भी दोष हुआ करते हैं उनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव जन-सामान्य के जीवन पर पड़ रहा था। राजनीति में अस्थिरता और ऐय्याशी फैली हुई थी, राजा लोग राज्य या प्रजा की देख-भाल नहीं कर पा रहे थे, परिणामतः राज्य में अव्यवस्था और अशांति बढ़ती जा रही थी। साहित्यकार राजाश्रित हो रहे थे, अतः प्रतिभावान होते हुए भी अपने काव्य का सर्वोत्तम रूप प्रस्तुत नहीं कर पाते थे। इससे साहित्य का भी जन-कल्याणकारी प्रभाव समाप्त होता जा रहा था तथा विलास-वैभव के भारी प्रदर्शन के कारण देश की सांस्कृतिक अवस्था भी अत्यन्त शोचनीय होती जा रही थी। धर्मस्थान भी पापाचार और भारी अज्ञानता के केन्द्र बनते जा रहे थे।

पं० दौलतराम कासलीवाल और उनके साहित्य का अध्ययन करने से पूर्व दूसरी बात एक यह भी स्पष्टतया ज्ञातव्य है कि हिन्दी-साहित्य में 'दौलतराम' नाम के अनेक साहित्यकार हो चुके हैं और उनमें से अधिकांश का काल भी लगभग एक ही है– विक्रम की अठारह-उन्नीसवीं शताब्दी। अतः इनमें परस्पर भ्रम की बहुत संभावना है। अनेक शोधार्थियों और इतिहासकारों को इनमें परस्पर भ्रम हुआ भी है, क्योंकि उन्होंने किसी एक दौलतराम की रचनाओं को अन्य दौलतराम की बता दिया है। अतः ऐसी स्थिति में आलोच्य दौलतराम जिनको पं० दौलतराम कासलीवाल के नाम से ही जाना जाना उचित है, के जीवन और साहित्य का अध्ययन करते समय विशेष सावधानी की आवश्यकता है।

पं० दौलतराम कासलीवाल का नाम राजस्थान के मध्ययुगीन साहित्यकारों में विशेष प्रसिद्ध है। उनका जन्म आषाढ़ कृष्णा चर्तुदशी वि० सं० 1749 को राजस्थान के एक बसवा नामक छोटे से ग्राम में हुआ था जो वर्तमान में दौसा जिले के अन्तर्गत आता है। उनके पितामह का नाम घासीराम तथा पिता का नाम आनन्दराम था। उनके दो भाई थे:– निर्भयराम और बख्तावरलाल; तथा 6 पुत्र

थेः— अजितदास, शम्भुनाथ, जादूराम, शीतलदास, जोधराज और गुलाबदास। जोधराज कासलीवाल अपने पिता के समान ही एक उत्कृष्ट साहित्यकार थे जिन्होंने वि० सं० 1884 में 'सुखविलास' नामक विशाल ग्रन्थ की रचना की थी। इनके परिवार के महिला सदस्यों के सम्बन्ध में कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती।

पं० दौलतराम कासलीवाल जयपुर-राज्य में वकील या मंत्री के पद पर कार्यरत थे। साहित्य-सेवा का सम्पूर्ण कार्य उन्होंने राज्यकार्य करते हुए ही किया था, किन्तु यहाँ यह विशेषतया उल्लेखनीय है कि वे बिहारी आदि रीतिकालीन कवियों की भाँति राज्याश्रित कवि नहीं थे। साहित्य-सेवा तो उनकी निःस्वार्थ परोपकार वृत्ति का सहज परिणाम था।

राज्य-कार्य में नियुक्त होने के कारण पं० दौलतराम कासलीवाल का सम्पूर्ण जीवन किसी एक स्थान पर व्यतीत नहीं हुआ। अनुमान है कि वे जन्म से लेकर वि० सं० लगभग 1775 तक तो बसवा में ही रहे होंगे, किन्तु उसके बाद वि० सं० 1787 तक वे आगरा में आध्यात्मिक शास्त्र-सभा के सम्पर्क में रहे। उसके पश्चात् वि० सं० 1787 में वे राजसेवा में नियुक्त होकर मथुरा गये जहाँ लगभग छः माह रहे। उसके पश्चात् वि० सं० 1793 में उन्हें महाराजा सवाई जयसिंहजी के पुत्र कुँवर माधोसिंहजी की सेवा में उनके मंत्री के रूप में उदयपुर भेजा गया। वहाँ से वि० सं० लगभग 1808 में वे जयपुर आ गये थे और जयपुर आने के पश्चात् वे कहीं नहीं गये। उन्होंने अपना शेष सम्पूर्ण जीवन जयपुर में ही व्यतीत किया।

उनका निधन जयपुर में ही 80 वर्ष, 2 माह और 3 दिन की उम्र में भाद्रपद शुक्ला द्वितीया वि० सं० 1829 को हुआ था।

पं० दौलतराम कासलीवाल अद्भुत प्रतिभाशाली विद्वान थे। उनकी विद्वत्ता की ख्याति दूर-दूर तक पहुँची हुई थी। अनेक जिज्ञासु लोग धर्मचर्चा हेतु उनसे मिलने आते थे। उनको जैन-सिद्धान्तों का ज्ञान तो बहुत व्यापक एवं निर्मल था ही, संस्कृत-प्राकृतादि अनेक भाषाओं, शब्दकोश, व्याकरण, ज्योतिष, न्याय, योगादि अनेक विषयों का भी अच्छा ज्ञान था। उनकी विद्वत्ता की प्रशंसा अनेक आधुनिक समीक्षकों और इतिहासकारों ने भी की है।

इतना विद्वान होने पर भी उनको तनिक भी अहंकार नहीं था। विनम्रता और सरलता उनके स्वभाव की अभिन्न विशेषताएँ थीं। वे अत्यन्त दयालु प्रकृति के मानव थे। उनके मन में प्राणिमात्र के प्रति दया और प्रेम का भाव भरा था। साहित्य-निर्माण भी उनकी हार्दिक करुणा का ही परिणाम था, क्योंकि वे किसी स्वार्थ या राज्याश्रय से प्रेरित होकर साहित्य-निर्माण नहीं कर रहे थे। अत्यन्त

वृद्धावस्था में भी वे अपनी परोपकार-भावना से ही दिन-रात साहित्य-लेखन में जुटे हुए थे। वे बड़े आध्यात्मिक व्यक्ति भी थे, किन्तु अध्यात्मिकता के नाम पर वे सामाजिक एवं राजकीय कर्त्तव्यों से विमुख नहीं थे, अपितु उनको पूरी निष्ठा से करते थे। यही कारण है कि उनको अनेक बार राज्य की ओर से एतदर्थ सम्मानित भी किया गया था। वे किसी की निन्दा-प्रशंसा और खण्डन-मण्डन की भावना से भी सर्वथा दूर ही रहते थे और अनवरत साहित्य-निर्माण व आत्मसाधना में लगे रहने को ही अपना श्रेष्ठ कार्य समझते थे।

पं० दौलतराम कासलीवाल की साहित्य-साधना वि० सं० 1777 से प्रारंभ हुई और अंत तक निरंतर चलती रही। उन्होंने अपने 53 वर्ष के साहित्यिक जीवन में कुल मिलाकर 20 कृतियों का निर्माण किया, जिनमें 10 काव्यात्मक हैं और 10 गद्यात्मक। काव्यात्मक रचनाएँ तो सभी उनकी स्वतंत्र एवं मौलिक कृतियाँ हैं, किन्तु गद्यात्मक रचनाओं में कोई भी उनकी पूर्णतः स्वतंत्र या मौलिक कृति नहीं है, अपितु प्राचीन संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थों के अनुवाद या टीकाओं के रूप में हैं। काव्यात्मक रचनाएँ दो प्रकार की हैं:– चरितकाव्य और विचारकाव्य; तथा गद्यात्मक रचनाओं को भी दो उपवर्गों में विभाजित किया जा सकता हैं:– अनुवादात्मक गद्यरचनाएँ और टीकात्मक गद्यरचनाएँ। सभी रचनाओं के नाम, रचना-काल, स्वरूप, विषय, परिमाण, प्रकाशन आदि की संक्षिप्त जानकारी इसी शोध-प्रबन्ध के पृष्ठ 52 पर प्रकाशित तालिका से प्राप्त की जा सकती है।

पं० दौलतराम कासलीवाल ने 3 चरितकाव्यों की रचना की हैं:– श्रेणिकचरित, जीवन्धरस्वामिचरित और श्रीपालचरित। तीनों ही चरितकाव्यों का संरचना-विधान जैन-चरितकाव्य-परंपरा के अत्यधिक अनुकूल है। यथा– उनकी कथावस्तु पौराणिक है, उनका नामकरण नायक के नाम पर है, उनका प्रारंभ वक्ता-श्रोता की परंपरित शैली में हुआ है, प्रसंगवश उनमें जैनधर्म के सिद्धान्तों का समावेश है और उनका पर्यवसान शांतरस में होता है, इत्यादि। तथापि रस, भाव, चरित्र-चित्रण, संदेश आदि अनेक दृष्टियों से ये हिन्दी-चरितकाव्य-परम्परा की अतीव उत्कृष्ट कृतियाँ सिद्ध होती हैं। इनमें धर्म, दर्शन, नीति आदि अनेक विषयों का भी सुन्दर प्रतिपादन हुआ है। धर्म के विषय में कवि का कहना है कि व्यवहार से जीवदया का नाम धर्म है और निश्चय से वस्तुस्वभाव का नाम धर्म है। दर्शन के अन्तर्गत मुख्यरूप से जैनदर्शन के कर्मसिद्धान्त का प्रतिपादन किया है और उसके माध्यम से आत्मा की अमरता को तो सिद्ध किया ही है, जनता को यह शुभ सन्देश भी दिया है कि संसार के समस्त जीव अपने ही समान हैं अतः कभी किसी जीव को दुःख मत पहुँचाओ। नीतिसंबंधी विषयों में सत्संगति, मित्रता, उत्तम पुरुष व अधम पुरुष की प्रकृति, परोपकार, स्वामिभक्ति आदि विषय प्रमुख

हैं। इनका प्रतिपादन कवि ने प्रायः उसी परम्परित रूप में किया है जिसमें भर्तृहरि, गिरिधर, रहीम आदि अनेक प्रसिद्ध नीति-कवियों ने किया है।

पं० दौलतराम कासलीवाल की अग्रलिखित 7 रचनाएँ विचारकाव्य की कोटि में आती हैं:– क्रियाकोश, अध्यात्मबारहखड़ी, विवेक-विलास, चौबीस दण्डक, चतुर-चितारणी, सार-समुच्चय और सिद्धपूजाष्टक। चरितकाव्यों की भाँति उनके सातों विचारकाव्य भी जैन-विचारकाव्य-परंपरा में अपना विशिष्ट महत्त्व धारण करते हैं। उनमें भी धर्म, दर्शन नीति, भक्ति, अध्यात्म आदि अनेक विषयों का मौलिक प्रतिपादन हुआ है। इनमें से धर्म, दर्शन एवं नीति सम्बन्धी विषयों का प्रतिपादन तो चरितकाव्यों के समान ही हुआ है तथा अध्यात्म विषय के अन्तर्गत आत्मा का स्वरूप, आत्मा की अवस्थाएँ, शरीर और आत्मा का सम्बन्ध एवं आत्मानुभव को समझाया गया है और भक्ति के अन्तर्गत आराध्य, भक्ति, भक्ति का फल, भक्त, भक्त की अभिलाषा एवं भगवत्-प्राप्ति के उपाय पर प्रकाश डाला गया है।

पं० दौलतराम कासलीवाल की सभी गद्य-रचनाएँ आकार की दृष्टि से तो अत्यन्त विशाल हैं ही, भाव एवं भाषा की दृष्टि से भी हिन्दी-साहित्य की अनमोल धरोहर सिद्ध होती हैं। उस समय में इतना अधिक और वह भी इतना परिमार्जित गद्य हिन्दी-भाषा एवं साहित्य के इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटना है। इसके अतिरिक्त वर्ण्य विषयों की दृष्टि से भी पं० दौलतराम की गद्य–रचनाएँ अपने आप में अनूठी हैं। उनमें वस्तु-वर्णन, प्रकृति-चित्रण, सौन्दर्य-चित्रण, भाव-निरूपण, चरित्र-चित्रण, धर्म, दर्शन, आचार, भक्ति, नीति एवं अध्यात्म आदि विविध विषयों का वर्णन किया गया है। वस्तु-वर्णन में लोक, काल, वैभव, युद्ध, सेना आदि के वर्णन विशेषतया द्रष्टव्य हैं। प्रकृति-चित्रण के अंतर्गत वन, पर्वत, रात्रि और वसन्तादि ऋतुओं के चित्रण मुख्य हैं। सौन्दर्य–चित्रण में मानवीय एवं देवोपम– दोनों प्रकार के सौन्दर्य का चित्रण प्राप्त होता है। भाव-निरूपण में क्रोध, शोक, स्वाभिमान, पश्चात्ताप, चिन्ता, हर्ष आदि भावों का हृदयहारी चित्रण हुआ है। चरित्र–चित्रण में अनेकानेक स्त्री-पुरुषों का चरित्र पठनीय है। धर्म के अन्तर्गत धर्म की परिभाषा एवं उसके औपचारिक भेदों को समझाया गया है, साथ ही कतिपय धार्मिक विकृतियों का निराकरण भी किया गया है। दर्शन के अन्तर्गत जैन-दर्शन के रत्नत्रय, कर्म सिद्धान्त, अनेकान्त-स्याद्वाद, षड्द्रव्यात्मक विश्व एवं प्रमाण-व्यवस्था आदि विषयों को स्पष्ट किया गया है। आचार में अभक्ष्य-भक्षण, रात्रि-भोजन आदि बिन्दुओं पर प्रकाश डाला गया है। भक्ति के अंतर्गत आराध्य, भक्त, भक्ति, भक्ति की महिमा एवं भक्ति के फल के सम्बन्ध में लेखक के विचार व्यक्त हुये हैं। नीति के अन्तर्गत जीवन के विविध पक्षों को स्पर्श किया गया है जिनमें मुख्यतया सदाचार, परोपकार, साधु-स्वभाव, दुर्जन-प्रकृति, संगति, याचनावृत्ति-निषेध, पराधीनता-निन्दा, कृतज्ञता, मित्रता

आदि विषय उल्लेखनीय हैं। आध्यात्मिक विषयों में आत्मा का स्वरूप, आत्मा की शरीरादि परपदार्थों से भिन्नता एवं आत्मानुभूति आदि विषय उल्लेखनीय हैं।

भाषा की दृष्टि से भी पं० दौलतराम कासलीवाल के साहित्य का विशेष महत्त्व है, क्योंकि वह उस काल की ऐसी मिश्रित भाषा है जिसमें एक नहीं, तीन-तीन भाषाओं का समवाय हुआ है– राजस्थानी, ब्रज और खड़ीबोली। यही कारण है कि पं० दौलतराम कासलीवाल के सम्पूर्ण साहित्य की भाषा का सम्यक् अध्ययन एक स्वतंत्र शोध-प्रबन्ध की अपेक्षा रखता है, तथापि प्रस्तुत अध्ययन की पूर्णता-हेतु यहाँ भी उसका संक्षिप्त अध्ययन किया गया है। पं० दौलतराम की काव्यभाषा और गद्यभाषा में कुछ अन्तर है, अतः दोनों को पृथक्-पृथक् समझना चाहिए। संक्षेपतः, उनकी काव्यभाषा सरल-सुबोध ब्रजभाषा है, जिस पर राजस्थानी का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है और उनके गद्य की भाषा उस काल में बहुप्रयुक्त वह देशभाषा है, जो खड़ी बोली के अत्यधिक निकट होने के साथ ही उस क्षेत्र की राजस्थानी से भी प्रभावित है। पं० दौलतराम की भाषा में विविध शब्द-शक्तियों, प्रतीकों, लोकोक्ति-मुहावरों और अलंकारों का भी सुष्ठु प्रयोग हुआ है जिससे रोचकता व चामत्कारिता तो उत्पन्न हुई ही है, भाषा की अभिव्यक्ति-सामर्थ्य भी बहुत बढ़ गई है। पं० दौलतराम के साहित्य में ढेर सारे मात्रिक और वर्णिक छन्दों का भी कुशलतापूर्ण प्रयोग हुआ है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि पं० दौलतराम कासलीवाल मध्ययुग के महान राजस्थानी साहित्यकार हैं और उनका जनकल्याणकारी साहित्य परिमाण की दृष्टि से तो विशाल है ही, प्रतिपाद्य एवं शिल्प की दृष्टियों से भी बहुत महत्त्वपूर्ण है।

□□□

परिशिष्ट-1

सहायक-ग्रन्थ-सूची

(क) आधार-ग्रंथ[1]:-

1. **अध्यात्मबारहखड़ी**:– श्री दि० जैन मंदिर बड़ा तेरापंथियान, घी वालों का रास्ता, जौहरी बाजार, जयपुर, राज० के बाबा दुलीचन्द ग्रन्थ-भण्डार में उपलब्ध हस्तलिखित प्रति।
2. **अध्यात्मबारहखड़ी**:– श्री दि० जैन मन्दिर नया, धर्मपुरा, दिल्ली के शास्त्र-भण्डार में उपलब्ध हस्तलिखित प्रति।
3. **आदिपुराण-वचनिका**:– श्री दि० जैन मन्दिर सर्राफान, खतौली, मुजफ्फरनगर, उ० प्र० में उपलब्ध हस्तलिखित प्रति।
4. **कार्तिकेयानुप्रेक्षा-टब्बाटीका**:– श्री दि० जैन मन्दिर नया, धर्मपुरा, दिल्ली के शास्त्र-भण्डार में उपलब्ध हस्तलिखित प्रति।
5. **क्रियाकोश**:– संपादक– सोनपाल पाठम निवासी; जैन-साहित्य-प्रसारक कार्यालय, हीराबाग, गिरगाँव, बम्बई; प्रथम संस्करण – चैत्र, वि० सं० 1976, वी० नि० सं० 2445।
6. **क्रियाकोश** ('श्रावकाचार-संग्रह' भाग 5 में संगृहीत):– संपादक– सिद्धान्ताचार्य पं० हीरालाल शास्त्री; जैन संस्कृति-संरक्षक संघ, शोलापुर, महाराष्ट्र; प्रथमावृत्ति–1978 ई०।
7. **चतुर-चितारणी**:– श्री दि० जैन मन्दिर नया, धर्मपुरा, दिल्ली के शास्त्र-भण्डार में गुटका-संख्या –ऊ/9 में उपलब्ध हस्तलिखित प्रति।
8. **चौबीस दण्डक**:– प्रकाशक– चन्दाबाई दि० जैन ग्रन्थ-रत्नमाला, पालीवाड़ा, दिल्ली; संस्करण और प्रकाशन-समय अनुल्लिखित है।
9. **जीवन्धरस्वामिचरित** ('महाकवि दौलतराम कासलीवाल–व्यक्तित्व एवं कृतित्व' के अन्तर्गत प्रकाशित):– श्री दि० जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी, चौड़ा रास्ता, जयपुर, राज०; प्रथम संस्करण– जून 1973 ई०।
10. **तत्त्वार्थसूत्र-टब्बाटीका**:– श्री दि० जैन मन्दिर लूणकरण पांड्या, हल्दियों का रास्ता, जयपुर, राज० में उपलब्ध हस्तलिखित प्रति।
11. **पद्मपुराण-वचनिका**:– प्रकाशक– वीर पुस्तक भण्डार, मणिहारों का रास्ता, जयपुर, राज०; संस्करण – वी० नि० सं० 2514।
12. **परमात्मप्रकाश-वचनिका**:– श्री दि० जैन मन्दिर छत्तेवालान, खतौली, मुज़फ़्फरनगर, उ० प्र० में उपलब्ध हस्तलिखित प्रति।
13. **पुण्यास्रवकथाकोश-भाषा**:– श्री दि० जैन मन्दिर छत्तेवालान, खतौली, मुज़फ़्फरनगर, उ० प्र० में उपलब्ध हस्तलिखित प्रति।
14. **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-भाषाटीका**:– श्री दि० जैन मन्दिर छत्तेवालान, खतौली, मुज़फ़्फरनगर, उ० प्र० में उपलब्ध हस्तलिखित प्रति।
15. **वसुनन्दि-श्रावकाचार-टब्बाटीका**:– श्री दि० जैन अतिशय क्षेत्र, श्रीमहावीरजी, राज० के शास्त्र-भण्डार में उपलब्ध हस्तलिखित प्रति।

---

1. सभी आधार-ग्रन्थों के रचयिता पं० दौलतराम कासलीवाल हैं।

16. **विवेक-विलास** ('महाकवि दौलतराम कासलीवाल–व्यक्तित्व एवं कृतित्व' के अन्तर्गत प्रकाशित):– श्री दि० जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी, चौड़ा रास्ता, जयपुर, राज०; प्रथम संस्करण– जून 1973 ई०।

17. **श्रीपालचरित**:– श्री भट्टारक यशःकीर्ति दिगम्बर जैन धर्मार्थ ट्रस्ट, ऋषभदेव, उदयपुर, राज० के सरस्वती भवन में उपलब्ध हस्तलिखित प्रति।

18. **श्रेणिकचरित**:– श्री भट्टारक यशःकीर्ति दिगम्बर जैन धर्मार्थ ट्रस्ट के सरस्वती भवन में उपलब्ध हस्तलिखित प्रति।

19. **समयसार-टब्बाटीका**:– श्री दिगम्बर जैन मन्दिर भाईजी का, प्रतापगढ़, राज० के शास्त्र-भण्डार में उपलब्ध हस्तलिखित प्रति।

20. **सार-समुच्चय**:– श्री दि० जैन मन्दिर बधीचन्द जी, घी वालों का रास्ता, जौहरी बाजार, जयपुर, राज० के शास्त्र-भण्डार में उपलब्ध हस्तलिखित प्रति।

21. **सिद्धश्जाष्टक**:– श्री दि० जैन मन्दिर बड़ा तेरापंथियान, घीवालों का रास्ता, जौहरी बाजार, जयपुर, राज० के शास्त्र–भण्डार में उपलब्ध हस्तलिखित प्रति।

22. **हरिवंशपुराण-वचनिका**:– प्रकाशक– सिंघई दुलीचन्द पन्नालाल, देवरी (सागर) निवासी; जिनवाणी-प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता; संस्करण– रक्षाबन्धन, वी० नि० सं० 2450।

(ख) सहायक ग्रन्थ:-

1. **अलंकारों का ऐतिहासिक विकास**:– डॉ० राजवंश सहाय 'हीरा'; बिहार-हिन्दी-ग्रन्थ-अकादमी, कदम कुआँ, पटना–800003; प्रथम संस्करण 1974 ई०।

2. **आचार्य कुन्दकुन्द : व्यक्तित्व एवं कृतित्व**:– डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल; श्री महावीर ग्रन्थ अकादमी, 867, किसान मार्ग, बरकत नगर, टोंक रोड, जयपुर, राज०; प्रथम संस्करण– जुलाई 1990 ई०।

3. **आत्मख्याति** (समयसार-टीका):– आचार्य अमृतचन्द्रसूरि; पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर से प्रकाशित 'समयसार' में उपलब्ध, संस्करण – 1996 ई०।

4. **आदिकाल का हिन्दी-गद्य-साहित्य**:– डॉ० हरीश; रामा प्रकाशन, लखनऊ, उ० प्र०; प्रथम संस्करण – 1965 ई०।

5. **आदिपुराण**:– आचार्य जिनसेन; संपादन–अनुवाद – पं० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली–3; तृतीय संस्करण– 1988 ई०।

6. **आप्तपरीक्षा**:– श्रीमद्विद्यानन्द स्वामी; संपादक – डॉ० दरबारीलाल कोठिया; भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद्, लोहारिया, बाँसवाड़ा, राज०; द्वितीय संस्करण–1992 ई०।

7. **इंद्रध्वज विधान महोत्सव पत्रिका** ('पं० टोडरमल : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व' के अंतर्गत प्रकाशित):– ब्र० रायमल; पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, बापूनगर, ज्यपुर, राज०; द्वितीय संस्करण–1984 ई०।

8. **इष्टोपदेश**:– श्रीमद् देवनंदि अपर नाम पूज्यपाद स्वामी; श्री परमश्रुत-प्रभावक मंडल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, बोरिया, गुज०; तृतीय संस्करण– 2512 वी० नि० सं०।

9. **कबीर समग्र**: संपादक– प्रो० युगेश्वर; हिन्दी-प्रचारक संस्थान, पोस्ट बॉक्स 1106, पिशाचमोचन, वाराणसी–221010; प्रथम संस्करण–1994 ई०।

10. **कविप्रिया(केशव-ग्रन्थावली, खण्ड** 1 में प्रकाशित) :– आचार्य केशवदास; सम्पादक– विश्वनाथप्रसाद मिश्र; हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, उ०प्र०; संस्करण–1959 ई०।

11. **कविवर पं० दौलतराम – कृतित्व एवं व्यक्तित्व**:– संम्पादक– महावीरप्रसाद जैन; पल्लीवाल जैन प्रकाशन समिति, 332, स्कीम न० 10, अलवर, राज०; प्रथम संस्करण–1992 ई०।

12. **कार्तिकेयानुप्रेक्षाः**– स्वामी कार्तिकेय; भाषाटीका– पं० जयचन्द छाबड़ा; सम्पादक– पं० महेन्द्रकुमार पाटनी; श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़, सौराष्ट्र; तृतीय संस्करण–वी० नि० सं० 2505।

13. **खण्डेलवाल जैन समाज का वृहद् इतिहासः**– डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल; जैन इतिहास प्रकाशन संस्थान, 867, अमृत–कलश, किसान मार्ग, बरकत नगर, जयपुर; प्रथम संस्करण–मार्च 1989 ई०।

14. **छंदोऽलंकार प्रदीपः**– डॉ० संसारचन्द्र; उमेश प्रकाशन, 5, नाथ मार्केट, नई सड़क, दिल्ली; संस्करण–अगस्त 1978 ई०।

15. **छहढालाः**– कविवर दौलतराम; श्री कुन्दकुन्द-कहान दि० जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, ए–4, बापूनगर, जयपुर, राज०; पन्द्रहवाँ संस्करण– अक्टूबर 1989 ई०।

16. **जीवन-पत्रिकाः**–('पं० टोडरमल : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व' के परिशिष्ट-1 में प्रकाशित); पं० टोडरमल समारक ट्रस्ट, ए–4, बापूनगर, जयपुर, राज०; द्वितीय संस्करण–1984 ई०।

17. **जैन कथाओं का सांस्कृतिक अध्ययनः**– श्रीचन्द्र जैन; रोशनलाल जैन एण्ड संस, चैनसुखदास मार्ग, जयपुर, राज०; प्रथम संस्करण– 1971 ई०।

18. **जैन बाल गुटका** (प्रथम भाग):– बाबू ज्ञानचन्द्र जैनी; दिगम्बर जैन पुस्तकालय, अनारकली, जैन गली, लाहौर; प्रथम संस्करण– 1911 ई०।

19. **जैन शतकः**– कविवर भूधरदास; अनुवादक–वीरसागर जैन; अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, भिण्ड, म० प्र०; प्रथम संस्करण– मार्च 1990 ई०।

20. **जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश** (प्रथम खण्ड):– जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'; श्री वीर शासन संघ, 29, इन्द्रविश्वास रोड, कलकत्ता– 37 प्रथम संस्करण–1956 ई०।

21. **जैन साहित्य का बृहद् इतिहास** (भाग 6):– डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी; प्रकाशक– पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी; प्रकाशन-वर्ष – 1973 ई०

22. **ज्ञानानन्द-श्रावकाचार** :– ब्र० रायमल्ल; सम्पादक– डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री; प्रकाशक– श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, जैन मन्दिर मार्ग, चौक, भोपाल, म० प्र०;।

23. **तत्त्वार्थसूत्रः**– सम्पादक–कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री; भारतीय दिगम्बर जैन संघ, चौरासी, मथुरा, उ० प्र०; प्रथम संस्करण– फाल्गुन, वी० नि० सं० 2477

24. **तत्त्वार्थसूत्रः**– विवेचनकर्ता– पं० फूलचन्द्र शास्त्री सिद्धान्ताचार्य; श्री गणेश वर्णी दि० जैन शोध संस्थान, नरिया, वाराणसी– 221005 उ० प्र०, द्वितीय संस्करण – 1991 ई०।

25. **तिलोयपण्णत्तीः**– आचार्य यतिवृषभ; श्री भारतवर्षीय दि० जैन महासभा, नई धान मण्डी, कोटा, राज०; संस्करण–1986 ई०।

26. **तीर्थंकर भगवान महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थः**–डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल, पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए–4, बापूनगर, जयपुर, राजस्थान; प्रथम संस्करण– 1974 ई०।

27. **तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परंपरा** (चारों खण्ड):– डॉ० नेमीचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य; श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद, वर्णी भवन, सागर, म० प्र०; प्रथम संस्करण– वी० नि० सं० 2501।

28. **धर्मविलासः**– कविवर द्यानतराय; श्री जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई; प्रथम संस्करण 1914 ई०।

29. **नियमसारः**– आचार्य कुन्दकुन्द; श्री कुन्दकुन्द-कहान दि० जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट, ए–4, बापूनगर, जयपूर, राज०; पंचमावृत्ति–1984 ई०।

30. **पंचास्तिकायसंग्रहः**– आचार्य कुन्दकुन्द; श्री कुन्दकुन्द-कहान दि० जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट; ए–4, बापूनगर, जयपुर, राज०; चतुर्थावृत्ति–1984 ई०।

31. **पं० टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्वः**– डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल; पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए–4, बापूनगर, जयपुर राज०; द्वितीय संस्करण– अक्टूबर 1984 ई०।

32. **परमात्मप्रकाशः**– योगीन्दुदेव; परमश्रुत–प्रभावक मंडल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, बोरिया, गुज०; पंचम संस्करण–1988 ई०।

33. **पल्लवः**– सुमित्रानंदन पन्त; राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; आठवाँ संस्करण–1967 ई०।

34. **पार्श्वदास पदावली:**– संपादक व शोधकर्ता–डॉ० गंगाराम गर्ग; प्रकाशक–दिगम्बर जैन समाज, अमीरगंज, टोंक, राज०; प्रथम संस्करण–1972 ई०।

35. **पार्श्वनाथचरित का समीक्षात्मक अध्ययनः**– जयकुमार जैन; जैनधर्म प्रचार–समिति, 104, द्वारिकापुरी, मुज़फ़्फरनगर, उ० प्र०; प्रथम संस्करण।

36. **पुण्यास्रवकथाकोशः**– रामचन्द्र मुमुक्षु; अनुवाद–नाथूराम प्रेमी; प्रकाशक– हिन्दी जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय, चन्दावाड़ी, गिरगाँव,बम्बई; द्वितीय संस्करण– कार्तिक सं० 1973।

37. **पुण्यास्रवकथाकोशम्**:– रामचन्द्र मुमुक्षु; प्रकाशक–गुलाबचन्द हीराचन्द दोशी, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, महा०; संस्करण–1964 ई०।

38. **पुरुषार्थसिद्धयुपायः**– आचार्य अमृतचन्द्र; भाषाटीका–पं० टोडरमल; अनुवादक–वैद्य गम्भीरचन्द जैन; श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, सौराष्ट्र; द्वितीयावृत्ति– वि० स० 2035।

39. **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय** (भाषाटीका-सहित):– मूलकर्ता आचार्य अमृतचन्द्र; जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, 161/1 हरीसन रोड, कलकत्ता; संस्करण– अनुल्लिखित।

40. **प्रकाशित जैन साहित्यः**– ज्योतिप्रसाद जैन; जैनमित्र मण्डल, धर्मपुरा, दिल्ली; प्रथमावृत्ति– जून 1958 ई०।

41. **प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँः**– डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; प्रथम संस्करण– फरवरी 1975 ई०।

42. **प्रेमदर्शन** (देवर्षि नारद विरचित भक्तिसूत्र):– हनुमान प्रसाद पौद्दार; गीता प्रेस, गोरखपुर; बीसवाँ संस्करण, वि० सं० 2050।

43. **बुद्धिविलासः**– बखतराम शाह ; राज० प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, राज० ; प्रथमावृति 1964 ई०।

44. **ब्रजभाषा गद्य का विकासः**– डॉ० जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल; वर्तिका प्रकाशन, 6/240, बेलनगंज, आगरा; द्वितीय संस्करण–1985 ई०।

45. **ब्रह्मविलासः**– भैया भगवतीदास; जैन ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई; संस्करण–1926 ई०।

46. **भारतेन्दु की गद्य-भाषाः**– डॉ० ब्रजकिशोर पाठक; वोरा एण्ड कम्पनी पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, 17ए, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–1; प्रथम संस्करण–1968 ई०।

47. **भारतेन्दु-पूर्व हिन्दी-गद्यः**–डॉ० चन्द्रदेव कवडे; पुस्तक संस्थान, 109/50ए, नेहरु नगर, कानपुर, उ० प्र०; प्रथम संस्करण–1975 ई०।

48. **भावना द्वात्रिंशतिका** ('बृहज्जिनवाणी-संग्रह' के अंतर्गत प्रकाशित):–संपादक– डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल; पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, बापूनगर, जयपुर, राज०; संस्करण– 1992 ई०।

49. **महाकवि दौलतराम कासलीवाल – व्यक्तित्व एवं कृतित्वः**– डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल; प्रकाशक–मंत्री, प्रबन्धकारिणी कमेटी, दि० जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी, महावीर भवन, चौड़ा रास्ता, जयपुर, राज०; प्रथम संस्करण–जून 1972 ई०।

50. **महावीराष्टक के अमर शिल्पी पं० भागचन्द्रजीः**– मिश्रीलाल जैन एवं राहुल जैन; प्रकाशक–श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, 55, शीतला माता बाजार, इन्दौर, मध्यप्रदेश; प्रथमावृत्ति–जनवरी 1988 ई०।

51. **मोक्षमार्गप्रकाशकः**– पं० टोडरमल; सस्ती ग्रन्थमाला कमेटी, श्री दि० जैन मन्दिर नया, धर्मपुरा, देहली; चतुर्थ संस्करण– 2022 वि० सं०।

52. **रत्नकरण्ड – श्रावकाचारः**– आचार्य समन्तभद्र; टीकाकार–पं० सदासुख कासलीवाल; दि० जैन समाज, माधोराजपुर, जयपुर, राज०; संस्करण–2027 वि० सं०।

53. **राजपूताने का इतिहास** (भाग 1):– श्री जगदीश सिंह गहलोत; हिन्दी–साहित्य–मंदिर, घंटाघर, जोधपुर, राज०; प्रथम संस्करण– आषाढ़ 1994 वि० सं०।

54. **राजपूताने का इतिहास** (भाग 2):– डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा; प्रकाशक– गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, अजमेर, राज०; प्रथम संस्करण–1998 वि० सं०।

55. **राजस्थान का इतिहासः**– बी० एल०. पानगड़िया; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 23, दरियागंज, नई दिल्ली–110002; प्रथम संस्करण–1982 ई०।

56. **राजस्थान का इतिहासः**– कर्नल टॉड; आदर्श हिन्दी पुस्तकालय, इलाहाबाद, उ०प्र०; संस्करण– 1962 ई०।

57. **राजस्थान का जैन साहित्यः**– सम्पादक–अगरचन्द नाहटा, कस्तूरचन्द कासलीवाल, नरेन्द्र भानावत, मूलचन्द सेठिया एवं महामहोपाध्याय विनयसागर; प्रकाशक–प्राकृत भारती, जयपुर; संस्करण–1977 ई०।

58. **राजस्थान के जैन शास्त्र-भण्डारों की सूची** (पाँचों भाग):– सम्पादक–डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल और पंडित अनूपचन्द न्यायतीर्थ; प्रकाशक–श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी, राजस्थान; प्रथम संस्करण, वीर निर्वाण सं० 2475 से 2498।

59. **राजस्थानी साहित्य का इतिहासः**– डॉ० पुरुषोत्तमलाल मेनारिया; यूनिक ट्रेडर्स, चौड़ा रास्ता, जयपुर,राज०; प्रथम संस्करण–1987 ई०।

60. **राजस्थानी साहित्य : कुछ प्रवृत्तियाँः**– डॉ० नरेन्द्र भानावत; रोशनलाल जैन एण्ड संस, बोरड़ी का रास्ता, जयपुर; संस्करण–1965 ई०।

61. **वसुनन्दि-श्रावकाचारः**– आचार्य वसुनन्दि; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, लोधी रोड, नई दिल्ली;

62. **विनती संग्रहः**– प्रकाशक–दुलीचन्द पन्नालाल परवार, जिनवाणी-प्रचारक कार्यालय 83, लोश्वर चीतपुर रोड, कलकत्ता; चौथा संस्करण–वैशाख 1985 वि० सं०।

63. **शास्त्र सार समुच्चयः**– माघनन्दि आचार्य; अनुवादक–आचार्य देशभूषणजी; प्रकाशक–प्रतापसिंह मोटरवाले, भूवलय ग्रंथराज प्रकाशन समिति, जैनमित्र मंडल, धर्मपुरा, दिल्ली; वीरनिर्वाण सं० 2484।

64. **शास्त्र सार समुच्चय** :– माघनन्दि आचार्य; भाषाटीकाकार–राजवैद्य सीतलप्रसाद; प्रकाशक–आयुर्वेदीय औषध भण्डार, जौहरी बाजार, दिल्ली; वीर निर्वाण सं० 2450।

65. **श्रीमद्भागवत** : महर्षि वेदव्यास; चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, जवाहरनगर, दिल्ली–11007।

66. **षटखंडागम परिशीलनः**– पं० बालचन्द्र शास्त्री; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली–3; प्रथम संस्करण–1987 ई०।

67. **षड्दर्शनसमुच्चयः**– हरिभद्रसूरि; संपादक–डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली; तीसरा संस्करण–1989 ई०।

68. **संक्षिप्त वीर विनोदः**– संपादक– मथुरालाल शर्मा व बेनी गुप्ता, राजस्थानी ग्रंथागार, सोजती गेट के बाहर, जोधपुर, राज०; प्रथम संस्करण– अक्षयतृतीया–1985 वि० सं०।

69. **संस्कृत-साहित्य का इतिहास** (प्रथम भाग):– आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा संस्थान, रवीन्द्रपुरी, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी, उ० प्र०; संस्करण–1973 ई०।

70. **समयसार**:– आचार्य कुन्दकन्द; श्री कुन्दकुन्द–कहान दि० जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, ए–4, बापूनगर, जयपुर, राज०; अष्टमावृत्ति–नवम्बर 1986 ई०।

71. **समयसार नाटक**:– कविवर पं० बनारसीदास; श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, सौराष्ट्र, गुजरात; चतुर्थावृत्ति–2035 वि० सं०।

72. **समाधिमरण-स्वरूप**:– सम्पादक–भंवरलाल पोल्याका; जैन विद्या संस्थान, दि० जैन अतिशय क्षेत्र, श्री महावीरजी–322220, राज०; प्रथम संस्करण–मार्च 1991 ई०।

73. **सर्वार्थसिद्धि-वचनिका**:– पं० जयचन्द छाबड़ा; जिनेन्द्र प्रेस, कोल्हापुर, महाराष्ट्र।

74. **सारसमुच्चय**:– कुलभद्राचार्य; टीकाकार–ब्र० सीतलप्रसाद; प्रकाशक–पन्नालाल जैन आर्चीटेक्ट, 4783, शिवनगर, करोल बाग, नई दिल्ली–110005; द्वितीयावृत्ति– 1966 ई०।

75. **सुन्दर ग्रन्थावली**:– संपादक–पुरोहित हरिनारायण; राजस्थान रिसर्च सोसायटी, 27, वाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता; संस्करण–1993 वि० सं०।

76. **सुमित्रानन्दन पन्त की भाषा**:– डॉ० उषा दीक्षित, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली, प्रथम संस्करण–1983 ई०।

77. **हरिवंशपुराण**:– आचार्य जिनसेन; सम्पादन–अनुवाद– पं० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य; भारतीय ज्ञानपीठ, लोदी रोड, नई दिल्ली–3; तीसरा संस्करण–1994 ई०।

78. **हिन्दी-गद्य का विकास**:– डॉ० प्रेमप्रकाश गौतम, अनुसन्धान प्रकाशन, आचार्य नगर, कानपुर, उ० प्र०; संस्करण–1966 ई०।

79. **हिन्दी-जैन-काव्य-प्रवृत्तियाँ**:– डॉ० पुष्पलता जैन; सन्मति विद्यापीठ, न्यू एक्सटेंशन एरिया, सदर, नागपुर, महाराष्ट्र; द्वितीय संस्करण–जनवरी 1985।

80. **हिन्दी-जैन भक्ति काव्य और कवि**:– डॉ० प्रेमसागर जैन; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, लोदी रोड, नई दिल्ली; प्रथम संस्करण–1964 ई०।

81. **हिन्दी-जैन-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास**:– कामताप्रसाद जैन; भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुंड रोड, बनारस सिटी; प्रथम संस्करण –फरवरी 1947

82. **हिन्दी-जैन साहित्य परिशीलन** (भाग 1 व 2):– श्री नेमिचन्द्र शास्त्री; भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्रथम संस्करण–1956 ई०।

83. **हिन्दी साहित्य** (द्वितीय खण्ड):– संपादक– डॉ० धीरेन्द्र एवं ब्रजेश्वर वर्मा; संस्करण– वि० सं० 2015।

84. **हिन्दी-साहित्य का आदर्श इतिहास**:– डॉ० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'।

85. **हिन्दी-साहित्य का इतिहास**:– रामचन्द्र शुक्ल; नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी; सोलहवाँ संस्करण–वि० सं० 2025।

86. **हिन्दी-साहित्य का इतिहास**:– सम्पादक–डॉ० नगेन्द्र; सह सम्पादक– डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 23, दरियागंज, नई दिल्ली–110002; संस्करण–1985 ई०।

87. **हिन्दी-साहित्य का वृहद् इतिहास** (षष्ठ भाग):– डॉ० नगेन्द्र; नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी; प्रथम संस्करण–2015 वि० सं०।

(ग) कोश-ग्रन्थ:-

1. **उर्दू-हिन्दी-शब्दकोश**:– मुहम्मद मुस्तफा खां 'मुद्दाह', उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ, उ० प्र०; पञ्चम संस्करण–1982 ई०।

2. **कहावत-कोश**:– डॉ० भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव' एवं विक्रमादित्य मिश्र; बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, बिहार; प्रथमावृत्ति–1965 ई०।

3. **जैनागमकथाकोश** (गुजराती):– लेखक एवं प्रकाशक–जीवनलाल छगनलाल संघवी, पंच माईनी पोल, अहमदाबाद, गुज०; प्रथमावृत्ति– चैत्र शुक्ला 8, वि० सं० 1993।

4. **जैनेन्द्र सिद्धांत कोश** (चारों भाग):– क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, लोदी रोड, नई दिल्ली–3; द्वितीय संस्करण–क्रमशः 1985, 1986, 1987 व 1988 ई०।

5. **पुराण-सन्दर्भ-कोश**:– पद्मिनी मेनन; लाल भवन, चौड़ा रास्ता, जयपुर, राज० के ग्रन्थालय में उपलब्ध है, किन्तु प्रारंभिक पृष्ठ फटे हुये हैं।

6. **पौराणिक कोश**:– राणाप्रसाद शर्मा; ज्ञानमण्डल लिमिटेड, संत कबीर मार्ग, वाराणसी, उ०प्र०; द्वितीय संस्करण–1986 ई०।

7. **भारतीय साहित्यशास्त्र-कोश**:– डॉ० राजवंश सहाय 'हीरा'; बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, बिहार; प्रथम संस्करण–1973 ई०।

8. **लोकोक्ति एवं मुहावरा कोश**:– डॉ० हरदेव बाहरी एवं डॉ० श्यामलाकान्त वर्मा; विद्या प्रकाशन मंदिर, नई दिल्ली–2; संस्करण–1991 ई०।

9. **संक्षिप्त हिन्दी-शब्दसागर**:– मूल सम्पादक– रामचन्द्र वर्मा, नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी, उ० प्र०; नवम संस्करण–1987 ई०।

10. **संतमत बानी शब्दकोश**:– प्रकाशक–राधास्वामी ट्रस्ट, स्वामी बाग, आगरा, उ० प्र०; तृतीय संस्करण 1992 ई०।

11. **संस्कृत-हिन्दी-कोश**:– वामन शिवराम आप्टे; मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली; द्वितीय संस्करण–1987 ई०।

12. **साहित्यिक ब्रजभाषा-कोश**:– प्रधान सम्पादक–विद्यानिवास मिश्र; उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, उ० प्र०; प्रथम संस्करण– 1989–90।

13. **हिन्दी-साहित्य कोश** (भाग 1 व 2):– प्रधान सम्पादक–धीरेन्द्र वर्मा; ज्ञानमण्डल लिमिटेड, संत कबीर मार्ग, वाराणसी, उ०प्र०; संस्करण– क्रमशः तृतीय व द्वितीय, 1985 एवं 1986 ई०।

(घ) पत्र-पत्रिकाएँ:-

1. **अनेकान्त** (मासिक):– सम्पादक– पद्मचन्द शास्त्री; 21, वीर सेवा मंदिर, दरियागंज, नई दिल्ली।

2. **जैन सिद्धान्त भास्कर** (वार्षिक):– प्रधान संपादक– डॉ० राजाराम जैन; श्री देव कुमार जैन ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, आरा, बिहार–802301।

3. **तीर्थंकर** (मासिक):– सम्पादक– नेमिचन्द्र जैन; 65, पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर–1, म० प्र०।

4. **महावीर जयन्ती स्मारिका** (वार्षिक):– सम्पादक– पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ; राजस्थान जैन सभा, जयपुर, राज०; ई० सन् 1963, 1964, 1973 व 1978 के अंक।

5. **राजस्थान-पत्रिका** (दैनिक):– केशरगढ, जवाहरलाल नेहरू मार्ग, जयपुर, राज०; से प्रकाशित। दि० 28 सितम्बर से 3 अक्टूबर, सन् 1990 ई० के अंक।

6. **वीर वाणी** (पाक्षिक):– सम्पादक–डॉ० भँवरलाल न्यायतीर्थ; वीर प्रेस, मणिहारों का रास्ता, जयपुर, राज०।

7. **श्री टोडरमल जयन्ती स्मारिका**:– संपादक–पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ, पं० फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री आदि; प्रकाशक– श्री टोडरमल स्मारक महोत्सव कमेटी, जयपुर, राज०; मार्च 1967 ई०।

8. **हितैषी** (मासिक):– जयपुर–विशेषांक; सम्पादक–दयाशंकर पाठक; जयपुर, राज०; जुलाई 1940 ई०।

□□□